Government Oriental Library Series.

BIBLIOTHECA SANSKRITA—No. 31.

माधवीया धातुवृत्तिः.

THE

DHÁTUVṚITTI

OF

MADHAVACHARYA.

Vol. II.—Part II.

EDITED BY

A. MAHA'DEVA S'A'STRI, B.A.,
Curator, Government Oriental Library, Mysore,

AND

PANDITARATNAM K. RANGA'CHA'RYA,
First Pandit, Government Oriental Library, Mysore.

Published under the Authority of the Government of
His Highness the Maharaja of Mysore.

MYSORE:
PRINTED AT THE GOVERNMENT BRANCH PRESS.
1903.

Price Rs. 2.

विषयसूचिका.

स्वादयः.

धातवः.	पुटसङ्ख्या.
षुञ् अभिषवे	... १
षिञ् बन्धने .	... ४
शिञ् निशाने	... ६
डु मिञ् प्रक्षेपणे	... ,,
चिञ् चयने ..	... ८
स्तृञ् आच्छादने	... ११
कृञ् हिंसायाम्	... १२
वृञ् वरणे ..	... १३
धुञ् कम्पने ..	... १७
टु दु उपतापे .	... १९
हि गतौ वृद्धौ च	... ,,
पृ प्रीतौ ..	... २२
स्पृ प्रीतिपालनयोः	... ,,
आप्लृ व्याप्तौ	... २३
शक्लृ शक्तौ ..	... २५
राध साध संसिद्धौ	... २६
अशू व्याप्तौ सङ्घाते च	२७
ष्टिघ आस्कन्दने	... ३१
तिक तिग च	... ,,
षघ हिंसायाम्	... ३२
ञि धृषा प्रागल्भ्ये	... ,,
दम्भु दम्भे ..	... ३४
ऋधु वृद्धौ ..	... ३५
अह व्याप्तौ ..	... ३६
दघ घातने पालने च	... ,,
चमु भक्षणे ..	... ,,
रिक्षि चिरि जिरि दाश दृ हिंसायाम्	... ३७

तुदादयः.

धातवः.	पुटसङ्ख्या.
तुद व्यथने ..	... ३८
णुद प्रेरणे ..	... ३९
दिश अतिसर्जने	... ४०
भ्रस्ज पाके ..	... ४२
क्षिप प्रेरणे ..	.. ४५
कृष विलेखने	... ४६
ऋषी गतौ ..	... ४८
जुषी प्रीतिसेवनयोः	... ४९
ओ विजी भयचलनयोः	... ५०
ओ लजी ओ लज्जी व्रीडे	५१
ओ व्रश्चू छेदने .	... ५२
व्यच व्याजीकरणे	... ५४
उच्छि उञ्छे ..	... ५५
उच्छी विवासे	... ,,

धातवः.	पुटसङ्ख्या.
ऋच्छ गतिप्रळयेन्द्रियमूर्तिभावेषु ...	५५
मिच्छ उत्क्लेशे	५६
जर्ज चर्च झर्झ परिभाषणसन्तर्जनयोः ..	५७
त्वच संवरणे ..	,,
ऋच स्तुतौ ..	५८
उब्ज आर्जवे ..	५९
उज्झ उत्सर्गे ...	६०
लुभ विमोहने ...	६१
रिफ कत्थनयुद्धनिन्दाहिंसादानेषु ...	,,
तृफ तृम्फ तृप्तौ	६२
तुप तुम्प तुफ तुम्फ हिंसायाम ...	६३
दृफ दृम्फ उत्क्लेशे	,,
ऋफ ऋम्फ हिंसायाम्	६४
गुफ गुम्फ ग्रन्थे	,,
उभ उम्भ पूरणे	,,
शुभ शुम्भ शोभार्थे	६६
दृभी ग्रन्थे ...	,,
चृती हिंसाग्रन्थनयोः	,,
विध विधाने ..	६७
जुड गतौ ..	,,
मृड सुखने ..	६८
पृड च ..	,,
पृण प्रीणने ..	,,
मृण हिंसायाम्	६९
तुण कौटिल्ये	,,

धातवः.	पुटसङ्ख्या.
पुण कर्मणि शुभे	६९
मुण प्रतिज्ञाने ..	७०
कुण शब्दोपकरणयोः	,,
शुन गतौ ..	,,
द्रुण हिंसागतिकौटिल्येषु	,,
घुण घूर्णभ्रमणे ..	७१
षुर ऐश्वर्यदीप्त्योः	,,
कुर शब्दे ..	७२
खुर छेदने ..	,,
मुर परिवेष्टने ..	७३
क्षुर विलेखने..	,,
घुर भीमार्थशब्दयोः	,,
पुर अग्रगमने .	,,
वृहू उद्यमने...	७४
तृहू स्तृहू तृंहू हिंसार्थाः	७५
इष इच्छायाम्	७६
मिष स्पर्धायाम्	७७
किल श्वैत्ये ..	७८
तिल स्नेहने ..	,,
चिल निवसने.	,,
चल विलसने	७९
इल स्वप्नक्षेपणयोः	,,
विल संवरणे .	,,
बिल भेदने ..	८०
णिल गहने ..	,,
हिल भावकरणे	,,
शिल षिल उञ्छे	,,
मिल श्लेषणे ..	,,
लिख अक्षरविन्यासे	८१

धातवः.	पुटसङ्ख्या.
कुट कौटिल्ये	८२
पुट संश्लेषणे	८४
कुच संकोचने	,,
गुज शब्दे	८५
गुड रक्षायाम्	,,
डिप क्षेपे	,,
छुर छेदने	८६
स्फुट विकसने	,,
मुड आक्षेपप्रमर्दनयोः	,,
त्रुट छेदने	,,
तुट कलहकर्मणि	८७
पुट छुट छेदने	,,
जुड बन्धने	,,
कड मदे च	,,
लुठ संश्लेषणे	,,
कृड घनत्वे	८८
कुड बाल्ये	,,
पुड उत्सर्गे	,,
घुट प्रतिघाते	,,
तुड तोडने	८९
थुड स्फुड संवरणे	,,
स्फुर स्फुल सञ्चलने	,,
स्फुड चुड ब्रुड संवरणे	९०
गुरी उद्यमने	९१
णू स्तवने	९२
धू विधूनने	९३
गु पुरीषोत्सर्गे	,,
ध्रु गतिस्थैर्ययोः	,,
कुङ् शब्दे	९४

धातवः.	पुटसङ्ख्या.
पृङ् आयामे	९५
मृङ् प्राणत्यागे	९६
रि पि गतौ	९७
धि धारणे	९८
क्षि निवासगत्योः	,,
षू प्रेरणे	९९
कॄ विक्षेपे	१०१
गॄ निगरणे	१०५
दृङ् आदरे	१०८
धृङ् अवस्थाने	१०९
प्रच्छ ज्ञीप्सायाम्	,,
सृज विसर्गे	१११
टु मस्जो शुद्धौ	११३
रुजो भङ्गे	११४
भुजो कौटिल्ये	११६
छुप स्पर्शे	,,
रुश रिश हिंसायाम्	११७
लिश गतौ	,,
स्पृश संस्पर्शे	,,
विच्छ गतौ	११९
विश प्रवेशने	१२०
मृश आमर्शने	१२१
णुद प्रेरणे	,,
षद्लृ विशरणगत्यवसादनेषु	,,
शद्लृ शातने	१२२
मिल सङ्गमने	,,
मुच्लृ मोक्षणे	,,
लुप्लृ छेदने	१२४

धातवः पुटसङ्ख्या.

विद्लृ लाभे ... १२४

लिप उपदेहे ... १२७

षिच क्षरणे ... ,,

कृती छेदने .. १२९

खिद परिघाते ... ,,

पिश अवयवे ... १३०

रुधादयः.

रुधिर् आवरणे .. १३२

भिदिर् विदारणे ... १३४

छिदिर् द्वैधीकरणे . १३६

रिचिर् विरेचने .. १३७

विजिर् पृथग्भावे .. १३८

क्षुदिर् सम्पेषणे .. ,,

युजिर् योगे .. १३९

उ छृदिर् दीप्तिदेवनयोः १४२

उ तृदिर् हिंसाऽनादरयोः १४३

कृती वेष्टने .. ,,

ञि इन्धी दीप्तौ .. १४४

खिद दैन्ये ... १४५

विद विचारणे ... ,,

शिष्लृ विशेषणे .. १४६

पिष्लृ संचूर्णने .. १४७

भञ्जो आमर्दने ... ,,

भुज पालनाभ्यवहारयोः १४९

तृह हिंसायाम् .. १५१

हिंसि हिंसायाम ... १५२

उन्दी क्लेदने . १५३

धातवः. पुटसङ्ख्या.

अञ्जू व्यक्तिम्रक्षणकान्तिगतिषु ... १५५

तञ्चू सङ्कोचने .. १५७

ओ विजी भयचलनयोः १५८

वृजी वर्जने .. १५९

पृची सम्पर्के .. ,,

तनादयः.

तनु विस्तारे .. १६१

षणु दाने ... १६४

क्षणु हिंसायाम् ... १६५

क्षिणु च .. १६६

ऋणु गतौ .. १६७

तृणु अदने ... १६९

घृणु दीप्तौ . १७०

वनु याचने .. ,,

मनु अवबोधने .. १७१

डु कृञ् करणे .. ,,

क्र्यादयः.

डु क्रिञ् द्रव्यविनिमये .. १८९

प्रीञ् तर्पणे कान्तौ च १९१

श्रीञ् पाके ... १९२

मीञ् हिंसायाम .. ,,

षिञ् बन्धने .. १९३

स्कुञ् आप्रवणे .. ,,

युञ् बन्धने .. १९५

क्नूञ् शब्दे .. ,,

धातवः.	पुटसङ्ख्या.
दृञ् हिंसायाम्	.. १९६
पूञ् पवने	.. ,,
लूञ् छेदने	.. १९७
स्तृञ् आच्छादने	.. ,,
कृञ् हिंसायम्	... १९९
वृञ् वरणे	.. ,,
धूञ् कम्पने	... २००
शॄ हिंसायाम्	... २०१
पॄ पालनपूरणयोः	२०४
स्पॄ हिंसायाम्	.. ,,
वॄ वरणे	.. २०५
भॄ भर्त्सने	.. ,,
मॄ हिंसायाम्	.. ,,
दॄ विदारणे	.. २०६
जॄ वयोहानौ	.. ,,
नॄ नये	.. २०७
कॄ हिंसायाम्	.. ,,
ॠ गतौ	.. ,,
गॄ शब्दे	... २०८
ज्या वयोहानौ	... २०९
री गतिरेषणयोः	.. २१०
ली श्लेषणे	.. २११
व्ली वरणे	.. ,,
प्ली गतौ	.. २१२
व्री वरणे	.. ,,

धातवः.	पुठसङ्ख्या.
भ्री भये	.. २१३
क्षीष् हिंसायाम्	.. ,,
ज्ञा अवबोधने	.. ,,
बन्ध बन्धने	.. २१६
वृङ् सम्भक्तौ	.. २१८
श्रन्थ विमोचनप्रतिहर्षयोः	,,
मन्थ विलोडने	.. २२०
ग्रन्थ सन्दर्भे	... ,,
कुन्थ संश्लेषणे	... ,,
मृद क्षोदे	. २२१
मृड च	... ,,
गुध रोषे	.. २२२
कुष निष्कर्षे	... ,,
क्षुभ सञ्चलने	.. २२३
णभ तुभ हिंसायाम्	.. २२४
क्लिशू विबाधने	.. ,,
अश भोजने	... २२५
उ ध्रस उञ्छे	.. २२६
इष आभीक्ष्ण्ये	.. २२७
विष विप्रयोगे	.. २२८
प्रुष प्लुष स्नेहनसेवनसेचनेषु	... २२९
पुष पुष्टौ	.. ,,
मुष स्तेये	.. ,,
खच भूतप्रादुर्भावे	... २३०
ग्रह उपादाने	... २३१

चुरादयः.

चुर स्तेये	२३६

धातवः.	पुटसङ्ख्या.
चिति स्मृत्याम्	२३९
यत्रि संकोचने	२३९
स्फुडि परिहासे	२४०
लक्ष दर्शनाङ्कनयोः	,,
कुद्रि अनृतभाषणे	,,
लड उपसेवायाम्	२४१
मिदि स्नेहने	,,
ओलडि उत्क्षेपणे	,,
जल अपवारणे	,,
पीड अवगाहने	२४२
नट अवस्पन्दने	,,
श्रथ प्रयत्ने	,,
बध संयमने	२४३
पॄ पूरणे	,,
ऊर्ज बलप्राणनयोः	,,
पक्ष परिग्रहे	२४४
वर्ण चूर्ण प्रेरणे	,,
प्रथ प्रख्याने	,,
पृथ प्रक्षेपे	,,
षम्ब सम्बन्धने	,,
भक्ष अदने	२४५
कुट्ट छेदनभर्त्सनयोः	,,
पुट्ट चुट्ट अल्पीभावे	,,
अट्ट षुट्ट अनादरे	२४६
लुण्ट स्तेये	,,
शठ श्वठ असंस्कारगत्योः	,,
तुजि पिजि हिंसाबलादाननिकेतनेषु	२४७

धातवः.	पुटसङ्ख्या.
पिस गतौ	२४७
षान्त्व सामप्रयोगे	,,
श्वल्क वल्क परिभाषणे	,,
ष्णिह स्नेहने	२४८
स्मिट अनादरे	,,
श्लिष श्लेषणे	,,
पति गतौ	,,
पिच्छ कुट्टने	२४९
छदि संवरणे	,,
श्रण दाने	,,
तड आघाते	,,
खड खडि कडि भेदने	,,
कुडि रक्षणे	२५०
गुडि वेष्टने	,,
खुडि खण्डने	,,
वटि विभाजने	,,
मडि भूषायां हर्षे च	२५१
भडि कल्याणे	,,
छर्द वमने	,,
पुस्त बुस्त आदरानादरयोः	,,
चुद सञ्चोदने	,,
नक्क धक्क नाशने	२५२
चक्क चुक्क व्यथने	,,
क्षल शौचकर्मणि	,,
तल प्रतिष्ठायाम्	,,
तुल उन्माने	,,
दुल उत्क्षेपे	२५३
पुल महत्त्वे	,,

धातवः	पृष्ठसङ्ख्या.
चुल समुच्छ्राये ..	२५३
मूल रोहणे ..	२५४
कल विल क्षेपे ..	,,
बिल भेदने ..	,,
तिल स्नेहने ..	,,
चल भृतौ ..	,,
पाल रक्षणे ..	२५५
लूष हिंसायाम् ..	,,
शुल्ब माने ..	,,
चुट छेदने ..	,,
मुट संचूर्णने ...	,,
पडि पसि नाशने ...	,,
व्रज मार्गसंस्कारगत्योः ..	२५६
शुल्क अतिसर्जने ..	,,
चपि गत्याम् ..	,,
क्षपि क्षान्त्याम् ..	,,
क्षजि कृच्छ्रजीवने ...	,,
श्वर्त गत्याम् ..	२५७
श्वभ्र च ..	,,
ज्ञपु मिच्च ..	,,
यम च परिवेषणे ..	२५९
चह परिकल्कने ...	२६०
रह त्यागे ..	,,
बल प्राणने ..	२६१
चिञ् चयने ..	,,
घट्ट चलने ...	,,
अस्त संघाते ...	२६२
खट्ट संवरणे ..	,,
षट्ट स्फिट्ट चुबि हिंसायाम्	,,

धातवः	पृष्ठसङ्ख्या.
पूल सङ्घाते ..	२६२
पुंस अभिवर्धने ..	,,
टकि बन्धने ..	२६३
धूस कान्तिकरणे ..	,,
कीट वर्णे ..	,,
चूर्ण संकोचने ..	,,
पूज पूजायाम् ..	,,
अर्क स्तवने ..	२६४
शुठ आलस्ये ..	,,
शुठि शोषणे ..	,,
जुड प्रेरणे ..	,,
गज मार्ज शब्दार्थौ ..	,,
घृ प्रस्रवणे ...	२६५
पचि विस्तारवचने ..	,,
तिज निशातने ..	,,
कृत संशब्दने ..	,,
वर्ध छेदनपूरणयोः ..	२६७
कुबि छादने ...	,,
लुबि तुबि अदर्शने ..	,,
ह्लप व्यक्तायां वाचि ..	,,
चुटि छेदने ..	,,
इल प्रेरणे ..	२६८
म्रक्ष म्लेच्छने ..	,,
म्लेच्छ अव्यक्तायां वाचि	,,
ब्रूस बर्ह हिंसायाम् ...	,,
गुर्द पूर्वनिकेतने ..	२६९
जसि रक्षणे ..	,,
ईड गतौ ...	,,
जसु हिंसायाम् ...	,,

धातवः	पृष्ठसङ्ख्या.
पिडि सङ्घाते	.. २७०
रुष रोषे	.. ,,
डिप क्षेपे	.. ,,
ष्टूप समुच्छ्राये	.. ,,
चित संचेतने	.. ,,
दशि दंशने	. २७१
दसि दर्शनदंशनयोः	.. ,,
डप डिप सङ्घाते	.. ,,
तत्रि कुटुम्बधारणे	... २७२
मत्रि गुप्तभाषणे	.. ,,
स्पश ग्रहणसंश्लेषणयोः	.. ,,
तर्ज भर्त्स संतर्जने	... ,,
बस्त गन्ध अर्दने	.. ,,
किष्क हिंसायाम्	.. ,,
निष्क परिमाणे	... ,,
लल ईप्सायाम	... २७३
कूण संकोचने	.. ,,
तूण पूरणे	.. ,,
भ्रूण आशायाम्	.. ,,
शठ श्लाघायाम्	.. २७४
यक्ष पूजायाम्	.. ,,
स्यम वितर्के	.. ,,
गूर उद्यमने	.. ,,
शम लक्ष आलोचने	.. ,,
कुत्स अवक्षेपणे	... ,,
त्रुट छेदने	.. ,,
गल स्रवणे	.. २७५
भल आभण्डने	.. ,,
कूट अप्रदाने	.. २७५
कुट्ट प्रतापने	.. ,,
वञ्चु प्रलम्भने	.. ,,
वृष शक्तिबन्धने	. २७६
मद तृप्तियोगे	.. ,,
दिवु परिकूजने	. २७७
गॄ विज्ञाने	.. ,,
विद चेतनाख्याननिवासेषु	.. ,,
मन स्तम्भे	.. २७८
यु जुगुप्सायाम्	.. ,,
कुस्म नाम्नो वा	. ,,
चर्च अध्ययने	... २७९
बुक्क भाषणे	.. २८०
कण निमीलने	.. ,,
जभि नाशने	.. ,,
षूद क्षरणे	.. २८१
जसु ताडने	.. ,,
पश बन्धने	.. ,,
अम रोगे	.. ,,
चट स्फुट भेदने	.. २८२
घट सङ्घाते	.. ,,
दिवु मर्दने	.. २८३
अर्ज प्रतियत्ने	.. ,,
घुषिर् विशब्दने	... ,,
आङः क्रन्दसातत्ये	.. २८४
लस शिल्पयोगे	... ,,
तसि भूष अलङ्कारे	... २८५
मोक्ष आसने	... ,,

धातवः. पुटसङ्ख्या.

अर्ह पूजायाम् ... २८५
ज्ञा नियोगे .. ,,
भज विश्राणने ... ,,
शृधु प्रसहने ... २८६
यत निकारोपस्कारयोः . ,,
वस स्नेहनच्छेदनापहरणेषु ... ,,
चर संशये .. २८७
च्यु सहने .. ,,
भुवो कल्कने .. ,,
रक लग आस्वादने .. २८८
अञ्चु विशेषणे .. ,,
लिगि चित्रीकरणे ... ,,
मुद संसर्गे .. ,,
त्रस धारणे ... ,,
उ ध्रस उञ्छे .. २८९
मुच प्रमोचने ... ,,
ग्रस ग्रहणे .. २९०
पुष धारणे ... ,,
दल विदारणे ... ,,
पट पुट लुट तुजि मिजि पिजि लुजि भजि लघि त्रसि पिसि कुसि दसि कुशि घट घटि बृहि बर्ह बल्ह गुप धूप विच्छ चीव पुथ लोकृ लेचृ णद कुप तर्क वृतु वृधु भाषार्थाः .. ,,
रुट लजि अजि दसि भृशि रुशि रुसि शीक नट पुटि जुसि रघि अहि रहि महि ... २९३
पूरी आप्यायने ... २९५
रुज हिंसायाम् ... ,,
ष्वद आस्वादने .. ,,
युज पृच संयमने ... ,,
अर्च पूजायाम् ... २९६
षह मर्षणे .. ,,
ईर क्षेपे .. ,,
ली द्रवीकरणे .. ,,
वृजी वर्जने ... २९७
वृञ् आवरणे .. ,,
जॄ वयोहानौ .. ,,
रिच वियोजनसंपर्चनयोः २९८
शिष असर्वोपयोगे ... ,,
तप दाहे .. ,,
तृप तृप्तौ .. ,,
छृदी सन्दीपने ... २९९
दृभी ग्रन्थे .. ,,
दृभ सन्दर्भे ... ,,
श्रथ मोक्षणे .. ३००
मी गतौ ... ,,
ग्रन्थ बन्धने ... ,,
शीक मर्षणे .. ,,
चीक च .. ३०१
अर्द हिंसायाम् .. ,,
हिसि हिंसायाम् .. ,,
आङः षदः पद्यर्थे .. ,,

धातवः	पुटसङ्ख्या.
शुन्ध शौचकर्मणि ..	२०२
छद अपवारणे ...	,,
जुष परितर्कणे ..	,,
धूस् कम्पने ..	,,
प्रीञ् तर्पणे ...	३०३
श्रन्थ ग्रन्थ सन्दर्भे ..	,,
आप्लृ लम्भने ..	,,
तनु श्रद्धोपकरणयोः ..	,,
वद सन्देशवचने ..	३०४
वच परिभाषणे ..	,,
मान पूजायाम् ..	,,
भू प्राप्तौ आत्मनेपदी ...	३०५
गर्ह निन्दने ...	,,
मार्ग अन्वेषणे ..	,,
कठि शोके ...	,,
मृजू शौचालङ्कारयोः ..	,,
मृष तितिक्षायाम् ...	,,
धृष प्रसहने ..	,,
कथ वाक्यप्रबन्धे ..	३०७
वर ईप्सायाम् ..	,,
गण संख्याने ...	,,
शठ श्वठ सम्यगवभाषणे ...	३०८
पट वट ग्रन्थे ..	,,
रह त्यागे ..	,,
स्तनगदी देवशब्दे ..	,,
पत गतौ वा ..	३०९
पष अनुपसर्गात् ...	३१०
स्वर आक्षेपे ...	,,

धातवः.	पुटसङ्ख्या.
रच प्रतियत्ने ..	३१०
कल गतौ संख्याने च ..	,,
चह परिकल्कने ..	,,
मह पूजायाम् ..	३११
सार कृप श्रथ दौर्बल्ये.	,,
स्पृह ईप्सायाम् ..	,,
भाम क्रोधे ...	,,
सूच पैशुन्ये ..	,,
खेट भक्षणे ..	३१२
क्षोट क्षेपे ...	,,
गोम उपलेपने ..	,,
कुमार क्रीडायाम् ...	,,
शील उपधारणे ...	,,
साम सान्त्वप्रयोगे ..	,,
वेल कालोपदेशे ..	३१३
पल्पूल लवनपवनयोः ...	,,
वात सुखसेवयोः ...	,,
गवेष मार्गणे ..	,,
वास उपसेवायाम् ...	,,
निवास आच्छादने ...	,,
भाज पृथक्कर्मणि ..	३१४
सभाज प्रीतिदर्शनयोः ...	,,
ऊन परिहाणे ..	,,
ध्वन शब्दे ..	,,
कूट परिहासे ...	,,
सङ्केत ग्राम कुण गुण चामन्त्रणे ..	३१५
स्तेन चौर्ये ..	,,
पद गतौ ...	,,

धातवः.	पुटसङ्ख्या.
गृह ग्रहणे ...	३१५
मृग अन्वेषणे ...	३१६
कुह विस्मापने ...	„
शूर वीर विक्रान्तौ ..	„
स्थूल परिबृंहणे ..	„
अर्थ उपयाच्ञायां ..	„
सत्र सन्तानक्रियायाम् ..	३१७
गर्व माने ...	„
सूत्र वेष्टने ..	„
मूत्र प्रस्रवणे ..	„
रूक्ष पारुष्ये ..	„
पार तीर कर्मसमाप्तौ ..	„
पुट संसर्गे ...	„
कत्र शैथिल्ये ..	३१८
बष्क दर्शने ..	३२०
चित्र चित्रकरणे ...	„
अंस समाघाते ..	„
वट विभाजने ..	„
जंल प्रकाशे ..	„
मिश्र संपर्के ..	३२१
संग्राम युद्धे ..	„
स्तोम श्लाघायाम् ...	३२२
छिद्र कर्णभेदने ..	„
अन्ध दृष्ट्युपघाते ..	„
दण्ड दण्डनिपातने ..	„
अङ्क पदे लक्षणे च ..	„
अङ्ग च ..	३२३
सुख दुःख तत्क्रियायाम् ..	„
रस आस्वादनस्नेहनयोः	„

धातवः.	पुटसङ्ख्याय.
व्यय वित्तसमुत्सर्गे ..	३२३
रूप रूपक्रियायाम् ..	„
छेद द्वैधीकरणे ...	३२४
लाभ प्रेरणे ..	„
व्रण गात्रविचूर्णने ..	„
वर्ण वर्णक्रियाविस्तार-गुणवचनेषु ..	३२४
पर्ण हरितभावे ...	„
विष्क दर्शने ...	„
क्षप प्रेरणे ..	३२५
वस निवासे ...	„
तुत्थ आवरणे ..	„

कण्ड्वादयः.

कण्डूञ् गात्रविघर्षणे ..	३२९
मन्तु अपराधे ..	३३०
वल्गु पूजामाधुर्ययोः ..	„
असु मनस् एतावुपतापे ..	„
लेट् लोट् धौर्त्ये पूर्वभावे स्वप्ने च ..	„
इरस् ईर्ष्यायाम् ...	३३१
इयस् ऐश्वर्ये ..	„
उषस् प्रभातभावे ..	„
वेद धौर्त्ये स्वप्ने प्रभाते च ..	„
मेधा आशुग्रहणे ...	३३२
कुषुभ क्षेपे ..	„
मगध परिवेष्टने ...	„

धातवः.	पुटसङ्ख्या.
तन्तस् पम्पस् दुःखे ...	३३२
सुख दुःख तत्क्रियायाम् ..	३३२
सपर पूजायाम् ...	,,
अररु क्रूरकर्मणि ...	,,
भिषज् चिकित्सायाम् ...	३३३
तिषज उपसेवायाम् ...	,,
इषुध शरधारणे ..	,,
चरण गतौ ...	,,
चुरण चौर्ये ..	,,
तुरण त्वरायाम् ...	,,
भुरण धारणपोषणयोः ..	,,
गद्गद वाक्स्खलने ...	,,
एला केला खेला विलासे ...	३३४
खेला सत्त्वचलने च ...	,,
लिट् अल्पार्थे कुत्सायां च ..	,,
लाट् जीवने ..	,,
हृणीङ् रोषणे लज्जायां च ...	,,
महीङ् पूजायाम् ..	,,
रेखा श्लाघाऽऽसादनयोः.	,,
द्रवस् परितापपरिचरणयोः ...	३३५
तिरस् अन्तर्धौ ..	,,
अगद नीरोगत्वे ...	,,
लेखा	,,
उरस् बलार्थः ..	,,
तरण गतौ ..	३३५
पयस् प्रसृतौ ..	,,
संभूयस् प्रभूतभावे ..	,,

अथ सौत्रधातवः.

ऋतेरीयङ् ..	३३६
स्तन्भु स्तुन्भु स्कन्भु स्कुन्भु स्कुञ्भ्यः श्नुश्च	३३८
सातिः सुखे ..	३४०
जु वेगितायां गतौ ..	३४१

नामधातूनां प्रकृतिभूतनामानि.

पुत्र	३४३
अश्व	,,
क्षीर	,,
वृष	,,
लवण	,,
अशन	,,
उदन्य	,,
धन	,,
गार्ग्य	३४५
उपर्षभ	,,
उपल्कार	,,
उपर्कार	३४६
माल	,,
उस्र	,,
ओङ्कार	३४७

धातवः.	पुटसङ्ख्या.	धातवः	पुटसङ्ख्या.
ओढ ...	.. ३४७	ककुभ् ..	... ३५०
एत ...	... ,,	अर्ध् ..	.. ,,
अइर्य ..	... ,,	परिबृढ् ..	... ,,
दधि ..	.. ,,	विलम्ब ...	... ,,
मधु ..	.. ,,	अङ्ग ...	... ,,
कुमार ..	.. ३४८	मृड ...	.. ,,
वधु ...	... ,,	त्वत् ...	.. ,,
अर ..	.. ,,	मत् ...	.. ,,
हे ..	... ,,	अतित्वत् ..	.. ,,
गो ..	.. ,,	अतिमत् ..	.. ३५१
रै ..	... ,,	उञ्छ ..	.. ३५३
ग्लौ ..	... ,,	मव्य ...	.. ,,
श्वलिह् ..	.. ,,	मृध् ...	.. ,,
गोदुह् ..	.. ,,	वाच् ..	.. ,,
मित्रध्रुह् ...	.. ,,	अद् ..	... ,,
उपानह् ..	.. ,,	मरुत् ..	... ,,
अनडुह् ...	.. ,,	शक् ...	.. ,,
पुर् ..	.. ३४९	लुप् ...	.. ,,
खय ...	... ,,	दिश् ...	.. ,,
दिव् ..	.. ,,	पुष् ...	.. ,,
चतुर् ..	... ,,	पयस् ..	.. ,,
गीर् ..	... ,,	पुत्र ...	... ३५४
फल् ..	.. ,,	त्वत् ...	... ,,
यल् ..	.. ,,	मत् ..	... ,,
इदम् ..	.. ,,	युष्मद् ..	.. ,,
प्राण् ...	... ,,	अस्मद् ...	... ,,
राजन् ...	.. ,,	अग्नि ..	... ३५९
अहर् ..	... ,,	उपयद् ...	.. ,,
उज्झ् ...	... ३५०		

धातवः	पुटसङ्ख्या.
वाक्	३५५
पयस्	,,
यशस्	,,
स्वर्	,,
श्री	,,
सर्पिस्	,,
धनुस्	,,
उच्चैस्	,,
गीर्	,,
पुंस्	,,
प्रासाद	३५६
त्वत्	,,
मत्	,,
युष्मत्	,,
अस्मत्	,,
अतित्वत्	३५७
अतिमत	,,
अतियुष्मद्	,,
अत्यस्मद्	,,
श्येन	३५८
काक	,,
ओजस्	,,
अप्सरस्	,,
पयस्	,,
यशस्	,,
अर्चिस्	,,
सर्पिस्	,,
हंस	,,
सारस	,,
त्वत्	३५८
मत्	,,
युष्मद्	,,
अस्मद्	,,
कुमारी	३६०
हरिणी	,,
गौरी	,,
गुर्वी	,,
सपत्नी	३६१
युवती	३६३
पट्वीमृद्वी	,,
पाचिका	,,
मद्रिका	,,
चतुर्थी	,,
स्रौघ्नी	,,
यावती	,,
काण्डलावी	,,
काषायी	३६४
खादिरी	,,
वैयाकरणी	,,
दीर्घकेशी	,,
मृद्वङ्गी	,,
करिणी	,,
औपगवी	,,
इडाबिड्	,,
दरद्	,,
कठी	,,
भृश	३६५

धातवः.	पुटसङ्ख्या.
शीघ्र ..	.. ३६५
चपल ..	.. ,,
मन्द ..	.. ,,
पण्डित ...	.. ,,
रहत् ..	.. ,,
तृप ...	... ,,
वेहत् ...	.. ,,
ओजस् ..	.. ३६६
वर्चस् ..	.. ,,
रोहस् ...	.. ,,
दुर्मनस् ..	... ,,
सुमनस् ..	.. ,,
उत्सुक ...	.. ,,
अभिमनस्	... ,,
शण्ड ..	.. ,,
बृहत् ...	.. ,,
उन्मनस्...	.. ,,
स्वमनस्..	.. ,,
लोहित ..	.. ३६७
पटपट ..	... ,,
निद्रा ...	.. ,,
करुणा ...	... ,,
घर्मन् ...	.. ,,
कष्ट ...	... ३६८
सत्र ..	... ,,
रोमन्थ ...	... ,,
तपस् ..	... ,,
बाष्प ..	.. ,,
ऊष्म ..	.. ,,

धातवः.	पुटसङ्ख्या.
शब्द ..	... ३६९
वैर ...	.. ,,
कलह ..	... ,,
अभ्र ..	... ,,
कण्व ..	.. ,,
मेघ ..	.. ,,
सुदिन ..	.. ,,
दुर्दिन ..	... ,,
नीहार ...	.. ,,
सुख ...	... ,,
नमस् ..	.. ३७०
वरिवस् ..	... ,,
चित्र(ङ्)	.. ,,
पुच्छ ...	... ,,
भाण्ड ...	.. ,,
चीवर ..	.. ,,

णिजन्तधातूनां नामानि.

मुण्ड ...	.. ३७१
मिश्र ...	... ,,
श्लक्ष्ण ..	.. ,,
लवण ..	.. ,,
व्रत ...	.. ,,
वस्त्र ..	.. ३७२
हल ...	.. ३७३
कल ...	.. ,,
कृत ..	.. ,,
तूस्त ...	.. ,,

धातवः.	पुटसङ्ख्या.
सत्य ..	... ३७४
अर्थ ..	.. ,,
वेद ..	... ,,
पाश ..	... ,,
रूप ...	.. ,,
वीणा ..	.. ,,
तूल ...	.. ,,
श्लोक ...	... ,,
सेना ...	... ,,
लोम ...	... ,,
त्वच ...	.. ,,
वर्म ..	.. ,,
वर्ण ...	... ,,
चूर्ण ...	... ,,
एनी ...	.. ३७६
हरिणी ..	.. ,,
लोहिनी ...	... ,,
कुमारी ...	.. ,,
इडबिड् ...	.. ,,
दरद् ..	... ,,
पृथु ..	... ३७८
मृदु ..	.. ३८०
भृश ..	.. ,,
कृश ...	.. ,,
दृढ ...	... ,,
बृढ ..	... ,,
पटु ...	.. ,,
ऊढ ...	... ३८४
कर्तृ ..	.. ,,

धातवः.	पुटसङ्ख्या.
हर्तृ ..	.. ३८४
दोग्धृ ...	... ,,
पितृ ..	.. ,,
त्वाम् ..	... ३८५
माम् ..	... ,,
युवाम् ..	... ,,
आवाम् ..	... ,,
श्वन् ..	... ३८६
विद्वन् ..	... ३८९
उदञ्च् ..	.. ३९०
प्रत्यञ्च् ...	... ,,
सम्यञ्च् ..	.. ,,
तिर्यङ् ..	... ,,
सध्र्यङ्...	.. ३९१
विष्वङ् ...	.. ३९२
विष्वद्र्यङ्	... ,,
देवद्र्यङ्	... ,,
सर्वद्र्यङ्	... ,,
अद्र्यङ् .	.. ,,
त्वद्र्यङ्	.. ३९३
मद्र्यङ्	.. ,,
युष्मद्र्यङ्	.. ,,
अस्मद्र्यङ्	.. ,,
अतित्वदङ्	.. ३९४
अतिमदङ्	.. ,,
कम् ..	.. ,,

धातवः.	पुटसङ्ख्या.
अम् ...	... ३९४
इम् ...	... ,,
उम् ...	... ,,
अरम् ...	... ,,
अलम् ...	... ,,
पू ...	... ,,
लू ...	... ,,
भू ...	... ,,
जू ...	... ,,
भ्रू ...	... ३९७
श्री ...	... ,,
हे ...	... ,,
गो ...	... ,,
रै ...	... ,,
नौ ...	... ,,
स्वश्व ...	... ,,
स्वर् ...	... ३९८
बहु ...	... ,,
स्थूल ...	... ४००
दूर ...	... ,,
युव ...	... ,,
ह्रस्व ...	... ,,
क्षिप्र ...	... ,,
क्षुद्र ...	... ,,
स्रग्विन् ...	... ,,
गोमत् ...	... ,,
मायाविन्	... ४०१

धातवः.	पुटसङ्ख्या.
मेधाविन् ..	.. ४०१
वसुमान् ..	.. ,,
पयस्विन् ..	.. ,,
यशस्विन्	.. ,,
आयुष्मत् ..	.. ,,
रजस्विन् ..	.. ,,
कुमुद्वान् ..	.. ४०२
नड्वान् ..	.. ,,
वेतस्वान् ..	... ,,
युवन् ...	... ४०३
अल्प ...	... ,,
अन्तिक ..	.. ,,
बाढ ...	... ,,
प्रशस्य ..	.. ,,
वृद्ध ..	.. ४०४
प्रिय ..	.. ,,
स्थिर ..	.. ,,
उरु ..	.. ,,
बहुल ..	.. ,,
गुरु ..	.. ,,
वृद्ध ..	.. ,,
तृप्र ...	... ,,
दीर्घ ...	... ,,
वृन्दारक...	... ,,
व्याकरणस्य सूत्र	... ४०५
कंसवध ...	... ४०७
मृगरमण...	... ४१०

धातवः.	पुटसङ्ख्या.
आरात्रिविवास	... ४११
सूर्योद्गमन	... ,,
पुष्ययोग...	... ४१२
अवगल्भ...	... ४१४
क्लीब ...	... ,,
होड ...	... ,,
अश्व ...	... ,,
क ...	... ४१५
अ ...	... ,,
माला ...	... ,,
ज्ञा ...	... ,,
आ ...	... ,,
कवि ...	... ,,
वि ...	... ,,
इ ...	... ४१६
लक्ष्मी ...	... ,,
श्री ...	... ,,
ई ...	... ,,
विधु ...	... ४१७
कु ...	... ,,
उ ...	... ,,

धातवः.	पुटसङ्ख्या.
वधू ...	... ४१७
भ्रू ...	... ,,
पितृ ...	... ४१८
नृ ...	... ,,
भू ...	... ४१९
पा ...	... ,,
पृ ...	... ,,
गम्लृ ...	... ४२०
ऋ ...	... ,,
लृ ...	... ,,
परमहा ...	... ,,
एकार ...	... ,,
ओकार ...	... ,,
परमरै ...	... ,,
परमनौ ...	... ४२१
य ...	... ,,
द्यौ ...	... ,,
फल् ...	... ,,
इदम् ...	... ,,
यङ् ...	... ,,
अण् ...	... ,,

अथ स्वादयः.

षुञ् अभिषवे ॥ १ ॥

प्राग्वृञ एतदादयोऽनुदात्ता उभयतोभाषाः ।

अभिषवस्स्नपनपीडनस्नानसुरासन्धानादिः । तत्र स्नानेऽयमकर्मकः ॥

सुनोति । सुनुतः । सुन्वन्ति । सुनोषि । सुनोमि । सुन्वः, सुनुवः—'स्वादिभ्यः श्नुः' शपोऽपवादः । 'हुश्नुवोस्सार्वधातुके' इत्यजादावगुणविषये श्नोरुकारस्य यण् 'लोपश्चास्यान्यतरस्यां म्वोः' इति वकारमकारादावसंयोगपूर्वत्वात्पक्षे उकारलोपः। सुनोमीत्यत्र तु परत्वाद्गुणे उकाराभावान्नायं लोपः । **अभिषुणोति**—'उपसर्गात्सुनोति' इति षत्वम् ॥

सुषाव । सुषुवतुः । सुषोथ, सुषुविथ । सुषुवथुः । सुषुव । सुषाव, सुषव । सुषुविव । क्रादिनियमादिट् । थलि तु भारद्वाजनियमाद्विकल्पः । उवङ्गुणवृद्धिविषये । **अभिसुषाव**—'स्थादिष्वभ्यासेन' इति नियमादभ्यासस्य न षत्वम् । प्रकृतेस्तु 'आदेशप्रत्यययोः' इति षत्वम् ॥

सोता । **सोष्यति** । अभिसोष्यतीत्यत्र ‘सुनोतेस्स्यसनोः’ इति ‘उपसर्गात्’ इति षत्वं निषिध्यते ॥

सुनोतु । **सुनुतात्**—तातङो ङित्त्वान्न गुणः । **सुनुताम्** । **सुन्वन्तु** । **सुनु**—‘उतश्च प्रत्ययादसंयोगपूर्वात्’ इति हेर्लुक् । **सुनुतात्** । **सुनुतम्** । **सुनुत** । **सुनवानि**—आटि पित्त्वादङित्त्वाद्गणं बाधित्वा परत्वाद्गुणः ॥

असुनोत् । **असुनुताम्** । **असुन्वन्** । **असुनोः** । **असुनवम्** । **असुन्व**, **असुनुव**—पूर्ववदुकारलोपः पक्षे । **अभ्यषुणोत्**—‘प्राक्सितादड्व्यवायेऽपि’ इति षत्वम् ॥

सुनुयात् । **सुनुयाताम्** । **सुनुयुः**—‘जुसि च’ इति गुणः ‘सार्वधातुकमपित्’ इति ङित्त्वाश्रयप्रतिषेधं येननाप्राप्तिन्यायेन बाधते; न तु यासुटो ङित्त्वाश्रयमपीति नात्र गुणः । **सुनुयाः** । **सुनुयाम्** ॥ आशिषि—**सूयात्** । **सूयास्ताम्**—‘अकृत्सर्वधातुकयोः’ इति दीर्घः ॥

असावीत् । **असाविष्टाम्** । **असावीः** । **असाविषं** ‘स्तुसुधूञ्भ्यः परस्मैपदेषु’ इति परस्मैपदेषु सिच इट् ॥

सुनुते । **सुन्वाते** । **सुन्वते** । **सुनुषे** । **सुन्वे** । **सुन्वहे**, **सुनुवहे**—पूर्ववद्यणुकारलोपौ ॥ **सुषुवे** । **सुषुविषे** । **सुषुविढ्वे**, **सुषुविध्वे**—‘विभाषेटः’ । **सुषुवे** । **सुषुविवहे** । **सोता** । **सोष्यते** । **सुनुताम्** । **सुन्वाताम्** । **सुन्वताम्** । **सुनुष्व** ।

सुनवै । सुनवावहै । असुनुत । असुन्वाताम् । असुन्वत । असुनुथाः । असुन्वि । असुन्वहि, असुनुवहि । सुन्वीत । सुन्वीयाताम् । आशिषि—सोषीष्ट । सोषीयास्ताम् । सोषीढ्वम्—'इणष्षीध्वम्' इति मूर्धन्यः । असोष्ट । असोषाताम् । असोष्ठाः, असोषि ॥

सुसूषति, सुसूषते—'स्तौतिण्योरेव' इति नियमान्न षत्वम् ॥ अभिसुसूषतीत्यत्र 'उपसर्गात्' इत्यभ्यासस्य षत्वं स्थादिनियमेन बाध्यते । एवं तर्हि 'सुनोतेस्स्यसनोः' इति सनि षत्वनिषेधस्य किमुदाहरणम्? इदं—सुसूषतेरप्रत्यये अतो लोपे सुसूः इति । अत्र हि सनः षत्वस्यासिद्धत्वात्सस्य रुत्वे, विसर्जनीये, कृतषत्वस्य सनोऽभावात् 'स्तौतिण्योरेव' इति न प्रवर्तते । एकदेशविकृतन्यायेनास्ति सन्परत्वमिति 'सुनोतेस्स्यसनोः' इति निषेधस्तु प्रवर्तते ॥

सोसूयते । सोषवीति, सोषोति । सोषुतः 'उपसर्गात्' इति षत्वम् । 'सुनोतेस्स्यसनोः' इति निषेधश्च श्तिपा निर्देशान्न प्रवर्तते । अभिसोषोति । अभिसोषविष्यति ॥

सोषवीः इति यङ्लुगन्तात्सनीटि गुणावादेशयोः अभाविप्रत्ययेऽतो लोपे पूर्ववत्षत्वस्यासिद्धत्वात्सत्वाद्रुत्वे 'र्वोरुपधायाः' इति दीर्घः ॥

सावयति । असूषवत् । सुषावयिषति । ण्यन्तात्सनि 'स्तौतिण्योः' इति षत्वम् ॥

सुन्वन् । सुन्वानः—शतृशानचौ ॥

राजसूयः—कर्मण्यधिकरणे वा 'राजसूय' इति क्यपि निपात्यते ॥

आसाव्यम्—'आसुयुवपि' इति ण्यति वृद्धौ 'धातोस्तन्निमित्तस्यैव' इत्यावादेशः ॥

सोमं सुतवान् सोमसुत्—'सोमे सुञः' इति भूते क्विप् ॥

सुत्वा । सुत्वानौ—'सुयजोर्ङ्वनिप्' इति भूते ङ्वनिप् । स्त्रियां सुत्वरी—'वनो र च' इति ङीब्रेफौ ॥

सुन्वन् । सुन्वन्तौ—'सुञो यज्ञसंयोगे' इति शता ; अयं अलडादेशः । यजमान उच्यते ॥

सुत्या—'संज्ञायां समज' इत्यादिना स्त्रियां क्यप् ॥

आसुतीवलः—यज्वा, शौण्डिकश्च । क्तिन्नन्तात् 'रजः कृष्या सुति' इति मत्वर्थीये वलचि 'वले' इति दीर्घः ॥

सुरा—'सुसूध' इति क्रन् ॥

सुरकः अहिविशेषः—स्थूलादिषु 'सुराया अहौ' इति पाठात् कनि 'केऽणः' इति ह्रस्वः ॥

षिञ् बन्धने ॥ २ ॥

सिनोति । सिनोषि । सिनोमि । सिन्वः, सिनुवः ॥ सिषाय । सिष्यतुः । सिषयिथ, सिषेथ । सिषाय, सि-

षय । सिष्यिव । अत्र गुणवृद्धिविषयेऽजादौ 'एरनेकाचः' इति यण् । सेता । सेष्यति । सिनोतु । सिनु । सिनवानि । असिनोत् । सिनुयात् । आशिषि—सीयात् । असैषत् । असैष्टाम् ॥

सिनुते । सिनुषे । सिन्वे । सिन्वहे । सिनुवहे । सिष्ये । सिष्यिषे । सिष्यिवहे । सेता । सेष्यते । सिनुताम् । सिनुष्व । सिनवै । असिनुत । असिनुथाः । असिन्वि । असिन्वहि । असिनुवहि । सिन्वीत । सेषीष्ट । असेष्ट । असेषाताम् ॥

सिसीषति, सिसीषते । सेषीयते । सेषयीति, सेषेति ॥

साययति । असीषयत् ॥

सितः । सितवान् ॥

सिनो ग्रासस्स्वयमेव—'सिनोतेर्ग्रासकर्मकर्तृकस्येतिवक्तव्यम्' इति निष्ठानत्वम् । यदा बध्यमानः पिण्डीक्रियमाणो ग्रासो दध्यादिवशेन कर्त्रानुकूल्यं प्रतिपद्यते तदा कर्मणः कर्तृत्वविवक्षायामयं प्रयोग इति न्यासपदमञ्जर्यादौ । अनेकार्थत्वाद्धातोः भक्षणमर्थ इत्यात्रेयः ॥

केशेषु प्रसितः केशैरिति वा—'प्रसितोत्सुकाभ्यां तृतीया च' इति तृतीयासप्तम्यौ ॥

सयः—अच् ॥

परिषितः परिषयः—'परिनिविभ्यः' इत्यादिना सितसयशब्दयोष्षत्वम् । एवं निविभ्यामपि ॥

सेरुः—'दाधेट् सिशद' इति रुः ॥

सेत्रम्—'दाम्नी' इत्यादिना ष्ट्रन् ॥

सितो वर्णः—'अञ्जिघृसिभ्यः क्तः' इति संज्ञायां क्तः ॥

सितिमा, सैत्यम्—'वर्णदृढादिभ्यष्ष्यञ्च' इति ष्यञिम-निचौ भावकर्मणोः ॥

सिता शर्करा । न सिता **असिता** इत्यत्र 'वर्णादनुदात्तात्' इति ङीब्नकारयोः 'असितपलितयोः प्रतिषेधः' इति निषेधः । 'छन्दसि क्नमेके' 'भाषायामपीष्यते' इति—**असिक्नीति** क्नादेशङीपावपि पक्षे भवतः ॥

सेतुः—'सितनिगमि' इति तुन् ॥

सीरो लाङ्गलं—'शुषिचिमिञां दीर्घश्च' इति क्रनि दीर्घः । सीरस्येदं तद्वहति वा **सैरिकः**—'हलसीराट्ठक्' इति तस्येदंविषये तद्वहतीतिविषये च ठक् ॥

अयं क्र्यादावपि ॥

शिञ् निशाने ॥ ३ ॥

तालव्यादिरयम् । निशानं तनूकरणम् ॥

शिनोति । शिनुते । शिशाय । शिश्ये । शेता । शेष्यतीत्यादि पूर्ववत् ॥

डु मिञ् प्रक्षेपणे ॥ ४ ॥

मिनोति । मिनुते । ममौ । मिम्यतुः । ममाथ, ममिथ । मिम्यथुः । मिम्य । ममौ । मिम्यिव । 'मीनातिमिनोतिदीङां ल्यपि च' इत्येज्विषये ल्यपि च प्रागेव प्रत्ययोत्पत्तेरात्वम् । तस्य चानैमित्तिकत्वान्न 'द्विर्वचनेऽचि' इति स्थानिवत्त्वम् । थलीट्पक्षे 'आतो लोप इटि च' इत्याकारलोपः । **मिम्ये । मिम्यिषे । मिम्ये । मिम्यिवहे ॥**

माता । मास्यति । मास्यते । मिनोतु । मिनु । मिनवानि । मिनुताम् । मिनुष्व । मिनवै । अमिनोत् । अमिनुताम् । मिनुयात् । मिन्वीत । आशिषि, **मीयात् । मासीष्ट ।** यासुटि कित्त्वादनात्वे 'अकृत्सार्वधतुकयोः' इति दीर्घः । **अमासीत् । अमासिष्टाम् ।** आत्वे 'यमरमनमाताम्' इति सगिटौ परस्मैपदे । अन्यत्र **अमास्त । अमासाताम् ॥**

मित्सति—'इको झल्' इति सनः कित्त्वात् 'अज्झन' इति दीर्घे, 'सनिमीम' इतीस्भावे 'सस्यार्धधातुके' इति सस्य तत्वम् । 'अत्र लोपः' इत्यभ्यासलोपः ॥

मेमीयते । मेमेति । मिनोतीति श्तिपा निर्देशान्नात्वम् । **मापयति । अमीमपत्**—आत्वे पुक् ॥

प्रमाय—'ल्यपि च' इत्यात्वम् ॥

प्रमयः, ईषत्प्रमयः, दुष्प्रमयः,—'निमिमीलियां खलचोः प्रतिषेधः' इत्यात्वनिषेधः ॥

मित्रिमम्—'ड्वितः क्त्रिः' 'क्त्रेर्मन्नित्यम्' इति मप् ॥

मीरः—'शुषिचिमिञां दीर्घश्च' इति क्रन्दीर्घौ ॥

मयत इति शपि । मातीति लुकि । मिमात इति श्लौ । मीयत इति श्यनि ॥

चिञ् चयने ॥ ५ ॥

चिनोति । चिनुते । चिकाय । चिक्यतुः । चिकयिथ, चिकेथ । चिक्यथुः । चिक्यिव । 'विभाषा चेः' इति सन्लिटोः परयोः अभ्यासात्परस्य वा कुत्वम् । अन्यथा—**चिचायेत्यादि । चिच्ये, चिक्ये** इत्यादि ॥

चेता । चेष्यति । चेष्यते । चिनोतु । चिनुताम् । अचिनोत् । अचिनुत । चिनुयात् । चिन्वीत । चीयात् । चेषीष्ट । अचैषीत् । अचेष्ट ॥

चिचीषति, चिकीषति । लिटि कुत्वविकल्पः । **चेचीयते । चेचेति । चाययति, चापयति** । 'चिस्फुरोर्णौ' इत्यात्वपक्षे पुक् । **प्रणिचिनोति**—'नेर्गद' इति णत्वम् ॥

निकाय्यः—'पाय्यसान्नाय्यनिकाय्य' इति निवासे ण्यदायादेशावादिकुत्वं च निपात्यते ॥

सञ्चयः क्रतुः । **परिचाय्यः** अग्निः, **उपचाय्यश्च** । 'क्रतौ कुण्डपाय्यसञ्चाय्यौ' 'अग्नौ परिचाय्योपचाय्यसमूह्याः' इति ण्यदायादेशयोर्निपात्यन्ते । निवासादिभ्योऽन्यत्र यति **चेयमित्यादि** ॥

चित्यः अग्निः । **अग्निचित्या** वर्तते—'चित्याग्निचित्ये च' इति कर्मणि भावे च यथाक्रमं निपात्येते । तत्राद्यस्य यति तुक् । अन्यस्य ये तुक् । तेनान्तोदात्तत्वं भवति । अयं स्वभावात्स्त्रीलिङ्गः ॥

अग्निचित्—'अग्नौ चेः' इति कर्मण्युपपदे भूते क्विप् ॥

श्येनश्चीयते **श्येनचित्** । श्येनशब्दस्तत्सदृशेष्टकाचय उपचारेण वर्तते । 'कर्मण्यग्न्याख्यायाम्' इति कर्मण्युपपदे तस्मिन्नेवार्थे अग्न्याख्यायां त्रैकालिकः क्विप् । आख्याग्रहणं रूढ्यर्थम् । तेनाग्न्यर्थेष्टकाचयश्श्येनचिच्छब्देनोच्यते ॥

निश्चयः—'ग्रहवृदृनिश्चिगमश्च' इति निश्चेरप् अचोऽपवादः ॥

एकस्तण्डुलनिश्चा*यः—'परिमाणाख्यायां सर्वेभ्यः' इति घञ् । कथं 'एकोऽपि तव निश्चयः' इति? । पदसंस्कारेणेति भागवृत्तिः ॥

पुष्पप्रचायः—'हस्तादाने चेरस्तेये' इति घञ् । हस्तादानग्रहणेन प्रत्यासत्तिर्लक्ष्यते । अन्यत्र **वृक्षशिखरे फलप्रचयं करोतीत्यचेव** भवति । अस्तेय इति वचनात् चौर्ये प्रत्यासत्तावप्यजेव **पुष्पप्रचयश्चौर्येणेति** ॥

निचीयन्तेऽस्मिन्निति **निकायो** ग्रामगृहादिः । आचीयन्तेऽस्मिन्निष्टका इति **आकायो**ऽग्निः । चीयन्तेऽस्मिन्नस्थ्यादीनीति **कायः** शरीरम् । गोमयानामेकत्र† करणं **गोमयनिकायः**—'निवासचितिशरीरोपसमाधानेष्वादेश्च कः' इति घञादिकत्वं च । निव-

---

*निचा. †ख—निरा.

सन्त्यस्मिन्निति निवासः । चीयतेऽसौ चितिः । शरीरं पाण्यादिसमुदायः । उपसमाधानं राशीकरणम् । असौ धात्वर्थः । अन्यानि प्रत्ययार्थस्य कारकस्योपाधिभूतानि । काष्ठनिचय इत्यत्र बहुत्वमात्रं विवक्षितं नोपसमाधानमित्यञेव भवति ॥

भिक्षुनिकायः—'सङ्घे चानौत्तराधर्ये' इति घञादिकत्वं च । प्राणिनां समूहः सङ्घः, स च द्वेधा भवति एकधर्मसमावेशेनौत्तराधर्येण च । तत्र 'अनौत्तराधर्ये' इति पर्युदासादितरो गृह्यते इत्यौत्तराधर्येऽञेव **सूकरनिचय** इति । सङ्घस्य प्राणिसमुदायलक्षणत्वात् **प्रमाणाप्रमाणसमुच्चय** इत्यत्राप्यञेव ॥

चितिः—क्तिन् । **द्विचितीकः**—'शेषाद्विभाषा' इति कप् । 'चितेः कपि' इति पूर्वपदस्य दीर्घः ॥

आचितं सम्भवत्यवहरति वा **आचितीनः** । **आचितिकः** । 'आढकाचितपात्रात्खोऽन्यतरस्याम्' इति खठञौ ॥

द्व्याचितिकः, द्व्याचितः, द्व्याचितीनः—'द्विगोष्ठंश्च' इति सम्भवत्यादिषु ठन्, चकारात्खश्च । षकारो ङीषर्थः । अन्यतरस्याङ्ग्रहणानुवृत्त्या च 'अध्यर्धपूर्वद्विगोः' इति ठञो लुकि 'द्विगोः' इति ङीपः 'अपरिमाणबिस्ताचित' इति निषेधः । ठन्खञोर्विधानसामर्थ्यान्न लुक् । 'शाकटो भार आचितः'* ॥

चित्रः—औणादिकः क्रः ॥

*अमर—२-९-८७.

चित्रीयते—'नमो वरिवश्चित्रङः क्यच्' इति क्यच्। चित्रङ् आश्चर्य इति वृत्तिः । ङित्त्वात्तङ्॥

स्तृञ् आच्छादने ॥ ६ ॥

स्तृणोति स्तृणुतः स्तृण्वन्ति । स्तृणोषि स्तृणोमि स्तृणुवः स्तृण्वः । स्तृणुते स्तृणुषे स्तृण्वे ॥

तस्तार तस्तरतुः तस्तरुः । तस्तर्थ तस्तर तस्तार तस्तरिव । तस्तरे तस्तराते तस्तरिषे तस्तरिध्वे तस्तरिढ्वे तस्तरे तस्तरिवहे । क्रादिनियमादिट् । थलि 'अचस्तास्वत्' इति निषेधः ऋकारान्तत्वान्नित्यः । 'ऋतश्च संयोगादेर्गुणः' इति लिटि गुणः । वृद्धिविषये तु पूर्वविप्रतिषेधेन सैव । कृते वा गुणे 'अत उपधायाः' इति वृद्धिः ॥

स्तर्ता । स्तरिष्यति । स्तरिष्यते—'ऋद्धनोस्स्ये' इतीट्। स्तृणोतु, स्तृणु, स्तृणवानि, स्तृणुतां स्तृणुष्व स्तृणवै। अस्तृणोत् अस्तृणुत स्तृणुयात् स्तृण्वीत । आशिषि—स्तर्यात्। संयोगाद्यृकारान्तधातुत्वात् 'गुणोऽर्तिसंयोगाद्योः' इति शयकोः यकारादावार्धधातुके लिङि गुणः । शस्त्वस्य न सम्भवति ॥

स्तृषीष्ट । स्तरिषीष्ट—'लिङ्सिचोरात्मनेपदेषु' इत्यधिकृत्य 'ऋतश्च संयोगादेः' इतीड्विकल्पः । तत्रेडभावे 'उश्च' इति लिङ्सिचोः कित्वान्न गुणः । अस्तार्षीत् । अस्तार्ष्टां । अस्तृत अस्तृषातां अस्तरिष्ट अस्तरिषातास् । लिङ्सचोरिड्विकल्पो झलादावगुणत्वं च ॥

तिस्तीर्षति—'इको झल्' इति सनः कित्त्वात् 'अज्झन' इति दीर्घे, 'ऋत इद्धातोः' इतीत्वे रपरे 'हलि च' इतीक उपधाया दीर्घः ॥

तास्तर्यते—'यङि च' इति संयोगाद्यृकारान्तत्वेन गुणः। **तस्तर्ति । तस्तरीति** । रिग्रीकोरप्युदाहार्यम् । 'स्तृस्तृस्त्यासेक्-सृवर्जं' इत्यषोपदेशत्वादनादेशसकारत्वान्न षत्वम् ॥

स्तारयति । अतिस्तरत्—'अत्स्मृद्वत्वर' इत्यत्र दीर्घान्त-पाठान्नास्याद्भावः ॥

स्तृत्वा । स्तृतः ॥

दीर्घान्तः क्र्यादौ ॥

कृञ् हिंसायां ॥ ७ ॥

कृणोति, कृणुते । चकार चक्रतुः चकर्थ चक्र चकार चकर चकृव । क्रादिसूत्रे कृग्रहणेनायमपि गृह्यत इतीण्णिषेधः। **चक्रे चक्राते चकृषे चकृढ्वे चक्रे चकृवहे** । अगुणवृद्धिविषये अजादौ यणादेशः ॥

कर्ता । करिष्यति, करिष्यते । कृणोतु, कृणुताम् । अकृणोत् अकृणुत कृणुयात् कृण्वीत । आशिषि, **क्रियात्**—'रीङृतः' 'रिङ्शयग्लिङ्क्षु' इति रिङादेशः । **कृषीष्ट** ॥

अकार्षीत् अकार्ष्टाम् । अकृत अकृषाताम् । आत्मनेपदे लिङ्सिचोः 'उश्च' इति कित्त्वान्न गुणः ॥

चिकीर्षति—स्तृन्वत्सनः किच्वे दीर्घेत्वरपरत्वदीर्घाः ॥

चेक्रीयते—अकृत्सार्वधातुकयकारयोः परयोः 'च्वौ च' 'रीङृत' इति रीङ् ॥

चर्कर्तीत्यादि ॥

कारयति । अचीकरत्—सर्वत्र कृग्रहणेषु कृञ्ग्रहणेषु च करोतिरेव वृत्तिकारादिभिरङ्गीकृत इत्ययं नोदाह्रियते । क्रादिसूत्रे तु कृग्रहणेनास्यापि ग्रहोऽङ्गीकृत आत्रेयादिभिः । कारा बन्धन इति भिदादौ पठ्यते । तत्रास्मादङित्यात्रेयः । न्यासकारस्तु करोतेः ॥

वृञ् वरणे ॥ ८ ॥

उदात्तः । **वृणोति, वृणुते । ववार वव्रतुः वव्रुः वव-रिथ वव्र । ववार ववर ववृव । वव्रे ववृषे ववृध्वे । ववृ-वहे**—क्रादिपाठादनिट्त्वम् । थलि तु 'बभूथाततन्थजगृम्भववर्थेति निगमे' इति निगम इडभावस्य निपातनात् भाषायामिडागमः ॥

वरिता, वरीता । वरिष्यति, वरीष्यति । वरिष्यते । वरी-ष्यते—'वृतो वा' इत्यलिटि इटो वा दीर्घः । **वृणोतु वृणुताम् । अवृणोत् अवृणुत । वृणुयात् वृण्वीत ।** आशिषि—**व्रियात्**—'रिङ्शयग्लिङ्क्षु' इति रिङादेशः । रीङि प्रकृते रिङ्विधान-सामर्थ्यात् 'अकृत्सार्वधातुकयोः' इति दीर्घाभावः ॥

वृषीष्ट, वर्षीष्ट । 'वृतः' इत्यधिकारे 'लिङ्सिचोरात्मनेपदेषु'

इति वा इट् । वॄत इति दीर्घस्य 'न लिङि' इति निषेधः। इडभावे 'उश्च' इति लिङ्सिचोः कित्त्वान्न गुणः ॥

अवारीत् अवारिष्टाम्। 'वृतो वा' इति दीर्घस्य 'सिचि च परस्मैपदेषु' इति निषेधः ॥

अवृत अवृषाताम् । **अवरिष्ट अवरिषातां अवरीष्ट अवरीषातां**—'लिङ्सिचोः' इतीट्पक्षे 'वॄतः' इति वा दीर्घः । ध्वम्यनिट्पक्षे नित्यो मूर्धन्यः, इटि तु विकल्पेन दीर्घश्च वेति पञ्चरूपाणि—**अवृढ्वं, अवरिढ्वं, अवरीढ्वम्, अवरिध्वम्, अवरीध्वम्** । कर्तृवत्कर्मणि । ते तु चिण्विशेषः **अवारि** इति । कर्मकर्तरि तु 'अचः कर्मकर्तरि' इति चिणो विकल्पनात्सिजपि, तत्र च कर्तृवद्वा इट्, तस्य चेटो दीर्घविकल्पः । पक्षे चिण्वदिट् । प्रकृतस्येटो दीर्घविधानादस्य दीर्घो नेति **अवारि, अवृत, अवरिष्ट, अवरीष्ट, अवारिष्ट** इति पञ्च रूपाणि । द्विवचनादौ चिण्वद्वर्जं चातूरूप्यम् । ध्वमि तु कर्तृवत्पञ्च रूपाणि । चिण्वदिटि च मूर्धन्यविकल्पेन **अवारिध्वं अवारिढ्वमिति** द्वे इति सप्त रूपाणि ॥

वुवूर्षति, विवरिषति, विवरीषति—'वॄतः' इति 'इट् सनि वा' इति वेट् । तस्य च वा दीर्घः । अनिट्पक्षे 'इको झल्' इति सनः कित्त्वे 'अज्झनगमाम्' इति दीर्घे, 'उदोष्ठ्यपूर्वस्य' इत्युत्वे रपरे 'हलि च' इत्युपधादीर्घः ॥

वेव्रीयते—'रीङृतः' इति रीङ् । वर्वर्तीत्यादि ॥

वारयति यवेभ्यो गाः । **अवीवरत्**—'वारणार्थानामीप्सितः' इत्याप्तुमिष्यमाणस्यापादानत्वम् । प्रवृत्तिविघातो वारणम् । कण्टकैः **परिवारयति** वृक्षम् । **परिवारयन्ते** कण्टका वृक्षं स्वयमेव—'करणेन तुल्यक्रियः कर्ता कर्मवद्बहुळम्' इति ण्यन्ते करणस्यात्र कर्मवद्भावः । यक्चिणौ तु 'णिश्रन्थि' इति निषेधान्न भवतः ॥

वृत्यः—'एतिस्तु' इत्यादिना क्यप् । 'वार्या ऋत्विजः' इति क्रैयादिकस्य ण्यति । क्यब्विधौ हि वृञो ग्रहणमिष्यते ॥

पतिंवरा कन्या—'संज्ञायां भृतृवृजि' इति खचि मुमागमः ॥

नीवारः—'नौ वृधान्ये' इति घञ् । 'उपसर्गस्य घञि' इति दीर्घः । अधान्ये **निवारः** । 'ग्रहवृदृनिश्चिगमश्च' इत्यप् । स्त्रियामपि बाहुळकात्क्तिनं बाधित्वाऽयमप् भवतीति हरदत्तः । तेन **निवारा कन्या** इति भवति । लिङ्गकारिकायां अबन्तस्य पुंस्त्वशासनं प्रायिकमिति न्यासः । खच्प्रभृतयोऽमी त्रयः प्रत्ययाः क्रैयादिकस्यापीति तस्यापि समानं रूपम् ॥

प्रावारः प्रवरः उत्तरासङ्गः—'वृणोतेराच्छादने' इति प्रोपसृष्टाद्घञपौ । घञि 'उपसर्गस्य' इति दीर्घः । आच्छादनादन्यत्राबेव । अन्यत्रापि बाहुळकात् क्तिन्विषयेऽब्भवतीति हरदत्तः **प्रवरा गौः** इति ॥

'अवद्यपण्य' इत्यादौ वर्येति निपातनं क्रैयादिकस्येति स्थितमितीह नोदाहृतम् ॥

वर्म्मा—मनिन् । **वर्म्मी** व्रीह्यादिः ॥

वर्म्मिणोऽपत्यं **वार्म्मिकायणिः**—वाकिनादिषु 'चर्म्मिवर्म्मिणोर्नलोपश्च' इति पाठात् फिञ्, कुगागमो, नलोपश्च ॥

वर्म्मणा सन्नह्यति **संवर्म्मयति**—'सत्यापपाश' इत्यादिना णिच् । अभिधानशक्तिस्वभावादयं सन्नह्यतीत्यर्थे ॥

अपहारवर्म्मणोऽपत्यं **अपहारवर्म्मणः**—'नमपूर्वोऽपत्ये वर्म्मणः' इति प्रकृतिभावनिषेधस्तत्रैव अवर्म्मण इति पर्युदासान्न भवतीति 'अन्' इति प्रकृतिभाव एव भवति ॥

वरूथो रथगुप्तिः—'जॄवृञ ऊथन्' इत्यूथन् ॥

वर्षम्—'वृतॄ' इत्यादिना सः ॥

वर्णः—ऋज्रेन्द्रादौ रन्प्रत्यये, तद्रेफस्य णत्वे निपात्यते* ॥

वर्णी ब्रह्मचारी—'वर्णाद्ब्रह्मचारिणि' इति मत्वर्थीय इनिः ॥

ब्राह्मणवर्णी—'धर्मशीलवर्णान्ताच्च' इति मत्वर्थीय इनिः । इन्विधानं ठनो निवृत्त्यर्थम् ॥

वरुणः—'कृवृदारिभ्य उनन्' इत्युनन् ॥

वरुणानी—'इन्द्रवरुण' इति ङीषानुकौ पुंयोगे ॥

---

*ऋज्रेन्द्रेतिसूत्रे वर्णशब्दस्य पाठो नार्षः, 'कृवृजृसिद्रुपन्यमिस्वपिभ्यो नित्' इति नप्रत्ययेन सिद्धत्वादित्युज्ज्वलदत्तः । 'खुरभद्रोग्रभेरभेलशुक्रशुक्लतीव्रवर्णेरामालाः' इति रन्प्रत्यये तद्रेफस्य णत्वं निपात्यते । इति मुद्रितकोशे.

मित्रावरुणौ देवताऽस्य **मैत्रावरुणः**—'देवताद्वन्द्वे च' इत्यानङ् पूर्वपदस्य । 'साऽस्य देवता' इत्यण् । 'देवताद्वन्द्वे च' इत्युभयपदवृद्धिः 'दीर्घाच्च वरुणस्य' इति निषिध्यते ॥

वरुणदत्तो नाम कश्चित् अनुकम्पितोऽसौ **वरुणिकः वरुणियः वरुणिलः वरुणदत्तः**—'बह्वचो मनुष्यनाम्नष्ठज्वा' 'घनिलचौ च' इत्यनुकम्पायां ठच् घनिलचौ वा विधीयन्ते ॥

'शेवलसुपरिविशालवरुणार्यमादीनां तृतीयात्' इति ठजादौ च प्रत्यये तृतीयादच ऊर्ध्वं लुप्यते वर्णः इति लोपः ॥

वर्णुः—'अजिवृरीभ्यो नित्' इति नुप्रत्ययः ॥

वरत्रा—'वृञश्चित्' इत्यत्रन्प्रत्ययः ॥

वृञ् संभक्ताविति क्र्यादौ । तथा दीर्घान्तो ञिदञिच्च वरणार्थः । तत्र वृञ् आवरणे इति चुरादौ ॥

धुञ् कम्पने ॥ ९ ॥

अनुदात्तः । **धुनोति, धुनुते । दुधाव । दुधोथ, दुधविथ । दुधुवे । दुधुविषे । धोता । धोष्यति, धोष्यते । धुनोतु । धुनुताम् । अधुनोत् । अधुनुत । धुनुयात् । धुन्वीत ।** आशिषि—**धूयात् । धोषीष्ट । अधौषीत् । अधोष्ट ॥**

दुधूषति, दुधूषते । दोधूयते । दोधोति । धावयति अदूधवत् ॥

धुत्वा, धुतः, धुतवान् ॥

धुनी—बाहुळकात् निप्रत्ययो नित्किच्च ॥ तथा च भोजोसुसूत्रत् 'घृसृधुवृषिष्टच्छिज्वरित्वरिभ्यः कित्' इति । अत्र स्वामी ह्रस्वान्तममुं पठित्वा प्रयोगाद्दीर्घान्तमप्याह । शिवस्वामिकाश्यपौ तु दीर्घान्तमाहतुः । उभयमपि चान्द्रा इति सुधाकरः । दीर्घान्तस्य तेनैव प्रयोगोऽपि दर्शितः—'ऊर्ध्वं धूनोति वायुर्विधृतशिवशिरश्श्रेणिकुञ्जेषु' इति । तत्र दीर्घान्तपाठे स्वरत्यादिसूत्रेणेड्विकल्पः । कित्सनोस्तु पुरस्तात्प्रतिषेधकाण्डारम्भसामर्थ्यात् धूत्वा धूतः दुधूषतीत्यादौ 'श्र्युकः किति' इति 'सनि ग्रहगुहोश्च' इतीण्णिषेधो भवति । किति लिटि त्वमुं निषेधं बाधित्वा क्रादिनियमान्नित्यमिट् । न च क्रादिनियमस्य स्वरत्यादिविकल्पः परत्वाद्बाधक इति मन्तव्यं, तस्य 'श्र्युकः किति' इत्यनेन पुनरपि बाधप्रसङ्गात् ॥

धूनोति, धूनुते । दुधावेत्यादि ह्रस्वान्तवत् । **धोता, धविता । धोष्यति, धविष्यति । धोष्यते, धविष्यते । धूनोतु धूनुताम् । अधूनोत् अधूनुत । धूनुयात् धून्वीत । धूयात् धोषीष्ट धविषीष्ट । अधावीत् । अधाविष्टां अधोष्ट अधविष्ट ।** 'स्तुसुधूञ्भ्यः' इति परस्मैपदे सिचो नित्यमिट् । अन्यत्र सर्वत्र स्वरत्यादिनेड्विकल्पः ॥

धूनयति—'धुञ्प्रीञोर्नुग्वक्तव्यः' इति णौ नुक् ॥

दीर्घान्तः क्र्यादौ युजादौ च । धू विधूनन इति ञित् तुदादौ । स्वादय उभयतोभाषाः वृञ्वर्जमनुदात्ताः । तस्यानुदात्तमध्ये पाठ ऋकारान्तोभयतोभाषानुरोधेन ॥ ॥

उभयतोभाषानिट्प्रकरणाद्दुञमुक्त्वा, तदनुरोधेनोकारान्तमनिटं परस्मैपदिनमाह—

टु दु उपतापे ॥ १० ॥

दुनोतीत्यादि धुनोतिवत् ॥

दावः—'दुन्योरनुपसर्गे' इति कर्तरि णः। दव इति भौवादिकादचि। तस्य नात्र ग्रह इति तत्रैवोक्तम्। 'समियुद्रुदुवः' इति घञ्विधौ द्रुसाहचर्यान्निरनुबन्धकत्वाच्च दवतेरेव ग्रह इत्यस्याबेव—सन्दव इति ॥

दवथुः—'ट्वितोऽथुच्'॥

दुत्वा, दुतः, दुतवान्। ल्वादौ 'दुग्वोर्दीर्घश्च' इति। अत्र यदुक्तं न्यासे टु दु उपताप इति तदसत्। यदाह हरदत्तः—दुद्रु गतावित्यस्य दोर्ग्रहणं; न तु टु दु उपताप इत्यस्य, सानुबन्धकत्वात्। तथा च माघः—'मृदुतया दुतया' इति ॥

हि गतौ वृद्धौ च ॥ ११ ॥

प्रहिणोति—'हिनुमीना' इत्युपसर्गस्थान्निमित्तादुत्तरस्य हिनुनकारस्याड्व्यवायेऽपि णत्वम्। तच्च प्रहिणु इत्यादौ हिनुशब्दे सावकाशमप्येकदेशविकृतस्यानन्यत्वात् विकृतेऽपीह भवति ॥

जिघाय। जिघ्यतुः। जिघ्युः। जिघयिथ, जिघेथ जिघ्य। जिघ्यिव—'कुहोश्चुः' इत्यभ्यासस्य चुत्वं झकारः।

तस्य ‘अभ्यासे चर्च’ इति जश्त्वं जकारः । परस्य ‘हेर-चङि’ इति कुत्वं घकारः ॥

हेता । हेष्यति । प्रहिणोतु । प्राहिणोत् । प्रहिणुयात् । हीयात् । अहैषीत् ॥

जिघीषति । जेघीयते । जेघेति ॥

हाययति । अजीहयत्—‘अचङि’ इति वचनान्न कुत्वम् । इदमेव ‘अचङि’ इति वचनं चङोऽन्यत्र ण्यधिकस्यापि कुत्वे ज्ञापकम् । तेन **प्रजिघाययिषतीत्यत्रापि** कुत्वं भवति ॥

सहितम्, संहितम्—‘समो वा हिततयोः’ इति मलोपविकल्पः । ष्यञि समो नित्यं मलोपस्येष्यमाणत्वात्—**साहित्य**मित्येव भवतीत्यात्रेयः ॥

देवदत्ताय हितं भूयात्, देवदत्तस्येति वा—‘चतुर्थी चाशिषि’ इत्यादिना षष्ठीचतुर्थ्यौ । ‘चतुर्थी तदर्थार्थबलिहितसुख’ इति समासविधौ कैयटे ‘चतुर्थी चाशिषि’ इति हितयोगे या चतुर्थी तदन्तस्य समासो न भवति । समासादाशिषोऽनवगमादिति केचिदाहुरिति ॥

अरोचकिने हितं **अरोचकिहितम्**—‘हितयोगे चतुर्थी वक्तव्या’ इति चतुर्थी । ‘चतुर्थी तदर्थ’ इति पक्षे समासः । सुधाकरस्तु—चान्द्रानुसारेणानाशिष्यपि षष्ठीचतुर्थ्यौ द्वे भवत इत्याह । तद्वृत्तिकारस्य नेष्टम् । यदाह—‘हितं भक्षाः’ इत्यत्र, ननु च

हितयोगे चतुर्थ्या भवितव्यम् । तत्र कथं षष्ठ्यर्थे प्रत्ययो विधीयते? एवं तर्हि सामर्थ्याद्विभक्तिविपरिणामो भविष्यतीति। भाष्यमपि—हितं भक्षा इति चतुर्थीनिर्देशः कर्तव्यः; इतरथा ह्यनिर्देशो भवति, हितशब्देन योगे चतुर्थी विधीयते। सा प्राप्नोति। स तर्हि चतुर्थीनिर्देशः कर्तव्यः। न कर्तव्यः। एवं वक्ष्यामि 'हितं भक्षाः तदस्मै, ततः दीयते नियुक्तं, तदस्मा इति' इति। कैयटोऽपि—इतरथा हीति। यदि चतुर्थी न निर्दिश्यते तदा प्रकृतायाः अस्येतिषष्ठ्याः सम्बन्धायोगात् इहानुपस्थानात्प्रत्ययार्थोऽनिर्दिष्टस्स्यादित्यर्थ इति ॥

संहितोरूः—'संहितशफलक्षणवामादेश्च' इत्यूरूत्तरपदात्संहिताद्यादेरूङ्प्रत्ययस्त्रियाम् ॥

सहितोरूः—'सहितसहाभ्यां चेति वक्तव्यम्' इत्यूङ्। एकदेशविकृतस्यानन्यत्वात् सूत्रेणैव सिद्धे वचनमिदं, हितेन सह वर्तते सहितं इति सहितशब्दव्युत्पत्तावूङर्थम् । प्रागप्येतत्सर्वमुक्तम् ॥

हयः—पचाद्यच् ॥

हयी—गौरादित्वात् ङीष् ॥

हेतिः—'ऊतियूति' इत्यादिना क्तिनि निपात्यते ॥

हेतुः—'कमिमनि' इत्यादिना तुः ॥

अन्नेन हेतुना वसति, अन्नाय हेतवे, अन्नाद्धेतोः, अन्नस्य हेतोः, अन्ने हेतौ, इति वा—'निमित्तकारणहेतुषु सर्वा-

सां प्रायदर्शनम्' इति सर्वा विभक्तयः । प्रायग्रहणादसर्वनाम्नः प्रथमाद्वितीये न स्तः, सर्वनाम्नस्तु सर्वा इति 'अइउण्' इत्यत्र कैयटे स्थितम् ॥

पॄ प्रीतौ ॥ १२ ॥

पृणोति । पपार । पप्रतुः । पपर्थ । पप्र । पप्रिव । पर्ता । परिष्यति । पृणोतु । अपृणोत् । पृणुयात् । प्रियात् । अपार्षीत् ॥

पुपूर्षति । पेप्रीयते । पर्पर्ति ॥

पारयति । अपीपरत् ॥

प्रियत इत्यादि श्यनि गतम् । पिपर्तीति श्लौ ॥

स्पॄ प्रीतिपालनयोः ॥ १३ ॥

प्रीतिर्बलं, पालनं जीवनमिति स्वामी ॥

स्पृणोति । पस्पार । पस्पर्थ । खयश्शेषः । 'ऋतश्च संयोगादेः' इति किति लिटि गुणः ॥

स्पर्तेत्यादि । स्मृ इत्येके । **स्मृणोतीत्यादि ।** 'अत्स्मृदृत्वर' इत्यत्र वृत्तौ स्मृ चिन्तायामित्युपादानादस्येत्त्वमेव भवति, **असिस्मरदिति** ॥

स्पृणोतिस्मृणोती इमौ छान्दसाविति पारायणे । इमौ पृणोतिश्च त्रयश्छान्दसा इति स्वामिकाश्यपौ ॥

आप्लृ व्याप्तौ ॥ १४ ॥

आप्नोति । आप्नुतः । आप्नुवन्ति, आप्नोषि । आप्नोमि । आप्नुवः—'लोपश्चास्य' इत्युकारलोपस्संयोगपूर्वत्वान्न भवति । 'हुश्नुवोः' इति यणप्यसंयोगपूर्वस्येत्यजादौ 'अचि-श्नुधातु' इत्यादिनोवङ् ॥

आप । आपतुः । आपिथ । आपिव । क्रादिनियमादिट् । 'उपदेशेऽत्वतः' इत्यत्र 'अत्वतः' इति तपरकरणान्नास्य थलीण्णिषेधः । यत्रायं निषेधस्तत्र भारद्वाजनियम इति विकल्पोऽपि न भवति ॥

आप्ता । आप्स्यति । आप्नोतु । आप्नुहि—'उतश्च प्रत्ययात्' इति हेर्लुक्संयोगपूर्वत्वान्न भवति । **आप्नवानि । आप्नोत् । आप्नुयात् ।** आशिषि—**आप्यात्** ॥

आपत् । आपताम्—लृदित्वाच्च्लेरङ् ॥

ईप्सति—'आप्ज्ञप्यृधामीत्' इतीत्वम् । अभ्यासलोपः ॥

आपयति । मा भवानापिपत् । कृते णौ चङि ह्रस्वे, पश्चात् द्वितीयैकाचः पिशब्दस्य द्विर्वचनम् ॥

प्रापय्य, प्राप्य—ण्यन्तात् क्त्वो ल्यपि 'विभाषापः' इति णेः पक्षेयादेशः, अन्यदा लोपः ॥

आप्यम्—ण्यत् । 'पोरदुपधात्' इत्यत्र तपरकरणान्न यत् ॥

आप्तिः—'क्तिन्नाबादिभ्यः' इति क्तिन् ॥

जीविकां प्राप्तः, **प्राप्तजीविकः**, **जीविकां प्राप्तः**, इति वा 'द्वितीयाश्रित' इत्यादिना 'प्राप्तापन्ने च द्वितीयया' इति च समासः । 'प्राप्तापन्ने च' इत्यत्र लिङ्गविशिष्टपरिभाषया प्राप्ताशब्दस्य समासेऽपि **प्राप्तजीविक** इति भवति । तत्र ह्य-कारः प्रश्लिष्यते 'प्राप्तापन्ने, अ च' इति । अश्वान्तादेशः । सौत्रत्वान्न प्रकृतिभावः । एतत्पद्यतावप्युक्तम् ॥

आपः—'आप्नोतेर्ह्रस्वश्च' इति क्वौ ह्रस्वः । 'अप्तृन्' इत्यादिना सर्वनामस्थाने दीर्घः । **अद्भिः**—'अपो भि' इति भकारादौ तकारे जश्त्वम् । 'अङ्गाधिकारे तस्य च तदन्तस्य च' इति दीर्घत्वतत्वे तदन्तेऽपि भवतः—**स्वापः**, **स्वाद्भिरिति** ॥

द्विधा गताः अन्तर्गताः परिगता वा आपो यस्मिन् **द्वीपम्** । **अन्तरीपम्** । **परीपम्**—'द्व्यन्तरुपसर्गेभ्योऽप ईत्' इत्यप आ-देरीकारः । 'ऋक्पूरब्धूः' इत्यकारस्समासान्तः । 'ईत्वमनवर्णा-न्तात्' इत्युक्तत्वात् **प्रापमित्यादौ** न भवति । **समापं** नाम देवयजनं इत्यत्र 'समाप ईत्वप्रतिषेधः' इतीत्वाभावः । अत एव निर्देशात् 'अन्येषामपि दृश्यते' इति वा दीर्घः । 'अव्ययं विभक्तिसमीप' इति निर्देशात्समीपमित्यपि भवति । यद्वा—समाप-शब्दः समा आपो अस्मिन्निति समशब्देन व्युत्पाद्यः ॥

अनूपम्—'ऊदनोर्देशे' इत्यप आदेरूकारः । अदेशे तु **अन्वीपम्** ॥

समुद्रे यद्द्वीपं तत्र भवादि **द्वैप्यम्**—'द्वीपादनुसमुद्रं यञ्' इति शैषिको यञ् । अनुसमुद्रमिति सप्तम्यर्थेऽव्ययीभावः । 'यञ-

ञोश्च' इत्यत्रापत्ययञो ग्रहणादस्य बहुषु लुकोऽभावात्—द्वैप्या इति भवति। अनुसमुद्रमित्युक्तत्वात् अन्यत्राणि द्वैप इति भवति॥

द्वैपायनः—व्यासः नडादित्वात्फक्। द्वीपशब्देन द्वीपस्थो मुनिरुच्यते। अनन्तरापत्येऽप्यस्मिन् गोत्रत्वमारोपात्॥

'त्रिषु द्वे आप्यमम्मयम्' इति मयडर्थे आप्यशब्दो दृश्यते। तथाऽपां कारणेष्वाप्याः परमाणव इति अत्र प्रत्ययो न दृश्यते। तथा च स्वामी—आप्यं तु लक्ष्यादिति। परिपूर्वोऽयं रक्षणेऽपि। तथा च भवभूतिः 'पर्याप्नोतु सुकृतं महाभागः' इति॥

अयं युजादौ च॥

शकॢ शक्तौ॥ १५॥

शक्नोति। शक्नुवन्ति। शक्नोतु। शक्नुहि। अशक्नोत्। अशक्नुवम्। शक्नुयात्। शेषं शक्यतिवत् लुङि ऌदित्त्वादङ्—अशकत् इति॥

विद्यासु शिक्षते—'शिक्षेर्जिज्ञासायाम्' इति तङ्। विद्याविषये ज्ञाने शक्तो भवितुमिच्छतीत्यर्थः॥

शक्तो घटः कर्तुं; शकित इति वा। 'सौनागाः कर्मणि निष्ठायां शकेरिटमिच्छन्ति विकल्पेन' इतीड्विकल्पः। 'विभाषा भावादिकर्मणोः' इत्यत्र हरदत्तः—यद्यपि शकिः केवलोऽकर्मकः। तथाऽपि तुमुनन्तवाच्यक्रियाविषयत्वे सकर्मकोपि

भवति । तथा च कर्मणि लादयोऽपि दृश्यन्ते । अयं योगश्शक्यो वक्तुमितीति ॥

शक्यं—'शकिसहोश्च' इति यत् ॥

शकलं—'शकिशम्योर्नित्' इति कलप्रत्ययः ॥

शक्रः—'स्फायितञ्चि' इत्यादिना रक् ॥

शक्तः—प्रियंवदः । 'मृशक्यञ्चिभ्यः क्तः' इति ऊहितः क्तः ॥

राध साध संसिद्धौ ॥ १६-१७ ॥

राध्नोति । राध्नुवन्ति । राध्नुवः । राध्नोतु । राध्नुहि । अराध्नोत् । राध्नुयात् । शेषं राध्यतिवत् । हिंसार्थत्वे हि 'राधो हिंसायाम्' इति किति लिटि थलि च सेटि एत्वाभ्यासलोपौ । **अपरेधतुः । अपरेधुः । अपरेधिथेत्यादि** । तथा सन्यपि 'राधो हिंसयां सन्यच इस्वक्तव्यः' इति अच इस्भावे अभ्यासलोपे 'स्कोः' इति सलोपे—**प्रतिरित्सति** ॥

साध्नोति । ससाध । ससाधतुः । ससाधिथ । ससाधिव । क्रादिनियमादिड्विकल्पो न भवति, तस्य त्वजन्तविषयत्वात् ॥

साद्धा । सात्स्यति । साध्नोतु । असाध्नोत् । साध्नुयात् । साध्यात् । असात्सीत् । असाद्धाम् ॥

सिषात्सति—'आदेशप्रत्यययोः' इति षत्वम् ॥

सासाध्यते । सासाद्धि । साधयति । असीषधत् । कालापास्त्वषोपदेशं पठन्ति । तत्षोपदेशलक्षणविरुद्धम् ॥

साधनः—ण्यन्तान्नन्द्यादित्वाल्ल्युः ॥

साधुः—'कृपावाजि' इत्युण् । मातरि साधुः—'साध्वसाधुप्रयोगे सप्तमी वक्तव्या' इति सप्तमी । अनर्चार्थमिदं वार्तिकम् । अर्चायां तु 'साधुनिपुणाभ्यामर्चायाम्' इत्येव सिद्धम् । तदस्मादर्चाग्रहणं निपुणार्थं सम्पद्यते । साधुभृत्यो राज्ञ इत्यत्र भृत्यापेक्षया षष्ठी न साध्वपेक्षयेति वाक्यार्थज्ञा आहुरिति मैत्रेयकैयटादौ प्रतिपादितम् । अप्रतेरिति वचनात् साधुर्देवदत्तो मातरं प्रतीत्यत्र न भवति । 'अप्रत्यादिभिरिति वक्तव्यम्' इति वार्तिकम् । तत्रादिग्रहणेन 'लक्षणेत्थंभूत' इत्यत्र प्रतिना सहोपात्तयोः पर्यन्वोर्ग्रहः । दुनोतिप्रभृतयोऽनुदात्ताः परस्मैपदिनः ॥

अथ सेट आह—

अशू व्याप्तौ संघाते च ॥ १८ ॥

अश्नुते । अश्नुवाते । अश्नुवते । अश्नुषे । अश्नुध्वे । अश्नुवे । अश्नुवहे । 'शात्' इति तवर्गस्य श्चुत्वनिषेधः ॥

आनशे । आनशाते । आनशिषे, आनक्षे । आनशिध्वे, आनड्ढ्वे । आनशिवहे, आनश्वहे । आनशिमहे, आनश्महे—

ऊदित्त्वादिड्विकल्पः । झलि व्रश्चादिना षत्वे, 'षढोः कस्सि' इति 'ष्टुना ष्टुः' इति कत्वष्टुत्वे यथायोगम् । 'अत आदेः' इत्यभ्यासस्य दीर्घे, ततः परस्य 'अश्नो तेश्च' इति नुडागमः ॥

अष्टा, अशिता । अक्ष्यते, अशिष्यते । अश्नुताम् । अश्नुष्व । अश्नवै । आश्नुत । आश्नुथाः । आश्नुवि । आश्नुवहि । अश्नुवीत । अश्नुवीथाः । अश्नुवीयात् । आशिषि—**अशिषीष्ट, अक्षीष्ट । आष्ट, आशिष्ट । आक्षाताम् । आशिषाताम् ।** झलि सिचो लोपे षत्वष्टुत्वे, अन्यत्र षत्वे कत्वम् ॥

आशिशिषते—'स्मिपूङ्रञ्ज्वशां सनि' इति नित्यमिट् ॥

आशाश्यते—'सूचिसूत्रि' इत्यादिना यङ् । तत्र ह्यश्नातेरश्नोतेश्च ग्रहणमुक्तं पदमञ्जर्यादौ । एवं पारायणात्रेयमैत्रेयादावपि । यङ्लुकि आष्टि इत्याद्यटतिवत्प्रक्रिया ॥

अष्ट्वा, अशित्वा । अष्टः, अष्टवान् । 'यस्य विभाषा' इत्यनिट्त्वम् ॥

रशना—'अशेरशच' इति युचि रशादेशः ॥

आशुः—व्रीहिविशेषः । 'कृपावाजि' इत्यादिनोण्प्रत्ययः । शीघ्रपर्यायस्त्वयमव्ययम् ॥

श्वशुरः—'शावशेराप्तौ' इति शुशब्द उपपदे उरन्प्रत्ययः । आशुपर्यायश्शुशब्दः ॥

श्वशुर्यः—'राजश्वशुराद्यत्' इति अपत्ये यत् ॥

श्वश्रूः—'श्वशुरस्योकाराकारयोर्लोपश्च' इत्युकाराकारयोर्लोप ऊङ्प्रत्ययश्च ॥

श्वश्रूश्च श्वशुरश्च **श्वशुरौ, श्वश्रूश्वशुरौ** इति वा । 'श्वशुरश्श्वश्र्वा' इति पक्षे श्वशुरस्य शेषः ॥

अक्षरम्—'अशेस्सरन्' इति सरन् ॥

अष्टन्—'सप्यशूभ्यां तुट् च' इति कनिन् तुडागमः । **अष्टौ, अष्टाभिः । अष्टाभ्यः । अष्टानां । अष्टासु ।** 'अष्टन आ विभक्तौ' इति पक्षे आकारः । 'अष्टाभ्य औश्' इति जश्शसोरौशभावः । अत्र लघ्वर्थमष्टन इति वक्तव्ये 'अष्टाभ्य' इति निर्देशात् अष्टन आत्वपक्षे एवौशभावः । अयमेव निर्देश आत्वविकल्पे लिङ्गम् । तेनात्वाभावे जश्शसोः 'षड्भ्यो लुक्' इति लुकि **अष्ट** इति भवति, अङ्गाधिकारे 'तस्य च तदुत्तरपदस्य च' इति वचनात् **परमाष्टौ** इत्यादावप्यौश्त्वं भवति । अत्रापि पूर्ववदात्वपक्ष एवौश्त्वम् । तेनानात्वे **परमाष्टेति** भवति । आत्वमप्याङ्गिकमिति तत्रापि तदन्तविधिर्द्रष्टव्यः ॥

अष्टावक्रः—'अष्टनस्संज्ञायाम्' इत्युत्तरपदे दीर्घः । अष्टभिर्गोभिर्युक्तं शकटं **अष्टागवं**—'गवि च युक्ते । भाषायामष्टनो दीर्घः' इति दीर्घः ॥

अष्टाविंशतिः—'अष्टनस्सङ्ख्यायामबहुव्रीह्यशीत्योः' इत्यशीतिवर्जिते सङ्ख्यायामुत्तरपदे दीर्घः 'बहुव्रीहौ' इति वचनादष्टनवा इत्यत्र न भवति, 'प्राक्शतात्' इति वचनादष्टशतमित्यादावपि न भवति ॥

अष्टमो भागः—**आष्टमः, अष्टमः**—'षष्ठाष्टमाभ्यां ञ च' इति भागे विवक्षिते ञप्रत्ययः । चकाराद्यश्च ॥

अश्वः—'अशुवृषी' इति क्वन् ॥

अश्वानां समूहः **अश्वीयम्**—'केशाश्वाभ्याम्' इति छः । अन्यतरस्याङ्ग्रहणात् अणि—**आश्वम्** ॥

अश्वस्य निमित्तं संयोग उत्पातो वा **आश्विकः**—'आर्हात्' इति ठक् । 'गोद्व्यचः' इति द्व्यज्लक्षणो यत् तत्रैव सङ्ख्यापरिमाणाश्वादीनां पर्युदासान्न भवति ॥

अश्वेनैकाहेन गम्यते **आश्वीनम्**—'अश्वस्यैकाहगमः' इति खञ् ॥

अश्वस्यापत्यं **आश्वायनः**—'अश्वादिभ्यः फञ्' इति फञ् ॥

गवाश्वं—'गवाश्वप्रभृतीनि च' इति नित्यमेकवद्भावः । पूर्वपदस्यानङ् ॥

अश्वस्यति बडबा—मैथुनमिच्छतीत्यर्थः । क्यचि परतो 'अश्वक्षीर' इत्यसुक् । तत्र हि 'अश्ववृषयोर्मैथुनेच्छायाम्' इति पठ्यते । अन्यत्र **अश्वीयति** ॥

अश्वतरः—गर्दभादश्वायामुत्पन्न उच्यते ॥ यस्य वेसर इति नाम । 'वत्सोक्षाश्वर्षभेभ्यश्च तनुत्वे' इति ष्टरच् । अश्वशब्दार्थस्य व्यक्तेस्तनुत्वं प्रवृत्तिनिमित्तजातिद्वारकम् । प्रवृत्तिनिमित्तं च इह अश्वादन्यस्मिन् तत्सदृशे जात्यन्तरयोगिनि आरोप्यत इति गौणत्वेन तनु । ष्टरचष्टित्त्वात् स्त्रियां—**अश्वतरी** ॥

अक्षः—'अशेर्देवने' इति सप्रत्ययः ॥

अक्षपरि—अक्षेण न तथा पतितं यथा जय इत्यर्थः । 'अक्षशलाकासङ्ख्याः परिणा' इति तृतीयान्तस्याव्ययीभावः । कितवव्यवहारे चायं समास इष्यते ॥

अक्षि—'अशेर्नित्' इति सिप्रत्ययः । अयमक्षतौ च व्युत्पादितः । वक्तव्यं चात्र तत्रैवोक्तम् ॥

ष्टिघ आस्कन्दने ॥ १९ ॥

स्तिघ्नुते । तिष्टिघे । स्तेघिता । स्तेघिष्यते । स्तिघ्नुताम् । अस्तिघ्नुत । स्तिघ्नुवीत । आशिषि—स्तेघिषीष्ट । अस्तेघिष्ट ॥

तिष्टेघिषते, तिष्टिघिषते । स्तिघित्वा, स्तेघित्वा । 'रलो व्युपधात्' इति कित्त्वविकल्पः ॥

तेष्टिघ्यते । तेष्टेग्धि ॥

स्तेघयति । अतिष्टिघत् । खयश्शेषः ॥

स्तिघितः । स्तिघितवान् ॥

अशिस्तिघी उदात्तावनुदात्तेतौ ॥

तिक तिग च ॥ २०—२१ ॥

चकारादास्कन्दन इत्यनुकृष्यते । तिक्नोति । तितेक । तितेकिथ । तितिकिव । तेकिता । तेकिष्यति । तिक्नोतु । अतिक्नोत् । तिक्नुयात् । तिक्यात् । अतेकीत् ॥

तितिकिषति, तितेकिषति । **तेतिक्यते** । **तेतेक्ति** ॥

तेकयति । **अतीतिकत्** ॥

तिकः—इगुपधलक्षणः कः ॥

तैकायनिः—'तिकादिभ्यः फिञ्' इत्यपत्ये फिञ् ॥

तैकायनयश्च कैतवायनयश्च **तिककितवाः**—'तिककितवादिभ्यो द्वन्द्वे' इति बहुषु लुक् ॥

तिग्नोतीत्यादि तिकिवत् ॥

षघ हिंसायाम् ॥ २२ ॥

सघ्नोति । ससाघ । सेघतुः । सेघिथ । सेघिव । सघिता । सघिष्यति । सघ्नोतु । असघ्नोत् । सघ्नुयात् । सघ्यात् । असघीत्, असाघीत्—'अतो हलादेर्लघोः' इति वा वृद्धिः ॥

सिसघिषति—'स्तौतिण्योरेव' इति न षत्वम् ॥

सासघ्यते । **सासघीति** ॥

साघयति । **असीसघत्** ॥

ञि धृषा प्रागल्भ्ये ॥ २३ ॥

धृष्णोति । दधर्ष । दधृषतुः । दधर्षिथ । दधृषिव । धर्षिता । धर्षिष्यति । धृष्णोतु । अधृष्णोत् । धृष्णुयात् । आशिषि—धृष्यात् । अधर्षीत् ॥

दिधर्षिषति । दरीधृष्यते । दर्धर्ष्टीत्यादि ॥

धर्षयति । अदीधृषत् अदधर्षत्—'उर्द्वा' ॥

धृष्यः—'ऋदुपधात्' इति क्यप् ॥

दधृक् । दधृषौ—'ऋत्विक्' इत्यादौ निपातनात्क्विनि द्वित्वं पदान्ते कुत्वं च ॥

धृष्णुः—'त्रसिगृधि' इति क्नुः । धृष्णक् । धृष्णजौ—'धृषेश्च' इति वक्तव्यान्नजिङ् ॥

दुर्धर्षणः—'भाषायां शासियुधि' इत्यादिना युच् ॥

धर्षित्वा—'न क्त्वा सेट्' इत्यकित्त्वाद्गुणः ॥

धृष्टो वृषलः—'धृषशसी वैयात्ये' इत्यनिट्त्वम् । 'आदितश्च' इत्यनिट्त्वे सिद्धे वचनमिदं नियमार्थम् । तेन वैयात्यादन्यत्र धर्षित इतीड्भवति । भावादिकर्मणोः वैयात्ये न धृषिरस्तीति तत्र नित्यनिषेधार्थं न भवति, वैयात्यादन्यत्र भावादिकर्मणोः विकल्प एव भवति ॥

धृष्टं, धर्षितम् । प्रधृष्टः, प्रधर्षितः । तत्रेट्पक्षे 'निष्ठाशीङ्' इत्यादिना कित्त्वाभावाद्गुणः । ञित्त्वं वर्तमाने क्तार्थम् ॥

धृष प्रसहन इति युजादौ ॥

दम्भु दम्भे ॥ २४ ॥

दम्भो लोकरञ्जनार्थमेक*कर्मानुष्ठानम् ॥

दभ्नोति—'अनिदिताम्' इति नलोपः ॥

ददम्भ । देभतुः । देभुः । ददम्भिथ । देभिव । 'श्रन्थिग्रन्थिदन्भिस्वञ्जीनामिति वक्तव्यम्' इति अपितो लिटः कित्त्वादनुनासिकलोपः । 'दन्भेश्चेति वक्तव्यम्' इत्येत्वाभ्यासलोपौ । 'अत एक हल्मध्ये' इति तु न सिध्यति, 'असिद्धवदत्राभात्' इत्यनुनासिकलोपस्यासिद्धत्वात् । इदं च कित्वं श्रन्थ्यादीनां अपिदर्थं पिदर्थं चेति सुधाकरः । आत्रेयमैत्रेयादयस्तु—अपिदर्थमिति । न्यासकारस्याप्ययमेव पक्षः, यदाह—श्रन्थिग्रन्थिप्रभृतीनां संयोगान्तानामपि लिटः कित्वमिति । अपिद्वचनानामेवोदाहरणाद्वृत्तिकारस्याप्ययमेव पक्षोऽभिमतः प्रतीयते । हरदत्तस्तु—किमिदं पिदर्थं उतापिदर्थं वेति सन्दिह्यार्थतत्वं देवो ज्ञातुमर्हतीत्याह । केचित् 'श्रन्थिग्रन्थिदन्भिस्वञ्जीनां वा' इति पठन्तः कित्त्वं विकल्पयन्ति । तन्मते **ददम्भतुः** इत्याद्यपि भवति ॥

दम्भिता । दम्भिष्यति । दभ्नोतु । अदभ्नोत् । दभ्नुयात् । दभ्यात् । अदम्भीत् ॥

दिदम्भिषति—'सनीवन्त' इतीड्विकल्पः । इडभावे—**धिप्सति ।**

---

*मेव.

धीप्सति—'दन्भ इच्च' इत्यकारस्य इकार ईकारश्च । 'हलन्ताच्च' इति सनः किच्वादनुनासिकलोपः । अत्र हल्ग्रहणेन जातिराश्रीयते । 'एकाचः' इति भष्भावेन दकारस्य धकारः । 'खरि च' इति चर्त्वे भकारस्य पकारः । 'अत्र लोपः' इत्यभ्यासलोपः। अत्रेक्समीपाद्धलः परस्सन् भवति । हल्जातिराश्रयाणाज्जातेस्समीपत्वं सनः पूर्वत्वं च व्यक्तिद्वारेण । तथा च वार्तिकं 'दन्भेर्हल्ग्रहणस्य जातिवाचकत्वात्सिद्धम्' इति ॥

दादभ्यते । दादम्भि ॥

दम्भयति । अददम्भत् ॥

दम्भित्वा, दब्ध्वा—उदित्त्वादिड्विकल्पः ॥

दब्धः । दब्धवान्—'यस्य विभाषा' इत्यनिट्त्वम् ॥

दब्धिः—'तितुत्र' इतीण्णिषेधः ॥

दभिरिति सौत्रो धातुः । तस्मात् 'आसुयुवपि' इत्यादौ चकारस्यानुक्तसमुच्चयार्थत्वात् 'पोरदुपधात्' इति यतोऽपवादे ण्यति—**दाभ्यः** ॥

ऋधु वृद्धौ ॥ २५ ॥

ऋध्नोति । ऋध्नोतु । आर्ध्नोत् । शेषं ऋध्यतिवत् । अयमकर्मकस्सकर्मकश्च । अत्र तृप प्रीणने इत्यात्रेयादयः पठन्तः तृप्नोतीत्याद्युदाहरन्ति । अमुं न्यासकारादयोऽत्र नेच्छन्ति । यदाहुः—क्षुभ्नादिषु तृप्नोतीति व्यत्ययेन क्षुरिति । 'तृप्यतिदृप्यती सृपिं' इत्यनिट्का-

रिकायां श्यना निर्देशाऽव्यावर्त्यत्वेन 'तुदादिषु यौ तृपदृपी द्वौ उदात्तौ' इति वृत्तिकारेणाभिधानात् सोऽप्यमुं नेच्छतीति प्रतीयते। पुरुषकारेऽप्येवं प्रतिपादितम् ॥

छन्दसि ॥

आगणान्ताच्छन्दसीत्यर्थः। अन्यस्तु 'छन्दस्यह व्याप्तौ' इति पठित्वा छन्दोग्रहणमह्नोतिशेषं मन्यते । तच्छाकटायनात्रेयमैत्रेयादयो न सहन्ते ॥

अह व्याप्तौ ॥ २६ ॥

अह्नोतीत्यादि ॥

दघ घातने पालने च ॥ २७ ॥

दघ्नोतीत्यादि । 'धाराधरा एव धराधराणां निदाघदावौघविघातदक्षाः' इति ॥

दघ घातन इति स्वादिः। ततो दघ्यतेऽनेनेति कृत्वा निदाघस्साधुरिति पारायणिका इति सुधाकरः । तदपाणिनीयं, संज्ञायामवमेघनिदाघावदाघा इति न्यङ्क्वादौ पठित्वा दहतेर्घञि कुत्वोत्पादनात् । तथा च तत्र वृत्तिः—अवपूर्वस्य निपूर्वस्य च दहेरिति ॥

चमु भक्षणे ॥ २८ ॥

चञ्नोतीत्यादि ॥

रि क्षि चिरि जिरि दाश दृ हिंसायाम् ॥ २९-३४ ॥

रिणोति । क्षिणोति । अयं भाषायामपीत्यात्रेयमैत्रेयादयः । प्रयुज्यते च 'इमां हृदि व्यायतपातमक्षणोत्' 'न तद्यशश्शस्त्रभृतां क्षिणोति' 'पञ्चबाणः क्षिणोति' इति । शाकटायनादयस्तु छान्दसत्वमेवाहुः । केचित्तु—ऋक्षीत्येकमजादिं च मन्यन्ते ॥

चिरिणोति, जिरिणोति, दाश्नोति, दृणोति । केचिदत्र दुङमपि पठन्ति—दुनुत इति । यदाह दुर्गः—'तिकतिगषिघऋक्षिचिरिजिरिदाशदृदुङ् हिंसायम् । छान्दसाश्चामी' इति ॥

वृत् ॥

स्वादयो वृत्ता इत्यर्थः ॥

इति श्रीपूर्वपश्चिमदक्षिणसमुद्राधीश्वरकम्पराजसुतसङ्गममहाराजमहामन्त्रिणा मायणसुतेन माधवसहोदरेण विरचितायां माधवीयायां धातुवृत्तौ स्वादयस्सम्पूर्णाः.

अथ शविकरणम्.

तुद व्यथने ॥ १ ॥

तुदति । तुदतः । तुदन्ति । तुदसि । तुदथः । तुदथ । तुदामि । तुदावः । तुदामः । 'तुदादिभ्यश्शः' इति शब्विषये शः ॥

तुदती, तुदन्ती स्त्री । तुदती कुले, तुदन्ती कुले— 'आच्छीनद्योर्नुम्' इति शत्रन्तस्य शीनद्योर्नुम्विकल्पः ॥

तुदते । तुदेते । तुदन्ते । तुदसे । तुदध्वे । तुदे । तुदावहे ॥

तुतोद । तुतुदतुः । तुतुदुः, तुतोदिथ । तुतुद, तुतोद । तुतुदिव । तुतुदे । तुतुदाते । तुतुदिरे । तुतुदिषे । तुतुदाथे । तुतुदिध्वे । तुतुदे । तुतुदिवहे—क्रादिनियमादिट् ॥

तोत्ता । तोत्स्यति । तोत्स्यते । तुदतु, तुदतात् । तुदताम् । तुदन्तु । तुद, तुदतात् । तुदतम् तुदत । तुदानि । तुदाव ॥

तुदताम् । तुदेताम् । तुदन्ताम् । तुदस्व । तुदेथाम् । तुदध्वम् । तुदै । तुदावहै । अतुदत् । अतुदः । अतुदम् । अतुदत । अतुदथाः । अतुदे । तुदेत् । तुदेताम् । तुदेयुः । तुदेः । तुदेयम् । तुदेत । तुदेयाताम् । तुदे-

रन् । तुदेथाः । तुदेय । तुदेवहि । आशिषि—तुद्यात् । तुद्यास्ताम् । तुत्सीष्ट । तुत्सीयास्ताम् । 'लिङ्सिचावात्मनेपदेषु' इति कित्वान्न गुणः । अतौत्सीत् । अतौत्ताम् । अतौत्सुः । अतौत्सीः । अतौत्सम्—'वदव्रज' इति वृद्धिः, 'झलो झलि' इति सिचो लोपः । अतुत्त । अतुत्साताम् ॥

तुतुत्सति । तुतुत्सते । 'हलन्ताच्च' इति सनः कित्त्वम् ॥

तोतुद्यते । तोतुदीति । 'नाभ्यस्तस्याचि पिति' इति न गुणः । तोतोत्ति—लघूपधगुणः ॥

तोदयति । अतूतुदत् ॥

तिलंतुदः—'वातशुनी' इत्यादिना लुक् ॥

विधुंतुदः । अरुंतुदः—'विध्वरुषोस्तुदः' इति खश् । 'अरुर्द्विषदजन्तस्य' इति मुम् । 'संयोगान्तस्य' इत्यरुषस्सलोपः ॥

तोत्रम्—'दाम्नि' इत्यादिना करणे ष्ट्रन् ॥

प्रतोदः—'हलश्च' इति संज्ञायां करणे घञ् ॥

तुत्वा । तुन्नः, तुन्नवान्—'रदाभ्याम्' इति नत्वम् ॥

तुत्थम्—'पातॄतुदि' इति थक् ॥

णुद प्रेरणे ॥ २ ॥

प्रणुदते । प्रणुदतीत्यादि तुदिवत् । 'उपसर्गादसमासेऽपि' इति णत्वम् ॥

नुत्वा । **नुत्तः**, **नुन्नः** । **नुत्तवान्**, **नुन्नवान्**—'नुदविद' इति नत्वविकल्पः ॥

काकुर्जिह्वा, साऽस्मिन्नुद्यत इति **काकुदं** तालु—'घञर्थे कविधानम्' इति कः, पृषोदरादित्वान्नलोपः, पररूपं च ॥

शोकापनुदः—'तुन्दशोकयोः परिमृजापनुदोः' इत्यनयोः कर्मणोरुपपदयोः परिमृजापनुदोः कर्मण्यणोऽपवादः कः । अयं च शोकमपनुद्य सुखस्याहर्तरि 'आलस्यसुखाहरणयोरिति वक्तव्यम्' इति वचनात् । यस्तु शोकमपनुदति, सुखं नाहरति तत्राणि **शोकापनुद** इति ॥

अयं भाषायां परस्मैपद्येवेति वर्धमानः । स्वाम्यपि तथा परस्मैपदेष्वेवामुं पपाठ । तदुभयमात्रेयमैत्रेयाद्यनेकव्याख्यातृविरुद्धम्; यदाहुः—उभयपदिषु पठितस्यास्य पुनः परस्मैपदिषु पाठः कर्त्रभिप्रायेऽपि परस्मैपदार्थ इति ॥

दिश अतिसर्जने ॥ ३ ॥

दिशति । **दिशते** । **दिदेश** । **दिदेशिथ**, **दिदिशिव** । **दिदिशे** । **दिदिशिषे** । **दिदिशे** । **दिदिशिवहे** । **देष्टा** । **देक्ष्यति**, **देक्ष्यते** । व्रश्चादिना षत्वे 'षढोः कः सि' इति कत्वम् ॥

दिशतु, दिशताम् । अदिशत्, अदिशत । दिशेत्, दिशेत । आशिषि—दिश्यात् । दिक्षीष्ट । अदिक्षत् । अदिक्षताम् । अदिक्षन् । अदिक्षः । अदिक्षम् । अदिक्षत । अदिक्षाताम् । अदिक्षन्त । अदिक्षथाः । अदिक्षि । अदिक्षावहि—'शल इगुपधात्' इति क्सः, 'क्सस्याचि' इत्यल्लोपः ॥

दिदिक्षति । दिदिक्षते—'हलन्ताच्च' इति सनः कित्त्वम् ॥

देदिश्यते । देदिशीति, देदेष्टि । देशयति । अदीदिशत् ॥

दिक्, दिशौ, दिशः—'ऋत्विक्' इत्यादिना क्विनि, 'क्विन्प्रत्ययस्य कुः' इति कुत्वं द्वितीयः; पदान्ते तस्य जश्त्वं गकारः । 'वाऽवसाने' इति चर्त्वं ककारः । न च कुत्वस्य जश्त्वे पूर्वत्रासिद्धिः; 'दिगादिभ्यो यत्' इति निर्देशात् । नापि कुत्वं व्रश्चादिना षत्वे असिद्धम्; षत्वापवादत्वात्तस्य ॥

प्रतिदिशम्—वीप्सायामव्ययीभावः । 'अव्ययीभावे शरत्प्रभृतिभ्यः' इति टच्समासान्तः ॥

दिशा—'आपं चापि हलन्तानाम्' इति वागुरिवचनाट्टाप् ॥

दिशि भवं दिश्यम्—'दिगादिभ्यो यत्' इति यत् ॥

नामादेशं युध्यते—'नाम्न्यादिशिग्रहोः' इति द्वितीयान्ते नाम्न्युपपदे आदिशेः धातुसम्बन्धे णमुल् । वाक्यं समासो वाऽस्तु । 'तृतीयाप्रभृतीनि' इति समासो विकल्प्यते । नामा-

दिश्य युध्यत इति क्त्वाऽपि भवति। उक्तं हि—'तृतीयाप्रभृतीनि' इत्यत्र वृत्तौ सर्वस्मिन्नेवात्र णमुल्प्रकरणे क्रियाभेदे सति वास-रूपविधिना क्त्वाऽपीति ॥

दिष्टं—क्तः ॥

दैष्टिकः—'अस्तिनास्ति दिष्टं मतिः' इत्यस्त्यादिभ्यो मत्यु-पाधिकेभ्योऽस्येत्यर्थे ठक् । 'प्रमाणानुपातिनी यस्य मतिरस्ति स दैष्टिकः' इति वृत्तिः । एतच्चाभिधानस्वभावाल्लब्धम् ॥

दिष्टिः—संज्ञायां क्तिच् ॥

दिशति तमिति **देशः**—'अकर्तरि च कारके' इति क-र्मणि घञ् ॥

प्रादेशः—'हलश्च' इति संज्ञायां करणे घञ् । 'उपस-र्गस्य घञि' इति दीर्घः ॥

प्रदेशिनी—णिनिः ॥

भ्रस्ज पाके ॥ ४ ॥

भृज्जति । भृज्जसि । भृज्जामि । भृज्जते । भृज्जसे । भृज्जे । शस्य 'सार्वधातुकमपित्' इति ङित्त्वात् 'ग्रहिज्या' इत्यादिना सम्प्रसारणे परपूर्वत्वं, 'झलां जश्झशि' इति सकारस्य दकारे तस्य श्चुत्वं जकारः। न च श्चुत्वे दत्वमसिद्धम् । 'भृ-ज्जतीनाम्' इति निर्देशादिति व्याख्यातारः । यद्वा—जश्त्वस्या-

सिद्धत्वात् सकारस्यैव श्चुत्वे शकारे तस्य 'झलां जश् झशि' इति जश्त्वेन जकारेऽपि रूपं सेत्स्यति ॥

बभर्ज । बभर्जतुः । बभर्जुः । बभर्जिथ, बभर्ष्ठ । बभर्जथुः । बभर्जिव । बभर्जे । बभर्जाते । बभर्जिरे । बभर्जिषे इत्यादि । क्रादिनियमादिट् । थलि भारद्वाजनियमाद्विकल्पः । 'भ्रस्जो रोपधयो रमन्यतरस्याम्' इत्यार्धधातुके रेफोपधयोर्निवृत्तिः, रमागमश्च विकल्पेन । आगमेऽकार उच्चारणार्थः । अन्यथा—**बभ्रज्ज बभ्रज्जतुः । बभ्रज्जुः । बभ्रष्ठ, बभ्रज्जिथ । बभ्रज्जथुः । बभ्रज्ज । बभ्रज्जिव । बभ्रज्जे । बभ्रज्जाते । बभ्रज्जिरे । बभ्रज्जिषे** इत्यादि ॥

भ्रष्टा, भर्ष्टा—रमभावे सकारस्य 'स्कोः' इति लोपः । व्रश्चादिनोभयत्र जकारस्य षत्वे ष्टुत्वम् ॥

भक्ष्यति । भर्क्ष्यते—रमभावे 'स्कोः' इति सलोपः । सर्वत्र व्रश्चादिना षत्वे 'षढोः कस्सि' इति कत्वम् ॥

भृज्जतु, भृज्जताम् । अभृज्जत्, अभृज्जत । **भृज्जेत् । भृज्जेताम् । भृज्जेयुः । भृज्जेत । भृज्जेयाताम् । भृज्जेरन्** ॥

आशिषि—**भृज्यात् । भृज्यास्ताम्** । यासुटः किन्त्वात्प्रसारणम् । रमागमस्त्वनेन पूर्वविप्रतिषेधेन बाध्यते ॥

भर्क्षीष्ट, भर्क्षीयास्ताम् । भ्रक्षीष्ट भ्रक्षीयास्तामित्यादि । रमागमतदभावयोरसलोपादि पूर्ववत् ॥

अभार्क्षीत् । **अभार्ष्टाम्** । **अभार्क्षुः** । **अभार्क्षीः** । **अभार्ष्टम्** । **अभार्ष्ट** । **अभार्क्षम्** । **अभार्क्ष्व** । **अभ्राक्षीत्** । **अभ्राष्टाम्** । **अभ्राक्षुः** इत्यादि । 'वदव्रज' इति वृद्धिः । झलि सिचो लोपे सकारस्याभावात् 'षढोः कस्सि' इति न भवति ॥

अभर्ष्ट । **अभर्क्षाताम्** । **अभर्क्षत** । **अभर्ष्ठाः** । **अभर्क्षाताम्** । **अभर्ढ्वम्** । **अभर्क्षि** । **अभर्क्ष्वहि** । **अभ्रष्ट** । **अभ्रक्षाता**मित्यादि । पूर्ववद्यथायोगं सलोपषत्वकत्वानि । यत्र न सिचो लोपः तत्र कात्परत्वात् 'आदेशप्रत्यययोः' इति षत्वम् ॥

बिभर्क्षति । **बिभर्ज्जिषति** । **बिभ्रक्षति**, **बिभ्रज्जिषति** । 'सनीवन्त' इत्यादिनेड्विकल्पः । तङ्यपि—**बिभर्क्षत** इत्यादि चातूरूप्यम् ॥

बरीभृज्ज्यते । आशीर्लिङ्वदत्रापि रोपधलोपात्पूर्वविप्रतिषेधेन प्रसारणमेव भवति । अभ्यासस्योरदत्वे 'रीगृत्वतः' इति रीक् । 'भ्रस्जो रोपधयोः' इति लोपोऽभ्यासस्य न भवति, तत्रोपदेशग्रहणानुवृत्तेः । **बाभ्रष्टी**त्यादि । अत्र यङो लुका लुप्तत्वात् शितपा निर्देशाद्वा न सम्प्रसारणम् । अत एव लुका लुप्तत्वादार्धधातुकपरत्वाभावात् रोपधयोर्लोपोऽपि न भवति ॥

भर्ज्जयति । **अबभर्ज्जत्** । **भ्रज्जयति** । **अबभ्रज्जत्** ॥

भर्ग्यः, **भ्रद्ग्यः** । ण्यति रोपधलोपे 'चजोः कुघिण्यतोः' इति कुत्वम् । लोपाभावे तु जश्त्वात्पूर्वं 'पूर्वत्रासिद्धम्' इति 'चजोः' इति कुत्वेन जकारस्य गकारे पश्चात्सकारस्य जश्त्वं दकारः ॥

भर्गः, भ्रङ्गः—घञ् पूर्ववत्प्रक्रिया ॥

भर्गस्यापत्यं **भार्गायणः**—'भर्गात्त्रैगर्ते' इति फञ् । त्रैगर्ता-दन्यत्र अत इञ्—**भार्गिः** ॥

भृष्टः । भृष्टवान् ॥

भृगुः—'प्रथिम्रदिभ्रस्जां सम्प्रसारणं सलोपश्च' इत्युप्रत्ययः, प्रसारणसलोपौ च । 'न्यङ्क्वादीनां च' इति कुत्वम् ॥

भृगोरपत्यं **भार्गवः**—'ऋष्यन्धकवृष्णि' इत्यण् । बहुत्वे—**भृगवः** 'अत्रिभृगु' इत्यादिनाणो लुक् ॥

भ्राष्ट्रम्—'भ्रस्जिगमि' इत्यादिना ष्ट्रन्, वृद्धिश्च ॥

भर्जत इति शपि ॥

क्षिप प्रेरणे ॥ ५ ॥

क्षिपति । क्षिपते । अभिक्षिपति । प्रतिक्षिपति । अतिक्षिपति । 'अभिप्रत्यतिभ्यः क्षिपः' इति क्रियाफलस्य कर्तृगामित्वेऽपि पर-स्मैपदम् । इदं च शुद्धे कर्तरि । कर्मकर्तरि तङ् भवति, **अभिक्षिप्यत** इति ॥

चिक्षेप । चिक्षेपिथ । चिक्षिपिव । चिक्षिपे । चिक्षि-पिषे ॥

क्षेप्ता । क्षेप्स्यति, क्षेप्स्यते । क्षिपतु, क्षिपताम् । अक्षिपत् । अक्षिपत । क्षिपेत्, क्षिपेत । क्षिप्यात्, क्षिप्सीष्ट । अक्षैप्सीत् ।

अक्षैप्ताम् । अक्षिप्त, अक्षिप्सातान् । 'लिङ्सिचावात्मनेपदेषु' इति कित्वान्न गुणः ॥

चिक्षिप्सति । चिक्षिप्सते—'हलन्ताच्च' इति सनः कित्वम् ॥

चेक्षिप्यते । चेक्षिपीति । चेक्षेप्ति । क्षेपयति । अचिक्षिपत् ॥ कृतः क्षिप्यतिवन्नेयाः ॥

कृष विलेखने ॥ ६ ॥

कृषति । कृषते । चकर्ष । चकृषतुः । चकृषिथ । चकर्ष । चकृषिव, चकृषे । चकृषाते । चकृषिषे इत्यादि॥

कर्ष्टा, क्रष्टा । कर्क्ष्यति, क्रक्ष्यति । कर्क्ष्यते क्रक्ष्यते । झल्यकिति 'अनुदात्तस्य चर्दुपधस्य' इति पाक्षिके अमागमे यणादेशः ॥

कृषतु, कृषताम् । अकृषत्, अकृषत । कृषेत् । कृषेताम् । कृषेत । कृषेयाताम् । आशिषि—कृष्यात् । कृक्षीष्ट—'लिङ्सिचावात्मनेपदेषु' इति कित्वान्नामागमो नापि गुणः ॥

अकृक्षत् । अकृक्षताम् । अकृक्षन् । अकृक्षत । अकृक्षाताम् । अकृक्षन्त । 'क्सस्याचि' इत्यल्लोपोऽजादौ । 'शल इगुपधादनिटः क्सः' । अकार्क्षीत् । अकार्ष्टाम् । अकार्क्षुः । अक्राक्षीत् । अक्राष्टाम् । अक्राक्षुः । अकृष्ट । अकृक्षाताम् । अकृक्षत—

'स्पृशमृशकृष' इति पक्षे सिच्। झलि तस्य लोपः। 'वदव्रज' इति परस्मैपदे वृद्धिः। पूर्ववदमागमविकल्पः। आत्मनेपदे तु 'लिङ्सिचौ' इति कित्त्वान्नामागमः; अत एव न गुणः॥

चिकृक्षति—'हलन्ताच्च' इति सनः कित्त्वान्नामागमो नापि गुणः॥

चरीकृष्यते। चरीकर्ष्टि, चरीकृष्टीत्यादि। कर्षयति। अचीकृषत्, अचकर्षत्—'उर्ऋत्' ॥

कृषिः—'इक्कृष्यादिभ्यः' इतीक्॥

कृषीवलः—'रजःकृष्यासुति' इति मत्वर्थे वलच्; 'वले' इति दीर्घः॥

सङ्कर्षणः—नन्द्यादित्वाल्ल्युः॥

कृषकः—'क्वुन् शिल्पिसंज्ञयोः' इति क्वुन्। 'सप्तम्यां चोपपीड' इत्यत्र कर्ष इति कर्षतेरिदं ग्रहणम्, न कृषतेरिति वृत्तिः। आत्रेयस्तु—व्याख्यानमात्रमेतद्विशेषाभावादिति। हरदत्तस्तु विशेषमाह—यद्यप्युभयोरपि विलेखने पाठः। तथाऽपि तौदादिकस्य क्षेत्रविषये विलेखने वृत्तिः। तेन क्षेत्रे उपकृष्य हलेनोपकृष्य इति तौदादिकात् क्त्वाप्रत्यय एव भवति, न णमुलिति। न्यासकारोऽपि कर्ष इति शपा निर्देशाद्भौवादिकस्य ग्रहणमित्याह॥

तुदादयोऽनुदात्तास्स्वरितेतः॥

षान्तप्रसङ्गात्सेटं परस्मैपदिनमाह—

ऋषी गतौ ॥ ७ ॥

ऋषति । प्रार्षति—'उपसर्गादृति' इति वृद्धिः ॥

आनर्ष । आनृषतुः । आनृषुः । आनर्षिथ । आनृषिव । अभ्यासस्योरदत्वे हलादिश्शेषे 'अत आदेः' इति दीर्घः । 'तस्मान्नुड्द्विहलः' इति नुट् ॥

आर्षिता । आर्षिष्यति । ऋषतु । आर्षत् । 'आटश्च' इति वृद्धिः । **ऋषेत् । ऋष्यात् । मा भवानर्षीत् ।** 'नेटि' इति न वृद्धिः । **आर्षिषिषति**—परत्वाद्गुणे कृते द्वितीयस्यैकाचो द्विर्वचनं 'नन्द्राः' इति रेफस्य न भवति ॥

अर्षयति । आर्षिषत् ॥

अर्षित्वा—'न क्त्वा सेट्' इत्यकित्त्वम् ॥

ऋष्टः, ऋष्टवान्—ईदित्त्वादनिट्त्वम् ॥

ऋषभः—'ऋषिवृषिभ्यां कित्' इत्यभच् ॥

आर्षभ्यो वत्सः—'ऋषभोपानहोर्ञ्यः' इति विकृतिवाचिनः ऋषभशब्दात् विकृत्यर्थायां प्रकृतौ ञ्यः । अत्र ऋषभावस्था विकृतिः, वत्सावस्था प्रकृतिः ॥

ऋषभतरः—भारवहने मन्दशक्तिरनड्वान् । 'वत्सोक्ष' इत्यादिना ष्टरच् । अत्र तनुत्वेन भारवहनाशक्तिरुच्यते ॥

ऋक्षम्—'स्तुवृश्चिऋषिभ्यः' इति क्सः । उदात्त उदात्तेत् ॥

षान्तसेडीदित्प्रसङ्गात् तादृशमात्मनेपदिनमाह—

जुषी प्रीतिसेवनयोः ॥ ८ ॥

जुषते । **जुजुषे** । **जुजुषिषे** । **जोषिता** । **जोषिष्यते** । **जुषताम्** । **अजुषत** । **जुषेत** । आशिषि—**जोषिषीष्ट** । **अजोषिष्ट** । **अजोषिषाताम्** ॥

जुजुषिषते, जुजोषिषते । **जुषित्वा, जोषित्वा**—'रलो व्युपधात्' इति कित्त्वविकल्पः ॥

जोजुष्यते । **जोजोष्टि** । **जोषयति** । **अजूजुषत्** ॥

जुष्यः—'एतिस्तु' इत्यादिना क्यप् ॥

जुष्टः, जुष्टवान्—ईदित्त्वादनिट्त्वम् ॥

सजूः । **सजुषौ** । **सजुषः** । सम्पदादित्वात्क्विप्, क्विबन्तस्य सहशब्देन बहुव्रीहौ 'वोपसर्जनस्य' इति सभावः । 'ससजुषोरुः' इति पदान्ते रुत्वे 'र्वोरुपधाया दीर्घः' इति दीर्घः । विद्यमानप्रीतिरित्यर्थः । यस्तु सहार्थे रूढः सजूश्शब्दः तस्य 'सजूस्सहार्थे' इत्यूर्यादिपाठाद्गतित्वनिपातत्वयोः 'कुगतिप्रादयः' इति समासे ल्यपि—**सजूःकृत्येति** भवति । सजूरित्येकवचनान्तस्य पाठात् द्विवचनबहुवचनान्तयोर्न भवति गतित्वम्, नापि निपातत्वमित्यात्रेयः । द्विवचनबहुवचनान्तयोस्सहार्थे वृत्त्यभावादेव गतित्वं

निपातत्वं च न भविष्यतीति यत्किञ्चिदेतत् । रूढत्वादेव ह्यमोघान्यासे सजूःकृत्य सहकृत्येत्यर्थ इत्युक्त्वा जुषतेर्जूरतेर्वा क्विपि समानस्य सभावः इति व्युत्पत्तेरनियमो दर्शितः ।

जोषमिति स्वरादिपाठादघञि मान्तत्वं, स्वभावाक्रियाविषयः ॥

ओ विजी भयचलनयोः ॥ ९ ॥

प्रायेणायमुत्पूर्वः । उद्विजते । उद्विविजे । उद्विविजिषे । उद्विजिता । उद्विजिष्यते 'विज इट्' इतीडादेः अञ्णितः प्रत्ययस्य ङित्त्वान्न गुणः । उद्विजताम् । उदविजत । उद्विजेत । उद्विजिषीष्ट । उदविजिष्ट ॥

उद्विविजिषते । उद्विजित्वा—क्त्वा सनोः 'रलो व्युपधात्' इति कित्वस्य पाक्षिकत्वेऽप्यस्ति 'विज इट्' इति ङित्त्वमिति न गुणः ॥

उद्वेविज्यते । उद्वेविजीति, उद्वेवेक्ति ॥

उद्वेजयति । उदवीविजत् ॥

उद्विग्नः । उद्विग्नवान्—ईदित्त्वादनिट्त्वम् । चोः कुत्वे ओदित्त्वान्निष्ठानत्वम् । वेगित इति घञन्तात् वेगशब्दादितचि । उद्वेजितमिति ण्यन्तस्य निष्ठायामिटि ॥

वेवेक्ति । वेविक्ते इति जुहोत्यादौ पृथग्भावे ॥

ओ लजी ओ लस्जी व्रीडे ॥ १०-११ ॥

लजते । लेजे । लेजिषे । लजिता । लजिष्यते । लजताम् । अलजत । लजेत, लजिषीष्ट लिङि । अलजिष्ट ॥

लिलजिषते । लालज्यते । लालजीति; लालक्ति । लाजयति । अलीलजत् ॥

लजित्वा । लग्नः, लग्नवान्—ईदित्त्वादनिट्त्वम् । ओदित्त्वान्निष्ठानत्वम् । अयं तवर्गपञ्चमादिरिति चान्द्राः । तन्मतेन नग्ननग्निकाशब्दव्युत्पत्तौ तवर्गीयादिरयं स्वामिना पठितः । न तु स्वमतेन । यदाह—'ओ नजी ओ नस्जी व्रीड इति चान्द्राः' इति । आत्रेयमैत्रेयस्वामिसम्मताकारशाकटायनादयस्सर्वे यणादिमेवाहुः । नग्नशब्दस्तु पृषोदरादित्वाद्वर्णव्यत्ययेनेति मैत्रेयः ॥

लज्जते । ललज्जे । लज्जिता । लज्जिष्यते । लज्जताम्, अलज्जत । लज्जेत । लज्जिषीष्ट । अलज्जिष्ट । अलज्जिषाताम् । अलज्जिषत ॥

लिलज्जिषते । लालज्ज्यते । भ्रस्जिवज्जश्त्वश्चुत्वे । लालजीति, लालक्ति—'स्कोः' इति सलोपः ॥

लज्जयति । अललज्जत् ॥

लज्जित्वा । लग्नः, लग्नवान्—निष्ठानत्वस्यासिद्धत्वात् 'स्कोः' इति सलोपः ॥

लज्जा—'गुरोश्च हलः' इत्यकारः ॥

लज्जित इतीतचि । शप्यनयोरपाठस्स्वरार्थः । शपि 'तास्य-नुदात्तेत्' इत्यादिना लसार्वधातुकानुदात्तत्वे शपः पित्त्वादनुदात्तत्वे धातुस्वरेण पदमाद्युदात्तं स्यात् । शे तु प्रत्ययस्वरेण मध्यो-दात्तं भवति ॥

लजति । लाजति । लञ्जति । लाञ्जतीति चत्वारश्शपि भर्त्सने । जुषादय उदात्ता उदात्तेतः ॥

ओदिदुदात्तसोपधप्रसङ्गात्तादृशं परस्मैपदिनमाह—

ओ व्रश्चू छेदने ॥ १२ ॥

वृश्चति—'ग्रहि ज्या' इत्यादिना प्रसारणे परपूर्वत्वं 'स्तोः श्चुना श्चुः' इति सकारस्य शकारः ॥

वव्रश्च । **वव्रश्चतुः** । **वव्रश्चुः** । **वव्रश्चिथ, वव्रष्ठ, वव्र-श्चिव** । संयोगान्तत्वेन लिटः कित्त्वाभावात् ग्रहिज्यादिना सम्प्र-सारण न भवति । अभ्यासस्य 'लिटचभ्यासस्य' इति प्रसा-रणम् । तच्च तत्रोभयेषांग्रहणसामर्थ्यात् हलादिशेषात्पूर्वं प्रवर्त-मानं सम्प्रसारणं 'न सम्प्रसारणे सम्प्रसारणम्' इति पूर्वस्य निषेधात् रेफस्य भवति । कृते तु तस्मिन्नुरदत्वे हलादि-शेषः । न चेदानीं न सम्प्रसारणपरत्वमिति बकारस्य प्रसारणप्रसङ्गः। उरदत्वस्याङ्गत्वादङ्गाक्षिप्तप्रत्ययेन परनिमित्तत्वात् 'अचः पर-स्मिन्' इति स्थानिवत्त्वेन प्रसारणपरत्वात् । ऊदित्त्वात्सर्वत्रेड्विकल्पः । क्रादिनियमः प्रतिषिद्धाविषय इति थल्यपि विकल्प एव भवति ।

तत्रेडभावे झल्परत्वात् ‘स्कोः’ इति सलोपे व्रश्चादिना षत्वे ष्टुत्वम् ॥

व्रष्टा, व्रश्चिता । **व्रक्ष्यति, व्रश्चिष्यति** । अनिटि सलोपषत्वयोः ‘षढोः कस्सि’ इति कत्वम् ॥

वृश्चतु । **अवृश्चत्** । **वृश्चेत्** । **वृश्चेताम्** । आशिषि—**वृश्च्यात्** । **अव्रश्चीत्** । **अव्रश्चिष्टाम्** । **अव्रश्चिषुः** । **अव्रश्चीः** । **अव्रश्चिष्टम्** । **अव्रश्चिष्ट** । **अव्रश्चिषम्** । ‘नेटि’ इति न वृद्धिः । अनिटि तु—**अव्राक्षीत्** । पूर्ववत्सलोपषत्वयोः कुत्वम् । **अव्राष्टाम्**—‘झलो झलि’ इति सिचो लोपे प्रत्ययलक्षणेन ‘षढोः कस्सि’ इति न भवति, तस्य वर्णाश्रयत्वात्, वर्णाश्रये च प्रत्ययलक्षणाभावात् ॥

विव्रश्चिषति, विव्रक्षति । **वरीवृश्च्यते**—‘रीगृत्वतः’ इति रीक् । **वाव्राष्टि** । **वाव्रष्टः** । व्रश्चतीति श्तिपा निर्देशात् ङिद्वचनेषु न संप्रसारणम् ॥

व्रश्चयति । **अवव्रश्चत्** ॥

व्रश्चित्वा—‘जॄव्रश्च्योः क्त्वि’ इति नित्यमिट् । ‘न क्त्वा सेट्’ इत्यकित्त्वान्न संप्रसारणम् ॥

वृक्णः, वृक्णवान्—‘यस्य विभाषा’ इत्यनिट्त्वम् । ओदित्त्वान्निष्ठानत्वम् । तस्य पूर्वत्रासिद्धत्वाज्झल्परत्वेन ‘स्कोः’ इति सलोपः । ‘चोः कुः’ इति कुत्वं च । ‘निष्ठादेशष्षत्वस्व-

रप्रत्ययेड्विधिषु सिद्धो वक्तव्यः' इति व्रश्चादिषत्वे निष्ठादेशस्य सिद्धत्वाज्झलपरत्वाभावान्न षत्वम् ॥

व्रस्क्यः, व्रस्कः—ण्यद्घञौ । 'चजोः कुघिण्यतोः' इति कुत्वम् । अझल्परत्वात्सलोपो न भवति । वव्रश्चेत्यादौ वकारस्योपदेशसामर्थ्याद्रेफे वलि परतो लोपो न भवति । न च वृश्चतीत्यादौ प्रसारणे वल्परत्वाभावात् श्रवणमुपदेशस्य प्रयोजनम् । तत्रापि प्रसारणस्य क्ङित्प्रत्ययापेक्षत्वेन बहिरङ्गत्वेनासिद्धत्वादस्ति वलि लोपप्रसङ्ग इति ॥

वृक्षः—'स्तुवृश्चि' इति सप्रत्यये षत्वे कत्वं, 'स्कोः' इति सलोपश्च ॥

व्यच व्याजीकरणे ॥ १३ ॥

विचति । ग्रहिज्यादिना ङ्कितोः प्रसारणम् ॥

विव्याच । **विविचतुः** । **विव्यचिथ** । **विविचथुः** । **विविच** । **विव्याच, विव्यच** । **विविचिव** । अपितो लिटः कित्त्वात्प्रसारणे द्विर्वचनम् । पिति तु 'लिट्यभ्यासस्य' इत्यभ्यासस्य । 'व्यचेः कुटादित्वमनसि' इत्यञ्णित्प्रत्यये विधीयमानं ङित्त्वं 'अनसि' इति पर्युदासेन तत्सदृशे कृतीति हरदत्तादयः । तेन थल्युत्तमे णलि च णित्त्वाभावपक्षे नास्ति ङित्त्वं नापि कित्त्वम्, पिच्छिट्त्वादिति न प्रसारणम् । अन्ये तु—प्रसज्यप्रतिषेधमाश्रयन्ते, तेनात्रापि ङित्त्वमस्तीति प्रसारणं मन्यन्ते । प्रसज्यप्रतिषेधाश्रयणे प्रमाणं मृग्यम्; वाक्यभेदप्रसङ्गात् ॥

व्यचिता । व्यचिष्यति । विचतु । अविचत् । विचेत् । विच्यात् । अव्याचीत् । अव्याचिष्टाम् । अव्यचीत् । अव्यचिष्टाम्—'अतो हलादेः' इति वा वृद्धिः ॥

विव्यचिषति—तासिस्यसिचां सनश्चाकृत्वान्न ङित्त्वमिति न सम्प्रसारणं, प्रसज्यप्रतिषेधवादिनामत्रापि ङित्त्वात्प्रसारणेन भाव्यम् ॥

वेविच्यते । वाव्यचीति, वाव्यक्ति—श्तिपा निर्देशान्न प्रसारणम् ॥

व्याचयति । अविव्यचत् ॥

विचित्वा—'न क्त्वा सेट्' इत्यकित्त्वेपि क्त्वः कृत्वात् 'व्यचेः कुटादित्वमनसि' इति ङित्वेन प्रसारणं गुणाभावश्च ॥

विचितः, उरुव्यचाः—'गतिकारकपूर्वस्यापि' इत्यसुन् । 'अनसि' इति पर्युदासान्न ङित्त्वम् ॥

उच्छि उञ्छे ॥ १४ ॥

उच्छी विवासे ॥ १५ ॥

उञ्छति, उच्छतीत्यादि भूवादौ व्याख्यातौ ॥

ऋच्छ गतिप्रळयेन्द्रियमूर्तिभावेषु ॥१६॥

ऋच्छति—'छे च' इति तुक् । तुकि यद्वक्तव्यं तत्सर्वं भूवादावुञ्छतौ द्रष्टव्यम् ॥

आनर्छ । आनर्छतुः । आनर्छुः । आनर्छिथ । आनर्छिव—'ऋच्छत्यृताम्' इति लिटि गुणः । 'तस्मान्नुड्द्विहलः' इत्यत्र द्विहल्ग्रहणमनेकहलुपलक्षणमिति नुडागम इति हरदत्तादयः ॥

ऋच्छिता । ऋच्छिष्यति । ऋच्छतु । आर्च्छत् । ऋच्छेत् । ऋच्छ्यात् । मा भवानृच्छीत् । आर्च्छिष्टाम् ॥

ऋचिच्छिषति—अभ्यासे खयश्शेषः ॥

ऋच्छयति—**मा भवानृचिच्छत्** । 'समोगमृच्छि' इति सम्पूर्वादकर्मकात् अस्मात्तङ्—**समृच्छते । समानर्छे । समृच्छिता । समृच्छिष्यते । समृच्छताम् । समार्च्छत । समृच्छेत । समृच्छिषीष्ट । समार्च्छिष्ट ॥**

ऋच्छित्वा, ऋच्छितः ॥

ऋच्छाञ्चकारेति 'गुरोश्च हलः' इत्यकारप्रत्ययान्तादृच्छाशब्दात्कर्मणि द्वितीयान्तात् । न त्वामि, यतः 'अनृच्छः' इत्याम्निषिध्यते ॥

मिच्छ उत्क्लेशे ॥ १७ ॥

उत्क्लेशः पीडा । **मिच्छति । मिमिच्छ । मिमिच्छतुः । मिच्छिता । मिच्छिष्यति । मिच्छतु । अमिच्छत् । मिच्छेत् । मिच्छ्यात् । अमिच्छीत्** । अन्तरङ्गत्वात्पूर्वं तुकि न लघूपधगुणः । वृद्धिस्तु 'नेटि' इति निषिध्यते ॥

मिमिच्छिषति । मेमिच्छ्यते । मेमिच्छीति, मेमेष्टि । मिच्छयति । अमिमिच्छत् ॥

जर्ज चर्च झर्झ परिभाषणसन्तर्जनयोः ॥

॥ १८-२० ॥

जर्जति । जजर्ज ॥

चर्चति ॥

चर्चिका—संज्ञायां क्वुन् ॥

झर्झति ॥

जर्जरः । झर्झरः—बाहुळकात् अरन्नन्तौ ॥

आद्यन्तावपि चान्तावित्येके । चर्चतिझर्झत्योः शपि पाठस्स्वरार्थ इत्युक्तम् ॥

त्वच संवरणे ॥ २१ ॥

त्वचति । तत्वाच । त्वचिता । त्वचिष्यति । त्वचतु । अत्वचत् । त्वचेत् । त्वच्यात् । अत्वचीत्, अत्वाचीत्–'अतो हलादेः' इति वा वृद्धिः ॥

तित्वाचिषति । तात्वच्यते । तात्वचीति, तात्वक्ति ॥

त्वाचयति । अतित्वचत् ॥

त्वचः—पचाद्यच् ॥

त्वचं गृह्णाति त्वचयति—'सत्यापपाश' इत्यादिना णिच् । अत्र णिलोपस्य स्थानिवत्त्वान्न वृद्धिः । अतत्वचत् इत्यत्र

अग्लोपित्वादभ्यासस्य नेत्त्वम् ॥

त्वक्—'अन्येभ्योपि दृश्यते' इति क्विप् ॥

वाक्त्वचम्—'द्वन्द्वाच्चुदषहान्तात्' इति टच् ॥

ऋच स्तुतौ ॥ २२ ॥

ऋचतीत्यादि ऋच्छतिवत् ॥

अर्च्यम्—ण्यति 'यजयाचरुच' इति कुत्वनिषेधः । अत एव कुत्वनिषेधाज्ज्ञापकादृदुपधलक्षणः क्यप् न भवति ॥

ऋक्—क्विप् ॥

ऋचो व्याख्यानं **आर्चिकम्**—'द्व्यजृद्ब्राह्मणप्रथम' इति भवव्याख्यानयोः ठक् ॥

ऋचोऽर्धं **अर्धर्चम्**—'अर्धं नपुंसकम्' इत्येकदेशवाचिनोऽर्धशब्दस्य षष्ठीसमासः । 'ऋक्पूरब्धूः' इत्यादिनाऽकारस्समासान्तः । 'अर्धर्चाः पुंसि च' इति पुन्नपुंसकयोरयम् ॥

अनृचो माणवको ज्ञेयः । 'बह्वृचश्चरणाख्यायाम्' इति विशेषेकारस्मरणात् 'अनृकं साम' 'बह्वृकं सूक्तम्' इत्यादौ शेषलक्षणः कबेव भवति ॥

ऋक् साम च **ऋक्सामे**—'अचतुर' इत्यादिना द्वन्द्वेऽच्समासान्तः । 'न स्तद्धित' इति साम्नष्टिलोपः ॥

उब्ज आर्जवे ॥ २३ ॥

अयमुपध्मानीयोपध इति केचित् । तथा च 'हयवरट्' इत्यत्र वार्तिकं—'अयोगवाहानामट्सु णत्वं शर्षु जश्भावषत्वे' इति । अत्र भाष्यम्—शर्षु चोपदेशः कर्तव्यः । किं प्रयोजनं? जश्भावषत्वे । उब्जिरयमुपध्मानीयोपधः पठ्यते, तस्य जश्त्वे कृते उब्जिता उब्जितुमिति यथा स्यादिति । शर्षु जश्भाव इत्यस्यायमभिप्रायः—शर्षूपदेशाज्झल्त्वाज्जश्त्वमिति । पुनश्च भाष्यम्—यद्युपध्मानीयोपधः पठ्यते तस्य जश्त्वे कृते उबिब्जिषतीत्युपध्मानीयादेर्द्विर्वचनं प्राप्नोतीति । जश्त्वस्यासिद्धत्वादुपध्मानीयादेर्द्विर्वचने जश्त्वेनोपध्मानीयस्य बत्वे उबिब्जिषतीति स्यादिति भावः । तथा च कैयटेऽपि द्विर्वचने पूर्वत्र जश्त्वमसिद्धं, अथापि 'पूर्वत्रासिद्धीयमद्विर्वचने' इति सिद्धं सर्वथोबिब्जिषतीति । किञ्च अभ्युद्गस्समुद्ग इति च न सिध्यतः । यद्यपि गमेरुपसर्गाड्डे सिध्यतः, अस्माद्घञि कृते उपध्मानीयस्य च जश्त्वे अभ्युब्जस्समुब्ज इत्यपि स्याताम् । तदर्थं 'उपध्मानीयस्य च' इति वार्तिकेन कवर्गे परतः उपध्मानीयस्य सकारो विधेयस्स्यात् । तस्मिन् हि जश्त्वेन दत्वं भविष्यति । तस्मादयं दोपधः पठितव्यः । उक्तं च भाष्ये—यद्ययं दोपधः का रूपसिद्धिः उब्जिता उब्जितुमिति । असिद्धे भ उब्जेः । इदमस्ति 'स्तोः श्चुना श्चुः' इति । ततो वक्ष्यामि भ उब्जेः । उब्जेश्च श्चुना सन्निपाते भो भवतीति । ततश्च 'नन्द्राः' इति निषेधे भत्वस्यासिद्धत्वाद्दकारवर्ज्यस्य द्विर्वचने पश्चाद्भत्वे उब्जिजिषतीतीष्टसिद्धिः । न

चात्रास्ति 'पूर्वत्रासिद्धीयमद्विर्वचने' इति । 'नन्द्राः' इत्यस्य द्विर्वचननिषेधरूपत्वात् । न चाभ्युद्गस्समुद्ग इत्यत्र भत्वस्य प्रसङ्गः । तस्य कुत्वे पूर्वत्रासिद्धत्वात् ; कृते चास्मिंश्चवर्गयोगाभावात् । अपरे तु बकारोपधं पठन्तो 'नन्द्राः' इत्यत्र बकारस्यापि प्रतिषेधमुपसंचक्षते । तेषामभ्युद्ग इत्यादौ दत्वमपि वक्तव्यम् ॥

उब्जति । उब्जाञ्चकार । उब्जिता । उब्जिष्यति । उब्जतु । औब्जत् । उब्जेत् । उब्ज्यात् । औब्जीत् ॥

उब्जयति । मा भवानुब्जिजत् ॥

न्युब्जिता । निशेरतेऽस्मिन्निति **न्युब्जो** रोगविशेषः । 'भुजन्युब्जौ पाण्युपतापयोः' इति घञि कुत्वाभावो निपात्यते ॥

ओजः—'उब्जे बलोपश्च' इत्यसुनि बलोपे गुणः ॥

ओजायते—'कर्तुः क्यङ्सलोपश्च' इति **क्यङ्सलोपौ** । अत्रानुवृत्तस्य वाग्रहणस्य व्यवस्थितविभाषात्वान्नित्योत्र सलोपः ॥

ओजसा कृतम्—'ओजस्सहोम्भस्तमसस्तृतीयायाः' इत्यलुक् ॥

उज्झ उत्सर्गे ॥ २४ ॥

अयमपि दोपधः । जश्त्वं तु लाक्षणिकम् । **उज्झतीत्यादि** पूर्ववत् ॥

उद्ध्यः नदः—'भिद्योद्ध्यौ नदे' इति कर्तरि क्यपि झकारस्य दकारो निपात्यते ॥

लुभ विमोहने ॥ २५ ॥

विमोहनमाकुलीकरणम् । **लुभति । लुलोभ । लोभिता, लोब्धा**—'तीषसह' इतीड्विकल्पः ॥

लोभिष्यति । लुभतु । अलुभत् । लुभेत् । लुभ्यात् । अलोभीत् ॥

लुलुभिषति । लुलोभिषति । लुभित्वा, लोभित्वा—'रलो व्युपधात्' इति कित्त्वविकल्पः ॥

लोलुभ्यते । लोलोब्धि ॥

लोभयति । अलूलुभत् ॥

विलुभिताः केशाः—'लुभो विमोहने' इति क्त्वानिष्ठयोर्नित्यमिट् ॥

गार्ध्ये लुभ्यतीति गतम् ॥

रिफ कत्थनयुद्धनिन्दाहिंसादानेषु ॥२६॥

रिफति । रिरेफेत्यादि लुभिवत् । क्त्वायां 'रलो व्युपधात्' इति कित्त्वविकल्पः । 'नोपधात्थफान्ताद्वा' इत्यत्र नोपधग्रहणसामर्थ्यात् । यदि हि स्यात्किं नोपधग्रहणेन । न च ऋफ ऋम्फ हिंसायामिति ऋकारोपधो व्यावर्त्यः । त्रैशब्द्यं हि नः

साध्यं—ऋफित्वा । ऋम्फित्वा । अर्फित्वेति । एतच्च सत्यसति च नोपधग्रहणे भवत्येव । सति तावन्नोपधस्य 'न क्त्वा सेट्' इति प्रतिषेधे सति अर्फित्वेति भवति । नोपधस्यास्मिन् विकल्पे ऋफित्वा ऋम्फित्वेति। असत्यपि नोपधग्रहणे सर्वस्मिन्विकल्पे प्रवृत्तेऽपीदमेव रूपत्रयं भवति ॥

'रिहेति द्रमिडाः' इति स्वामी । अनिट्कारिकासु वामनश्च—रिहिलुही धातुषु न पठ्येते, कैश्चिदभ्युपगम्येते इति । अत्र न्यासे कैश्चिदित्यापिशलिप्रभृतिभिरिति । तस्मात्तावपि स्तः । प्रयुज्यते च—'शिशुं न विप्रा मतिभी रिहन्ति'* इति ॥

तृप तृम्फ तृप्तौ ॥ २७ ॥

आद्यः प्रथमान्त इति वामनः । यदाह—'तृप्यतिदृप्यती सृपिम्' इत्यनिट्कारिकायां श्यना निर्देशस्य व्यावर्त्यं दर्शयन् तुदादिषु यौ तृपिदृपी द्वावुदात्ताविति । आत्रेयमैत्रेयादयस्तु द्वितीयान्तं पठित्वा प्रथमान्तं वामनः पठतीत्याहुः ॥

तृपति । ततर्प । तर्पिता । तर्पिष्यति । तृपतु । अतृपत् । तृपेत् । तृप्यात् । अतर्पीत् । 'स्पृशमृश' इत्यादिना सिचो विकल्पनमङपवाद इति पौषादिकस्यैवेति ॥

तितर्पिषति । तरीतृप्यते । तर्तर्प्ति ॥

तर्पयति । अतीतृपत्, अततर्पत्—'उर्द्वा ॥

---

*तै. सं १-४-८.

तर्पित्वा । तृपितः ॥

तृप्त्वा **तृप्त** इति तृप्यतेः ।

तृम्फति—शस्यङित्त्वात् 'अनिदिताम्' इति नलोपे 'शे तृम्फादीनाम्' इति नुमागमः । येऽत्र सानुषङ्गाः पठ्यन्ते ते तृफादय इति वृत्तिः । प्रकारवाच्यादिशब्दः । प्रकारस्सादृश्यं, तच्च नकारानुषक्ततयेति हरदत्तः ॥

ततृम्फ । तृम्फिता । तृम्फिष्यति । तृम्फतु । अतृम्फत् । तृम्फेत् । तृफ्यात्—यासुटः कित्त्वान्न लोपः । **अतृम्फीत् ॥**

तितृम्फिषति । तरीतृफ्यते । 'रीगृत्वतः' इति रीक् ॥

तृम्फयति । अततृम्फत् ॥

तृफित्वा । तृम्फित्वा । तृम्फितः । क्त्वायां 'नोपधात्थफान्ताद्वा' इति कित्त्वविकल्पनात्पक्षे नलोपः ॥

तुप तुम्प तुफ तुम्फ हिंसायाम् ॥ ॥ २८-३१ ॥

तुपति । तुम्पति । तुफति । तुम्फतीत्यादि पूर्ववत् । एषां भ्वादौ पाठस्स्वरार्थः इति तत्रैवोक्तम् ॥

दृफ दृम्फ उत्क्लेशे ॥ ३२-३३ ॥

प्रथमः प्रथमान्त इति वामनः । तत् तृप्यतावुपपादितम् । अन्ये द्वितीयान्त इति । **दफति । दम्फतीत्यादि ॥**

ऋफ ऋम्फ हिंसायाम् ॥ ३४-३५ ॥

ऋफति । आनर्फ, आनृफतुः । ऋम्फति । ऋम्फाञ्चकार ॥

अर्पिफिषति—सनि गुणे 'नन्द्रा' इति रेफवर्जितस्य द्विर्वचनम् । **ऋम्पिफिषतीत्य**त्राप्यनुस्वारपरसवर्णयोरसिद्धत्वात् नकारवर्ज्यस्य द्विर्वचनम् ॥

आर्फित्वा ऋम्फित्वेत्यादि पूर्ववत् ॥

गुफ गुम्फ ग्रन्थे ॥ ३६-३७ ॥

गुफति । जुगोफ । गुम्फति । जुगुम्फेत्यादि ॥

उभ उम्भ पूरणे ॥ ३८-३९ ॥

उभति । उवोभ, ऊभतुः । 'अभ्यासस्यासवर्णे' इति गुणविषये उवङ् । अन्यत्र सवर्णदीर्घः । **उम्भति । उम्भाञ्चकारेत्यादि ॥**

उभौ—इगुपधलक्षणः कः । नित्यं द्विवचनान्तः । सर्वादित्वात्सर्वनाम । तत्कार्याणि 'सर्वनाम्नस्तृतीया च' इत्यादिरिति यथासम्भवं नेयानि ॥

उभाववयवावस्य **उभयो** मणिरित्यत्र 'सङ्ख्याया अवयवे तयप्' इति तयप्। तस्य 'उभादुदात्तो नित्यम्' इत्ययजादेश उदात्तः ॥

उभाञ्जलि, उभयाञ्जलि। उभाहस्ति, उभयाहस्ति। उभापाणि, उभयापाणि। उभाबाहु, उभयाबाहु—'द्विदण्ड्यादिभ्यश्च' इति बहुव्रीहाविच्प्रत्ययान्ता निपात्यन्ते। उभाबाहूभयाबाहु इत्यत्रैव निर्देशादिचो लोपः। प्रत्ययलक्षणेनेजन्तत्वादव्ययीभावत्वादव्ययत्वमिति न्यासे। द्विदण्ड्यादिगणपाठादेवैषां साधुत्वे सिद्धे 'द्विदण्ड्यादिभ्यश्च' इति सूत्रमिजन्तताविज्ञानार्थम्। तस्य च प्रयोजनमव्ययीभावसंज्ञेति हरदत्तादयः। तिष्ठद्गुप्रभृतिष्विजिति पठ्यते। एते च समुदायनिपातनात्तदर्थविशेष एवावतिष्ठन्ते। तथा च वृत्तिः—द्विदण्डि प्रहरति, द्विमुसलि प्रहरति। एवमुभाञ्जल्यादीनामपि प्रहारोऽन्यपदार्थः ॥

केनोभ्यत इति **कुम्भः**—कर्मणि घञ् ॥

अयस्कुम्भः—'अतः कृकमि' इत्यादिना विसर्जनीयस्य सः। अत एव कुम्भेति निर्देशात्कशब्दाकारस्य लोपः, पररूपं वा ॥

कुम्भी—गौरादित्वात् 'जातेरस्त्री' इति ङीष् ॥

अयस्कुम्भी—लिङ्गविशिष्टपरिभाषया सत्वम् ॥

कुम्भीव नासिकाऽस्य **कुम्भीनसः**—'अञ् नासिकायास्संज्ञायाम्' इत्यादिना नासिकाया नसादेशः, अच्प्रत्ययश्च ॥

शुभ शुम्भ शोभार्थे ॥ ४०-४१ ॥

शुभति, शुम्भतीत्यादि ॥

दृभी ग्रन्थे ॥ ४२ ॥

दृभतीत्यादि । ईदित्त्वान्निष्ठायामनिट्त्वम् ॥

दृब्धः ॥

अयमनिदिच्चुरादौ ॥

चृती हिंसाग्रन्थनयोः ॥ ४३ ॥

चृतति । चचर्त । चचृततुः । चचर्तिथ । चर्तिता । चर्तिष्यति । चर्त्स्यति । चृततु । अचृतत् । चृतेत् । चृत्यात् । अचर्तीत् ॥

चिचृत्सति । चिचर्तिषति—'से सिचि' इत्यादिना सिचोऽन्यस्य सादेरिड्विकल्पः ॥

चरीचृत्यते । चरीचर्ति । चरीचृत्तः ॥

चर्तयति । अचचर्तत् । अचीचृतत् । 'उरृद्वा' ॥

चृत्तः, चृत्तवान्—'यस्य विभाषा' इत्यनिट्त्वे सिद्धे ईदित्त्वेन तस्यानित्यत्वज्ञापनात् धावित इति सिद्ध इति मैत्रेयः । स्वामिकाश्यपौ तु ईदित्त्वं चरीचृत्तः, चरीचृत्तवान् इति यङ्लुगन्तान्निष्ठाया अनिट्त्वार्थमिति ॥

विध विधाने ॥ ४४ ॥

विधति । विवेध । वेधिता । वेधिष्यति । विधतु । अविधत् । विधेत् । विध्यात् । अवेधीत् । अवेधिष्यत् ॥

विविधिषति, विवेधिषति । विधित्वा, वेधित्वा ॥

वेविध्यते । वेवेद्धि । वेधयति । अवीविधत्—'रलो व्युपधात्' इति क्त्वासनोः कित्त्वविकल्पः । विधिशब्दमस्मान्मैत्रेय आह । समर्थसूत्रे भाष्यम्—'विधिरिति कोऽयं शब्दः? विपूर्वाद्धाञः कर्मसाधन इकारे' इति । अत्र कैयटे—'विध विधाने इत्यस्यौणादिकेन्प्रत्ययान्तस्य निवृत्त्यर्थः विपूर्वाद्धाञः' इत्युक्तम् । स्वरे चानयोर्भेदः इन्प्रत्ययान्तस्याद्युदात्तत्वात्किप्रत्ययान्तस्यान्तोदात्तत्वात्तस्यैव प्रयोगार्थमेवमुक्तमिति ॥

जुड गतौ ॥ ४५ ॥

तवर्गपञ्चमान्तमेके पठन्ति । दृश्यते च 'वृष्टिं ये विश्वे मरुतो जुनन्ति'* इति । जुडति । जुजोड । जोडिता । जोडिष्यति । जुडतु । अजुडत् । जुडेत् । जुड्यात् । अजोडीत् ॥

जुजुडिषति । जुजोडिषति । जुडित्वा, जोडित्वा ॥

जोजुड्यते । जोजोट्टि ॥

जुडितः ॥

---

*तै. सं. ३-१-११.

अयं बन्धने ङित्त्वार्थं कुटादौ पठिष्यते, प्रेरणे चुरादौ ॥

मृड सुखने ॥ ४६ ॥

मृडति । ममर्ड । मर्डिता । मर्डिष्यति । मृडतु । अमृडत् । मृडेत् । मृड्यात् । अमर्डीत् ॥

मिमर्डिषति । मरीमृड्यते । मरीमर्ट्टि ॥

मर्डयति । अमीमृडत्, अममर्डत्—'उरृद्वा' ॥

मृडित्वा, मृडितः—'मृडमृथ' इति क्त्वायां कित्त्वम् ॥

मृडः—इगुपधलक्षणः कः ॥

मृडानी—'इन्द्रवरुण' इति ङीषानुकौ ॥

मृडीकं सुखं—मृडेः कीकन् ॥

अयं कथादौ च ॥

पृड च ॥ ४७ ॥

पृडतीत्यादि मृडिवत् ॥

पृण प्रीणने ॥ ४८ ॥

पृणति । पपर्ण । इत्यादि ॥

लोकंपृणः—मूलविभुजादित्वात्कः । 'लोकस्य पृणे' इति मुम् । पृण इति दन्त्योष्ठादिरप्यत्र पठितव्यः । तथा च भाष्यम्—'धात्वन्तरं वृणिपृणी' इति । 'धात्वन्तरमिति तौदादिकावित्यर्थः' इति कैयटे ॥

मृण हिंसायाम् ॥ ४९ ॥

मृणाति । ममर्ण । मर्णितेत्यादि ॥

मृणाळम्—बाहुळकादाळच्, गुणाभावश्च ॥

तुण कौटिल्ये ॥ ५० ॥

तुणति । तुतोण । तोणितेत्यादि ॥

तूण पूरणे इति दीर्घोपध आकुस्मीयः ॥

पुण कर्मणि शुभे ॥ ५१ ॥

पुणतीत्यादि ॥

निपुणः—इगुपधलक्षणः कः ॥

पितरि निपुणः—'साधुनिपुणाभ्यामर्चायां सप्तम्यप्रतेः' इति तद्युक्तात्सप्तमी । 'अप्रतीत्यपनीयाप्रत्यादियोगे' इति वक्तव्यमित्युक्तम् । प्रत्यादयश्च प्रतिपर्यनवः इति प्रागेवोक्तम् । तेन तैर्योगे द्वितीयैव **पितरं प्रति निपुण** इत्यादि ॥

आचारनिपुणः—'पूर्वसदृश' इत्यादिना तृतीयासमासः ॥

नैपुण्यम्—ब्राह्मणादित्वात् ष्यञ् । **नैपुणी**—षित्त्वान्ङीष् । 'हलस्तद्धितस्य' इति यलोपः ॥

नैपुणम्—युवादित्वादण् ॥

अनिपुणः—तत्पुरुषो बहुव्रीहिर्वा । तस्येदं **आनैपुणम्**—'नञ-श्शुचि' इत्यादिना पूर्वपदस्य वा वृद्धिः । उत्तरपदस्य तु नित्या ॥

मुण प्रतिज्ञाने ॥ ५२ ॥

कुण शब्दोपकरणयोः ॥ ५३ ॥

मुणति । कुणतीत्यादि ॥

कोणः—वीणादिवादनम् । 'हलश्च' इति घञ् ॥

आमन्त्रणेऽयं कथादिः दीर्घोपधः । सङ्कोचन आकुस्मीयः ॥

शुन गतौ ॥ ५४ ॥

शुनतीत्यादि ॥

शुनकः—औणादिकः क्वुन् ॥

द्रुण हिंसागतिकौटिल्येषु ॥ ५५ ॥

द्रुणति

घृणति

द्रुणः खर्जूरः—इगुपधात्कः ॥

द्रुणी कच्छपी—गौरादित्वान्ङीष् ॥

द्रोणः—पचाद्यच् ॥

द्रोणी—पूर्ववन्ङीष् ॥

द्रोणस्य गोत्रापत्यं **द्रौणिः द्रोणायनः**—'द्रोणपर्वतजीवन्तादन्यतरस्याम्' इति फगिञौ ॥

द्रोणं पचति **द्रौणी । द्रौणिकी**—'तत्पचति द्रोणादञ्च' इत्यञ्ठञौ ॥

द्विद्रोणेन धान्यं क्रीणाति—'तृतीयाविधाने प्रकृत्यादिभ्य उपसङ्ख्यानम्' इति तृतीया । अत्रापि द्वितीया प्राप्नोतीति कैयटे ॥

द्वयोर्द्रोणयोस्समाहारः **द्विद्रोणम्**—पात्रादित्वात्स्त्रीत्वाभावः ॥

घुण घूर्ण भ्रमणे ॥ ५६-५७ ॥

घुणति, घूर्णतीत्यादि ॥

घोणते, घूर्णते इत्यादि शपि ॥

घुर ऐश्वर्यदीप्त्योः ॥ ५८ ॥

सुरति । सुषोर, सुषुरतुः । 'आदेशप्रत्यययोः' इति प्रकृतेष्षत्वम् ॥

सोरिता । **सोरिष्यति** । **सुरतु** । **असुरत्** । **सुरेत्** । **सूर्यात्** । 'हलि च' इति दीर्घः । **असोरीत्** ॥

सुसुरिषति—'स्तौतिण्योरेव' इत्यषत्वम् ॥

सोषूर्यते । **सोषोर्ति** ॥

सोरयति । **असूषुरत्** ॥

सुरन्तीति **सुराः**—इगुपधलक्षणः कः ॥

कुर शब्दे ॥ ५९ ॥

कुरतीत्यादि । **कूर्यादित्यत्र** 'हलि च' इति दीर्घस्य 'नभकुर्छुराम्' इति न निषेधः, करोतेस्तत्र ग्रहणमिति व्याख्यातृभिरभिधानात् ॥

खुर छेदने ॥ ६० ॥

विखण्डने चेति मैत्रेयः । **खुरति** ॥

खुरम्—इगुपधलक्षणः कः ॥

कल्याणखुरा—'स्वाङ्गाच्चोपसर्जनात्' इति ङीषो 'न क्रोडादिबह्वचः' इति निषेधः ॥

खुरणाः—'खुरखराभ्यां नस्वक्तव्यः' इति नासिकाया नस्भावः । 'अङ्नासिकायाः' इत्येव सिद्धे वार्तिकमचो निवृत्त्यर्थम् । पक्षेऽच्प्रत्ययोऽपीष्यत इति वृत्तिः । तेन **खुरणस** इत्यपि भवति ॥

मुर परिवेष्टने ॥ ६१ ॥

मुरति ॥

मुरः—पूर्ववत्कः ॥

मुरी—गौरादित्वात् ङीष् ॥

क्षुर विलेखने ॥ ६२ ॥

क्षुरति ॥

क्षुरम्—पूर्ववत्कः ॥

घुर भीमार्थशब्दयोः ॥ ६३ ॥

घुरति ॥

घोरम्—पचाद्यच् । 'अकर्तरि च कारके' इति घञ्वा ॥

घुर्घुरः—पूर्ववत्कः । 'कृञादीनां के द्वे भवतः' इति द्वित्वम्, पृषोदरादित्वान्न हलादिशेषः ॥

पुर अग्रगमने॥ ६४ ॥

पुरति ॥

पुरम्—पूर्ववत्कः ॥

पुरी—गौरादित्वान्ङीष् ॥

वृहू उद्यमने ॥ ६५ ॥

दन्त्योष्ठ्यादिरयम् । तथाहि—'मूलमस्यावर्हिः' 'सक्थ्या वृहत्'* 'मा मे बलं विवृहः'† इति प्रयुज्यते । अन्ये तु बकारादिं पठन्ति ॥

वृहति । ववर्ह, ववृहतुः । ववर्हिथ, ववर्ढ—ऊदित्त्वादिड्विकल्पः । झलि 'होढः' 'झषस्तथोर्धोधः' । 'ष्टुना ष्टुः' । 'ढो ढे लोपः' ॥

वर्हिता, वर्ढा । वर्हिष्यति, वर्क्ष्यति—'षढोः कस्सि' इति कत्वम् ॥

वृहतु । अवृहत् । वृहेत् । वृह्यात् । अवर्हीत् । अवर्हिष्टाम् । अनिट्पक्षे 'शल इगुपधादनिटः क्सः'—**अवृक्षत् । अवृक्षताम्** ॥

विवर्हिषति, विवृक्षति । झलि सनः कित्त्वान्न गुणः ॥

वरीवृह्यते । वरीवृहीति, वरीवर्ढि इत्यादि ॥

वर्हयति । अवीवृहत्, अववर्हत्—उरृद्वा ॥

वर्हित्वा, वृढ्वा—'न क्त्वा सेट्' इत्यकित्त्वमपि ॥

वृढः, वृढवान्—'यस्य विभाषा' इत्यनिट्त्वम् । 'ढ्रलोपे' इति दीर्घः पूर्वाण इत्यत्र न भवति ॥

---

*तै. सं. ५-२-१२. †तै. आ. ३-१५

बर्हति बृंहतीति वृद्धौ शपि । बर्हत इति तत्रैव प्राधान्ये । त्रय एते ओष्ठचादयः ॥

तृहू स्तृहू तृंहू हिंसार्थाः ॥ ६६-६८ ॥

तृहति । ततर्ह ॥

स्तृहति । तस्तर्ह । 'शर्पूर्वाः खयः' । तर्हिता, तर्ढा । स्तर्हिता, स्तर्ढेत्यादि वृहतिवत् ॥

तरीतृह्यते । तरीतर्ढि—'आदेशप्रत्ययोः' इति प्रकृतेष्षत्वम् ॥

तिस्तर्हिषति । तिस्तृक्षतीत्यत्र तु 'स्तौतिण्योरेव' इति नियमान्न षत्वम् ॥

तृहति—शस्य ङित्त्वात् 'अनिदिताम्' इति नलोपः ॥

ततृंह । ततृंहतुः । ततृंहिथ, ततृण्ढ—ढत्वधत्वष्टुत्वढलोपेषु नकारस्य 'नश्चापदान्तस्य' इत्यनुस्वारे परसवर्णो णकारः ॥

तृंहिता । तृण्ढा । तृंहिष्यति, तृङ्क्ष्यति । तृहतु । अतृहत् । तृहेत् । तृह्यात्—यासुटः कित्त्वान्नलोपः

अतृंहीत् । अतृंहिष्टाम् । अनिट्पक्षेऽप्यनिगुपधत्वात् क्सो नास्तीति सिचि ढत्वकत्वयोरिसिच्षत्वं, नकारस्यानुस्वारे परसवर्णे 'वदव्रज' इति वृद्धौ—अताङ्क्षीदित्यादि । झलादौ सिचो लोपे पूर्ववड्ढत्वधत्वष्टुत्वढलोपानुस्वारपरसवर्णवृद्धिषु—अताण्ढामित्यादि ॥

तितृंहिषति, तितृक्षति—अनिटि 'हलन्तात्' इत्यत्र हल्ग्रहणस्य जातिवाचकत्वात् सनः कित्त्वान्नलोपः ॥

तरीतृह्यते । तरीतृंहीति, तरीतृण्ढीत्यादि ॥

तृंहयति । अततृंहत् ॥

तृंहित्वा, तृढ्वा—इटि 'न क्त्वा सेट्' इत्यकित्त्वम् ॥

तृढः, तृढवान् ॥

अत्र सानुषङ्गमूर्धन्यादिं चतुर्थमपि 'तृषू' इति धातुं केचित्पठन्ति । आत्रेयमैत्रेयादिभिरयं न पठ्यते । तृह हिंसार्थः क्र्यादौ ॥

इष इच्छायाम् ॥ ६९ ॥

केचिदुदितं पठन्ति । तस्य च प्रयोजनमिड्विकल्पे छविधौ चोदितोऽनुवाद इति तद्विधानेऽपि तथा पठन्तो दैवादिकक्रैयादिकयोः तौ न भवत इत्याहुः । न च क्त्वायामिड्विकल्पः प्रयोजनम् । 'तीषसह' इति तादाविटो विकल्पनात् । ये त्वनुदितं पठन्ति ते 'तीषसह' इत्यत्राकारमात्रविकरणेन सहिना साहचर्यात्तादृशस्तौदादिक एव ग्रहीष्यत इतीतरयोरग्रहणमाहुः । तथा 'इषुगमियमां छः' इत्यत्रापि 'क्सस्याचि' इत्यतोऽचीत्यनुवर्तते, तच्च 'ष्ठिवुक्लमु' इत्यतोऽनुवृत्तेन शिता विशेष्यत इति शित्यचि विधीयमानं छत्वमपि तौदादिकस्यैव भवति, नेतरयोरित्याहुः ॥

इच्छति । इच्छेत्—'इच्छार्थेभ्यो विभाषा वर्तमाने' इति लिङ्लिटौ ॥

इयेष । ईषतुः । पिति परत्वाद्गुणे कृते 'अभ्यासस्यासवर्णे' इतीयङ् । अन्यत्र सवर्णदीर्घः ॥

एषिता, एष्टा । एषिष्यति । इच्छतु । ऐच्छत् । इष्यात् । ऐषीत् ॥

इच्छा—'इच्छा' इति शप्रत्ययो यगभावश्च निपात्यते । इष्टिरिति बाहुलकात् क्तिन् । 'तितुत्र' इतीण्णिषेधः ॥

एषणी—करणे ल्युट् ॥

इच्छुः—'विन्दुरिच्छुः' इत्युप्रत्ययान्तो निपात्यते ॥

एषित्वा, इष्ट्वा—'तीषसह' इतीड्विकल्पः; 'न क्त्वा सेट्' इति सेटोऽकित्त्वम् ॥

इष्टः । इष्टवान्—'यस्य विभाषा' इत्यनिट्त्वम् ॥

इष्यतीति श्यनि गतम् ॥

मिष स्पर्धायाम् ॥ ७० ॥

मिषति । मिमेष । मेषिता । मेषिष्यति । मिषतु । अमिषत् । मिषेत् । मिष्यात् । अमेषीत् । अमेषिष्टाम् ॥

मिमिषिषति, मिमेषिषति ॥

मिषित्वा, मेषित्वा । क्त्वासनोः कित्त्वविकल्पः ॥

मेमिष्यते । मेमेष्टि ॥

मेषयति । अमीमिषत् ॥

मेषः—मिषेः पचाद्यच् ॥

मेषी—जातिलक्षणो ङीष् ॥

निमेषः—घञ् ॥

किल श्वैत्ये ॥ ७१ ॥

श्वैत्यक्रीडनयोरिति मैत्रेयः । किलति । चिकेलेत्यादि मिषतिवत् ॥

किल्बिषः—'किलेर्बुक्' इति टिषचि बुगागमः ॥

तिल स्नेहने ॥ ७२ ॥

तिलति । तितेलेत्यादि ॥

तेलतीति गतौ शपि ॥

चिल निवसने ॥ ७३ ॥

चिलतीत्यादि ॥

चेलतीति शपि ॥

चल विलसने ॥ ७४ ॥

चलतीत्यादि । चलयतीति कम्पने घटादित्वात् । ज्वलादिपठितस्यापीह पाठे प्रयोजनमुञ्छादिवत्स्वरः । तत्र पाठः कर्तरि णविकल्पार्थः—चलश्चाल इति । आत्रेयस्तु तिलादित्रयमिह न पठति ॥

इल स्वप्नक्षेपणयोः ॥ ७५ ॥

इलति । इयेल । ईलतुः । गुणविषये 'अभ्याससस्यासवर्णे' इतीयङ् ॥

एलिता । एलिष्यति । इलतु । ऐलत् । इलेत् । इल्यात् । ऐलीत् । ऐलिष्टाम् । एलिलिषति । गुणे कृते द्वितीयस्यैकाचो द्विर्वचनम् ॥

इला पृथिवी—इगुपधलक्षणः कः, टाप् ॥

इल प्रेरणे इति चुरादौ ॥

विल संवरणे ॥ ७६ ॥

दन्त्योष्ठ्यादिः । विलति । आविलम् ॥

वेलतीति वेलेश्शापि गतम् ॥

कल विल क्षेपे इति चुरादौ ॥

बिल भेदने ॥ ७७ ॥

बिलति । बिलं—कः ॥

बेलतीति शपि । अयं चुरादौ चेत्यात्रेयः । मैत्रेयस्त्वत्रैव पपाठ नान्यत्र । ओष्ठ्यादिरयम् ॥

णिल गहने ॥ ७८ ॥

प्रणिलति—'उपसर्गादसमासेऽपि' इति णत्वम् ॥

निनेल । नेलितेत्यादि ॥

हिल भावकरणे ॥ ७९ ॥

भावकरणमभिप्रायसूचनम् । हिलति । जिहेलेत्यादि ॥

शिल षिल उञ्छे ॥ ८०-८१ ॥

आद्यस्तालव्यादिरितरो मूर्धन्यादिः । शिलति । सिलति । सिषेल—'आदेशप्रत्यययोः' इति प्रकृतेष्षत्वम् ॥

सेलतीति शपीत्यात्रेयः ॥

मिल श्लेषणे ॥ ८२ ॥

मिलतीत्यादि ॥

मिलत इति स्वरितेदग्रे भविष्यति । तस्येह पाठे प्रयोजनं कर्त्रभिप्राये क्रियाफले परस्मैपदम् ॥

लिख अक्षरविन्यासे ॥ ८३ ॥

लिखति । लिलेख । लेखिता । लेखिष्यति । लिखतु । अलिखत् । लिखेत् । लिख्यात् । अलेखीत् ॥

लिलेखिषति, लिलिखिषति ॥

लिखित्वा । लेखित्वा । लिखितः । लिखितवान् ॥

लेखनः । लेखनी—टित्त्वात् ङीप् ॥

लेखा, रेखा—भिदादिपाठदङि गुणे लकारस्य वा रेफः ॥

हृल्लेखः—कर्मण्यण् । 'हृदयस्य हृल्लेख' इति हृद्भावः । लेख इत्यणन्तग्रहणाद्घञन्ते लेखे उत्तरपदे हृद्भावे सिद्धे पुनर्लेखोपादानं उत्तरपदाधिकारे प्रत्ययग्रहणपरिभाषा न व्याप्रियत इति ज्ञापनार्थं, न तु घञन्तस्यापि ग्रहणार्थं इति प्रागप्युक्तम् ॥

दन्तलेखकः—'नित्यं क्रीडाजीविकयोः' इति समासः । अत्र केचित्—'गाङ्कुटादिभ्यः' इत्यत्र कुटस्यादिः, कुट आदिर्येषामित्येकदेशवृत्त्या बहुव्रीहितत्पुरुषयोर्द्वयोरप्याश्रयात् 'लिखितुं विश्वसृजोऽपि शक्तिहानिः' 'स्वयमेव लिखिष्यते' इति समर्थयन्ते । तेषां लेखितेत्यादौ* सर्वत्राञ्णित्प्रत्यये गुणाभावात् लिखितेत्यादि स्यात् । तत्र 'रलो व्युपधात्' 'ईश्वरे तोसुन्कसुनौ' इत्यत्र वृत्तौ 'लिखित्वा । लेखित्वा । लिलिखिषति,

*लिखित्वेत्यादौ.

लिलेखिषति, लेखितुं' इति दर्शनात् 'अपाच्चतुष्पाच्छकुनिष्वालेखने' इति निर्देशाच्चायुक्तम् । हरदत्तश्च तत्पुरुषपक्षस्य दूषणत्वेन क्त्वासनोर्गुणदर्शनं 'आलेखने' इति निर्देशं चाह । वर्धमानोपि 'आलेखने' इति निर्देशात् तत्पुरुषपक्षो दुष्ट इत्याह । अत एव वृत्त्यादिविरोधात् 'संज्ञापूर्वको विधिरनित्यः' इति लिखितेत्यादौ सर्वत्र केश्चिद्गुणाभावस्य कथनमयुक्तम् । किञ्च—लिखितुं लिखिष्यते इति द्वाविव प्रयोगौ प्रस्तुत्य यद्यवश्यमुपपादयितव्यं 'संज्ञापूर्वको विधिरनित्यः' इति गुणो न भविष्यतीति हरदत्तेनाभिधानाच्च । अत्रात्रेयः—'अर्थवेदसत्यानामापुक्' इति दीर्घोच्चारणादन्यत्रापि भवतीति केचिदिति । तेन लिखमाचष्टे **लिखापयतीति** भवति ॥

कुट कौटिल्ये ॥ ८४ ॥

कुटति । चुकोट । चुकुटतुः । चुकुटिथ । चुकोट; **चुकुट** । **चुकुटिव** । 'गाङ्कुटादिभ्योञ्णिन्ङित्' इत्यञ्णितः प्रत्ययस्य ङित्त्वान्न गुणः । उत्तमे णलि णित्त्वविकल्पनात् पक्षे ङित्त्वादगुणत्वम् ॥

कुटिता । **कुटिष्यति** । **कुटतु** । **अकुटत्** । **कुटेत्** । आशिषि—**कुट्यात्** । **अकुटीत्** । **अकुटिष्टाम्** ॥

चुकुटिषति । कुटित्वा—'रलो व्युपधात्' इति कित्त्वविकल्पनात् पूर्वविप्रतिषेधेन कुटादिङित्त्वमिष्यते । तस्य ज्ञापकं 'सर्वत्र सन्नन्तादात्मनेपदप्रतिषेधः' इति वार्तिकम् । सर्वेषु पक्षेषु सन्नन्तादात्मनेपदं प्राप्नोति । उच्चुकुटिषतीति 'ङितः' इत्यात्मनेपदं

प्राप्नोति तस्य प्रतिषेधो वक्तव्य इति भाष्यं च । यदि कित्त्वं स्यात्किमनेनात्मनेपदप्रतिषेधवचनेन? । तथा 'अनुदात्तङितः' इत्यत्रोपदेशानुवर्तनं च ङित्त्वस्य पूर्वविप्रतिषेधे प्रमाणम् । तस्य ह्यातिदेशिकङित्त्वात्कुटिषादि व्यावर्त्यम् । किञ्च—ङित्त्वं कुटादिमञ्णितं प्रत्ययमपेक्षते, कित्त्वं तु रलन्तव्युपधाद्धलादेः परं सेटं समपेक्षत इति बह्वपेक्षम् । तस्मादल्पापेक्षं ङित्त्वमन्तरङ्गम् ॥

चोकुट्यते । चोकोट्टि । गणेन निर्देशान्न ङित्त्वं यङ्लुकि ॥

कोटयति । अचूकुटत्—णिचो णित्त्वान्न ङित्त्वम् ॥

कोटः । कोट्यः—ण्यघञोरञ्णित्त्वादङित्त्वम् ॥

कुटपः—परिमाणम् । 'इषिकुषिदलिखञ्चिखञ्जिभ्यः कपन्' इति कपन् ॥

कुटरुः बन्धकी, पक्षी च—'कुटः किच्च' इत्यरुः । कुटादित्वात् ङित्त्वादेव कित्फले सिद्धे किद्वचनं तस्यानित्यत्वज्ञापनार्थम् । तेन धुवतेरित्रप्रत्यये धवित्रमिति गुणो भवतीत्याहुः ॥

कुट्मलम्—'कुटिकुविभ्यां क्मलच्' इति क्मलच् ॥

कुटरः मन्थविष्कम्भः—बाहुलकादरः ॥

कोटरः । कोटरावणं 'वनगिर्योस्संज्ञायां कोटर' इति दीर्घः । 'वनं पुरगा' इत्यादिना णत्वम् । अत्रैव कोटरेति निर्देशादरप्रत्यये गुणः ॥

कुटिलम्—बाहुलकादिलच् ॥

कुटिलिका कर्माराणां संदंशनी—संज्ञायां कन् ॥

कुटिलिकयाऽङ्गारान् हरति **कौटिलिकः** कर्मारः—'अण्कुटिलिकायाः' इत्यण् ॥

कुटी—इन्नन्तात् 'कृदिकारादक्तिनः' इति ङीष् ॥

अल्पा कुटी **कुटीरः**—'कुटीशमीशुण्डाभ्यो रः' इति रप्रत्ययः ॥

कुट प्रतापन इत्याकुस्मीयः । कूट दाह इति कथादिः दीर्घोपधः । अयमपि ह्रस्वोपध इत्यात्रेयः ॥

पुट संश्लेषणे ॥ ८५ ॥

पुटतीत्यादि कुटिवत् । **पुटा** । **पुटिका** ॥

अल्पः पुटः **पुटिका** । महांस्तु **पुटः** । 'कृतापकृतादीनामुपसङ्ख्यानम्' इति समानाधिकरणसमासः । 'अन्येषामपि दृश्यते' इति दीर्घः । प्रतिपत्राद्यपेक्षमेकस्याल्पत्वमहत्त्वे ॥

अयं भाषार्थश्चुरादौ । संसर्गार्थस्तु कथादौ ॥

कुच सङ्कोचने ॥ ८६ ॥

अत एव निर्देशाल्ल्युटि गुण इति काश्यपः । **कुचति** । **कुचितेत्यादि** ॥

सङ्कोचः—'न क्वादेः' इत्यकुत्वम् ॥

कोचतीति शपि ॥

गुज शब्दे ॥ ८७ ॥

अव्यक्ते शब्द इत्यात्रेयः । गुजतीत्यादि ॥

गोजः—'न क्वादेः' इत्यकुत्वम्, घञ् ॥

गुञ्जतीति शपि ॥

गुड रक्षायाम् ॥ ८८ ॥

गुडतीत्यादि ॥

गुडः इक्षुविकारः सन्नाहः—इगुपधलक्षणः कः । 'घञर्थे कः' इति वा ॥

गुडितो हस्ती, सञ्जातसन्नाह इत्यर्थः । तारकादित्वादितच् ॥

गुडा स्नुही—टाप् । तत्प्रायाः केशाः अस्य गुडाकेशः ॥

डिप क्षेपे ॥ ८९ ॥

डिपति । डिपितेत्यादि ॥

डिप्यतीति श्यनि ॥

छुर छेदने ॥ ९० ॥

छुरति । चुछोर । छुरिता इत्यादि । छुर्यादित्यत्र ‘ हलि च ’ इति दीर्घो न भवति ‘ नभ कुर्छुराम् ’ इति निषेधात् ॥

छुरिका—‘ क्वुन् शिल्पिसंज्ञयोः ’ इति क्वुन् ॥

आच्छुरितकम्—निष्ठान्तात्संज्ञायां कन् ॥

स्फुट विकसने ॥ ९१ ॥

स्फुटति । पुस्फोट । ‘ शर्पूर्वाः ’ इति खयश्शेषः ॥

स्फोटतीति शपि ॥

मुट आक्षेपप्रमर्दनयोः ॥ ९२ ॥

मुटति । मुटितेसादि ॥

मोटतीति प्रमर्दने शपि ॥

त्रुट छेदने ॥ ९३ ॥

त्रुटति । त्रुटितेसादि ॥

‘ वा भ्राश ’ इति शपि विषये वा श्यन् ॥

त्रुट्यति । त्रुट्यतु । अत्रुट्यत् । त्रुट्येत् ॥

त्रोटिः—ण्यन्तादच इः ॥

तुट कलहकर्मणि ॥ ९४ ॥

तुटतीत्यादि ॥

तुटिः—‘ इक्कृष्यादिभ्यः ’ इतीगित्यात्रेयः ॥

पुट छुट छेदने ॥ ९५-९६ ॥

पुटति, छुटतीत्यादि ॥

पुण्डति, चोडतीति शपि ॥

जुड बन्धने ॥ ९७ ॥

प्रेरणे चुरादिः । जुडति । जुजोड । जुडितेत्यादि ॥

कड मदे च ॥ ९८ ॥

कडति । चकाड । कडितेत्यादि । अस्य ङित्कार्यस्याभावादिह पाठो डकारान्तमात्रानुरोधेन । कुटादिभ्योऽन्यत्रापि शक्यते पठितुम् ॥

अयं भ्वादौ च । पुनः पाठफलमुञ्छतिवत् ॥

कण्डत इति शपि ॥

लुठ* संश्लेषणे ॥ ९९ ॥

लुठति । लुलोठ । लुठिता । इत्यादि ॥

---

*लुड.

आलस्ये लुठचतीति श्यनि । उपघाते लोठतीति शपि । प्रतिघाते लोठत इति द्युतादौ । गतौ लुण्ठतीति शपि ।* लुड इत्येके । अयमपि शपि गतौ ॥

कुड घनत्वे ॥ १०० ॥

घनत्वं सान्द्रता । घसने इत्येके ॥

कुडति । चकुर्ड । कुडितेत्यादि ॥

कुड बाल्ये ॥ १०१ ॥

कुडतीत्यादि ॥

पुड उत्सर्गे ॥ १०२ ॥

पुडतीत्यादि । मुड इत्यात्रेयः ॥

घुट प्रतिघाते ॥ १०३ ॥

अयं प्रथमान्तः । घुटतीत्यादि ॥

घोटकः—ण्वुल् ॥

घोटः—घञ् ॥

अयं द्युतादावात्मनेपदी गतः ॥

---

* मु. लुण्टतीत्यालस्यप्रतिघातयोश्शपि । लोटीतलुटचतीति विलोडने शपि श्यनि च । प्रतिघाते लोटत इति द्युतादौ । लुण्टतीति स्तेये शपि । गतावपि लुण्टतीति शपि ॥

तुड तोडने ॥ १०४ ॥

अयं तृतीयान्तः । प्रथमान्तः कलहार्थः पूर्वत्र पठितः । तोडनं भेदः । तुडतीत्यादि ॥

तुण्डते, तोडतीति शपि ॥

थुड स्फुड संवरणे ॥ १०५-१०६ ॥

थुडति । तुथोड । थुडिता इत्यादि ॥

स्फुडति । पुस्फोड । शर्पूर्वाः खयश्शेषः । स्फुडितेत्यादि । खुड छुड इत्येके । अत्र कुड सङ्घात इत्यात्रेयः । बाल्ये पठितस्येह पुनःपाठोऽर्थभेदादिति तस्याभिप्रायो द्रष्टव्यः । अपठतां मैत्रेयादीनां धातूनामनेकार्थत्वादत्रापि वृत्तिर्भविष्यतीत्यभिप्रायः ॥

स्फुर स्फुल सञ्चलने ॥ १०७-१०८ ॥

'स्फुरतिस्फुलत्योः' इत्यत्र न्यासे 'स्फुर स्फुल चलने' इत्यनुपसृष्टं पठ्यते । अत्र केवलं शब्दो भिन्नः अर्थस्त्वेक एव । आत्रेयस्तु 'स्फुर स्फुरणे । स्फुल सञ्चलने' इति पृथग्भिन्नार्थं च पपाठ ॥

स्फुरति, निस्फुरति, निष्फुरति । विस्फुरति, विष्फुरति, 'स्फुरतिस्फुलत्योर्निर्निविभ्यः' इति वा षत्वम् । निर्निसोस्साधारणमुक्तमुदाहरणम् ॥

पुस्फोर । **स्फुरिता** । **स्फुरिष्यति** । **स्फुरतु** । **अस्फुरत्** । **स्फुरेत्** । **स्फूर्यात्**—'हलि च' इति दीर्घः ॥

अपुस्फुरीत् । **पुस्फुरिषति**—सेट्त्वात् 'हलि च' इति न भवति । कुटादित्वात् 'रलो व्युपधात्' इत्यपि न भवति ॥

पोस्फूर्यते । **पोस्फोर्ति**—दीर्घस्यासिद्धत्वाद्गुणः । **पोस्फूर्तः** ॥

स्फोरयति, स्फारयति । 'चिस्फुरोर्णौ' इत्यात्वं वा । **अपस्फुरत्** । **अपुस्फुरत्** । आत्वपक्षे 'णौ कृतमभ्यासे स्थानिवत्' इत्यभ्यासस्योकारान्तत्वे 'ह्रस्वः' इत्युकारः । 'ओः पुयण्जि' इतीत्वं न भवति सकारेण पवर्गपरत्वस्य व्यवधानात् । एवं ण्यन्तात्सन्यपि—**पुस्फारयिषति पुस्फोरयिषतीति** भवतः । मैत्रेयस्तु स्फुर स्फुरण इति पृथक्पठित्वा 'स्फर इत्येके अदुपधः स्फरति । पस्फार' इत्यादि ॥

स्फुलतीत्यादि स्फुरतिवत् । णावात्वमस्य न भवति । तथा 'हलि च' इति दीर्घत्वमपि न भवत्यरेफान्तत्वात् ॥

स्फुड चुड ब्रुड संवरणे ॥१०९-१११॥

मैत्रेयेणैते न पठ्यन्ते । आत्रेयादयस्तु पठन्ति ॥

स्फुडति । **पुस्फोड** । खयश्शेषः ॥

चुडति । **चुचोड** ॥

ब्रुडति । **बुब्रोड** । इत्यादि ॥

अत्र क्रुड भृड* निमज्जन इत्येक इत्यात्रेयः। मैत्रेयस्तु क्रुडं पठित्वा, रुड इत्यप्येके इत्याह ॥

क्रुडति ॥

क्रोडम्—घञ् ॥

क्रोडा—अश्वानामुरः। टाबन्तोऽयं स्वभावतो विशेषविषयः। कल्याणी क्रोडाऽस्याः कल्याणक्रोडा—बहुव्रीहावुपसर्जनह्रस्वत्वे 'न क्रोडादिबह्वचः' इति स्वाङ्गलक्षणो ङीष्निषिध्यते। क्रोडादिषु टाबन्तस्य पाठात् भुजान्तरमात्रवचनस्य क्रोडशब्दस्य बहुव्रीहौ स्वाङ्गलक्षणो ङीष्विकल्प एव भवति—कल्याणक्रोडी, कल्याणक्रोडा मयूरी इति ॥

भृडतीत्यादि ॥

व्रश्चादय उदात्ता उदात्तेतः ॥

सेटमात्मनेपदिनमाह.

गुरी उद्यमने ॥ ११२ ॥

गुरते। जुगुरे। जुगुरिषे। गुरिता। गुरिष्यते। गुरताम्। अगुरत। गुरेत। गुरिषीष्ट। अगुरिष्ट। अगुरिषाताम् ॥

---

*रुड.

जुगुरिषते । जोगूर्यते । जोगोर्ति । गोरयति । अजूगुरत् । खड्गापगारं युध्यन्ते, खड्गापगोरं वा त्वरया खड्गमुद्यम्य युद्ध्यन्त इत्यर्थः । 'द्वितीयायां च' इति परीप्सायां णमुल् । 'अपगुरो णमुलि' इति वात्वम् ॥

गूर्णः, गूर्णवान्—ईदित्वादनिट्त्वम् ॥

गूर्तिः*—'तितुत्र' इतीण्णिषेधः ॥

दीर्घोपधोऽयं चुरादौ । हिंसागत्योर्दिवादौ ईदिदुदात्तः अनुदात्तेत् ॥

निष्ठायामनिट्त्वसाम्यात्पुनः परस्मैपदिनः प्रस्तावः—

णू स्तवने ॥ ११३ ॥

ह्रस्वान्तमात्रेयमैत्रेयादयः पठन्ति । यथा तु भाष्यं तथा दीर्घान्तः । यदाह कुटादिसूत्रे—तस्मत् नूत्वा धूत्वा इत्येव भवितव्यमिति ॥

नुवति । नुनाव । नुनुवतुः । नुनुविथ । नुविता । नुविष्यति—ङित्त्वेन गुणनिषेधादुवङ् । नुवतु । अनुवत् । नुवेत् । नूयात् । अनुवीत् ॥

नुनूषति—'सनि ग्रहगुहोश्च' इतीण्णिषेधः ॥

नोनूयते । नोनोति ॥

नूत्वा । नूतः । नूतवान्—'श्र्युकः किति' इतीण्णिषेधः ॥

---

*मु—गूर्णिः

धू विधूनने ॥ ११४ ॥

अयं पूर्वश्च उदात्तः उदात्तेत् । धुवतीत्यादि नुवतिवत् ॥

धवित्रं—व्यजनम् । 'अर्तिलूधू' इति करणे इत्रः 'कुटः किच्च' इत्यादिज्ञापकात्कुटादित्वस्यानित्यत्वाद्गुण इति केचिदिति कुटतावुक्तम् । 'विदिभिदि' इति सूत्रे हरदत्तस्तु ङित्त्वमेवेच्छन् धुवित्रमित्युवङमेवाह । 'प्राणा वै धवित्राणि'* इति छान्दसमिति च ॥

कुटाद्युवर्णान्तपरस्मैपदिनिष्ठानिट्प्रस्तावादाह—

गु पुरीषोत्सर्गे ॥ ११५ ॥

गुवति । जुगाव । जुगुवतुः । जुगुविथ, जुगुथ । जुगुविव । तासौ नित्यानिट्त्वाद्भारद्वाजनियमाच्च थलीड्विकल्पः । अन्यत्र क्रादिनियामान्नित्यमिट् । गुता । गुष्यति । गुवतु । अगुवत् । गुवेत् । आशिषि—गूयात् । अगुषीत् । अगुताम् । अगुषुः । अगुषम् । झलि 'ह्रस्वादङ्गात्' इति सिचो लोपः ॥

जुगूषतीत्यादि । 'अज्झन' इति दीर्घः ॥

गूनः । गूनवान् । 'दुग्वोर्दीर्घश्च' इति निष्ठानत्वं दीर्घश्च ॥

ध्रु गतिस्थैर्ययोः ॥ ११६ ॥

ध्रुवतीत्यादि गुवतिवत् ॥

---

* तै. आ- ५-४.

ध्रुवः—पचाद्यच् । अत्र स्वाम्यादयः ध्रुव इति वकारान्तं पठन्ति । उक्तं च 'ध्रुवमपाये' इत्यत्र हरदत्तेन । ध्रु गतिस्थैर्ययोः एतस्मात्कुटादेः पचाद्यच् । ये ध्रुव गतिस्थैर्ययोरिति पठन्ति तेषां 'इगुपधलक्षणः कः' इति । अत्र पक्षे सेट् ॥

ध्रुवति । दुध्राव । दुध्रुवतुः । दुध्रुविथ । ध्रुविता । ध्रुविष्यति । ध्रुवतु । अध्रुवत् । ध्रुवेत् । ध्रुव्यात् । अध्रुवीत् । अध्रुविष्टाम् ॥

दुध्रुविषति । दोध्रूयते । अयं गुवतिश्चानुदात्तावुदात्तेतौ । ध्रुवतिर्वान्तवादिनां सेट् ॥

कुङ् शब्दे ॥ ११७ ॥

केचिद्दीर्घान्तममुं पठन्तीत्यात्रेयमैत्रेयौ । एवं स्वामिकाश्यपसुधाकरधनपालसम्मताकारा अपि । शाकटायनस्तु 'कुङ्, कूङ्' इत्युभयं पपाठ । तत्र ह्रस्वान्तो न्यासकारस्यापीष्टः ; यदाह 'इको झल्' इत्यत्र—चुकूषत इत्यत्र दीर्घवचनमर्थवत् तत्र गाङ्कुटादिसूत्रेण ङित्त्वे गुणो न प्रवर्तत इति । तन्मते कुवत इत्यादि गुवतिवत् । हरदत्तस्य तु दीर्घान्त एवेष्टः, यदाह—कुटादिसूत्रे आकूतमिति दर्शनात् दीर्घान्त इति । पुनस्स एव 'इको झल्' इत्यत्र कुङ् शब्दे, कुटादिः चुकूषत इति दीर्घस्यावकाशः दीर्घान्तोऽयमित्यवोचामेति । अत्र कैयटेऽपि—न च दीर्घविधानस्य कुङ् शब्द इति धातुरवकाशः चुकूषत इति । यस्मात्कूङ् शब्द इति पाठः तत्र कुटादित्वान्ङित्त्वे सति गुणाभावाद्दीर्घस्य श्रवणं

सिद्धम् । लोकवेदयोश्चाकृतशब्दस्य प्रयोगो दृश्यत इति । अत्र पक्षेऽयं सेट् । कुवते इत्यादि नुवतिवत् ॥

वृत् ॥

कुटादयो वृत्ता इत्यर्थः ॥

ङित्प्रसङ्गादाह—

पृङ् आयामे ॥ ११८ ॥

ओष्ठ्यादिः । प्रायेणायं व्याङ्पूर्वः । **व्याप्रियते** । 'रिङ्शयग्लिङ्क्षु' इति रिङादेशः ; तस्येयङादेशः ॥

व्यापप्रे । **व्यापप्रिषे**—यणादेशः ॥

व्यापर्ता । **व्यापरिष्यते**—'ऋद्धनोस्स्ये' इतीट् ॥

व्याप्रियताम् । **व्याप्रियत** । **व्याप्रियेत** । **व्यापृषीष्ट** । **व्यापृषीयास्ताम्** । **व्यापृत** । **व्यापृषाताम्** । झलि 'ह्रस्वादङ्गात्' इति सिचो लोपः , 'उश्च' इति लिङ्सिचोः किन्त्वान्न गुणः ॥

व्यापुपूर्षते—'इको झल्' इति सनः कित्वात् 'अज्झनगमाम्' इति दीर्घः । 'उदोष्ठ्यपूर्वस्य' इत्यूत्वे रपरत्वे 'हलि च' इति दीर्घः ॥

व्यापेप्रियते—'रीङृतः' इति रीङ् । **व्यापर्पर्तीत्यादि**—'ऋतश्च' इति रुग्रिग्रीकः ॥

व्यापारयति । व्यापीपरत् ॥

व्यापृत्य । व्यापृतः । व्यापृतवान् ॥

मृङ् प्राणत्यागे ॥ ११९ ॥

म्रियते । ममार । मम्रतुः । ममर्थ । मम्रिव—क्रादिनियमादिट् । थलि तु 'अचस्तास्वत्' इतीण्णभवति ॥

मर्ता । मरिष्यति—'ऋद्धनः' इतीट् ॥

म्रियताम् । अम्रियत । म्रियेत । मृषीष्ट । अमृत । अमृषाताम्—झलि सिचो लोपः । 'उश्च' इति लिङ्सिचोः कित्त्वान्न गुणः । 'म्रियतेर्लुङ्लिङोश्च' इति लुङ्लिङ्शिद्विषय एव तङिति नियमादतोऽन्यत्र परस्मैपदमेव । यद्येवमपूर्वो विधिरस्तु, किं ङित्त्वेन ; तत्क्रियते 'तास्यनुदात्तेत् ङित्' इत्यत्र विशेषणार्थम् । तेन 'माहि मृत' इत्यत्र लसार्वधाकानुदात्तत्वे 'धातोरन्तः' इति धातोरुदात्तत्वं भवति । अत एव ङित्त्वसामर्थ्यान्न सिज्लोपस्य पूर्वत्रासिद्धत्वमिति लसार्वधातुकस्य ङितः परत्वं भवति । अन्यथा प्रत्ययाद्युदात्तत्वे धातुरनुदात्तस्स्यात् । न च 'तिङतिङः' इति सर्वनिघातप्रसङ्गः, तस्य 'हि च' इति निषेधात् ॥

मुमूर्षति—सनः कित्त्वे दीर्घोत्वरपरत्वदीर्घाः । 'पूर्ववत्सनः' इति तङत्र न भवति । न हि म्रियतिमात्रमात्मनेपदस्य निमित्तं, किन्तु शिल्लिङ्लुङोऽपीति । न चात्र ते म्रियतेरनन्तरास्सम्भवन्ति ॥

मेम्रियते—'रीङृतः' इति रीङ् । मर्मर्तीत्यादि ॥

मारयति । अमीमरत् ॥

मृत्वा । मृतः । मृतवान् ॥

न म्रियत इत्यमृतः—'मतिबुद्धि' इत्यत्र चकारस्यानुक्तसमुच्चयार्थत्वाद्वर्तमाने क्तः ॥

मरः—अच् । अमरो नञ्समासः ॥

मृत्युः—'भुजिमृङ्भ्यां युक्त्युकौ' इति युक् ॥

अनुदात्तावात्मनेभाषौ ॥

रेफवदनिट्प्रकरणादाह—

रि पि गतौ ॥ १२०-१२१ ॥

रियति । लघूपधगुणादन्तरङ्गत्वादियङादेशः ॥

रिराय । रिर्यतुः—'एरनेकाचः' इति यण् । रिरेथ, रिरयिथ । रिरियिव—क्रादिनियमादिट् । थलि 'अचस्तास्वत्' इति निषेधाद्भारद्वाजनियमाच्च विकल्पः । रिर्यतुरित्यादौ यणो बहिरङ्गलक्षणस्यासिद्धत्वाद्रेफस्य हल्परत्वाभावात् 'उपधायां च' इति न दीर्घः ॥

रेता । रेष्यति । रियतु । अरियत् । रियेत् । आशिषि रीयात्—'अकृत्सार्वधातुकयोः' इति दीर्घः ॥

अरैषीत्, अरैष्टाम् ॥

रिरीषति—सनः कित्वात् 'अज्झनगम' इति दीर्घः ॥

रेरीयते । रेरयीति । रेरेति । राययति । अरीरयत् ॥

पियति इत्यादि रियतिवत् ॥

धि धारणे ॥ १२२ ॥

धियति । दिधाय । दिध्यतुः । दिधेथ; दिधयिथ । धेतेत्यादि ॥

क्षि निवासगत्योः ॥ १२३ ॥

क्षियति । चिक्षाय । चिक्षियतुः । चिक्षयिथ; चिक्षेथ—संयोगपूर्वत्वान्न यणादेशः इतीयङ् ॥

क्षेतेत्यादि रियतिवत् ॥

प्रक्षीय—'क्षीयः' इति ल्यपि दीर्घः ॥

क्षीणो देवदत्तः—अकर्मकत्वाद्गत्यर्थत्वाद्वा कर्तरि क्तः, 'निष्ठायामण्यदर्थे' इति दीर्घः । ण्यदर्थो भावकर्मणी । 'क्षियो दीर्घात्' इति निष्ठानत्वम् । इदमेषां क्षीणं—'क्तोऽधिकरणे च' इति ध्रौव्यार्थत्वाद्वा अधिकरणे क्तः । दीर्घनत्वे पूर्ववत् । भावे तु क्षितं—ण्यदर्थत्वेन दीर्घाभावान्न निष्ठानत्वम् ॥

क्षीणायुर्वृषलः । क्षितायुः वृषलः । क्षीणकः । क्षितकः । क्तान्तादनुकम्पायां कन् । 'वा क्रोशदैन्ययोः' इति दीर्घविकल्पः पूर्ववद्दीर्घे नत्वम् ॥

क्षयी—'जिदृक्षि' इत्यादिना इनिः ॥
रियत्यादयोनुऽदात्ता उदात्तेतः ॥

क्षयतीति गतं शपि ॥

षकारवत्परस्मैपदप्रसङ्गात्तादृशं सेटमाह—

षू प्रेरणे ॥ १२४ ॥

सुवति । सुवतः । सुवन्ति । सुवसि । सुवामि ॥

सुषुवति—'उपसर्गात्सुनोतिसुवति' इति षत्वम् ॥

सुषाव । सुषुवतुः । सुषविथ । सुषुविव—अभ्यासात्परस्य 'आदेशप्रत्यययोः' इति षत्वम् ॥

सुसुषाव, विसुषाव—'उपसर्गात्' इति षत्वं अभ्यासस्य 'स्थादिष्वभ्यासे न चाभ्यासस्य' इति नियमान्न भवति ॥

सविता । सविष्यति । सुवतु । असुवत् । अभ्यषुवत्, 'प्राक्सितादड्व्यवायेऽपि' इति षत्वम् । सुवेत् । सूयात् । असावीत् । असाविष्टाम् । अभ्यषावीत् । लङ्वत्षत्वम् ॥

सुसूषति—'स्तौतिण्योरेव' इति न षत्वम् । अभिसुसूषति—पूर्ववदभ्यासस्य स्थादिनियमान्न षत्वम् । प्रकृतेश्च 'स्तौतिण्योः' इति नियमात् 'सनि ग्रहगुहोश्च' इत्यनिट्त्वात् 'इको झल्' इति सनः कित्त्वम् ॥

सोषूयते । सोषोति ॥

सावयति । असूषवत् ॥

सूत्वा । सूतः ॥

सूर्यः—‘ राजसूय ’ इत्यादिना क्यपि रुडागमः । सूर्यस्य स्त्री देवता सूर्या—‘ सूर्याद्देवतायां चाब्वक्तव्यः ’ इति चाप् पुंयोगङीषोऽपवादः । अदेवतायां तु ङीषेव भवति—सूरी मानुषीति ; ‘ सूर्यतिष्य ’ इति तद्धिते ईति च भसंज्ञानिमित्ते यलोपः । सूर्यस्येदं सौर्यमित्यत्र ‘ सूर्यस्य छेच ङ्यां च ’ इति नियमान्न यलोपः । यद्यप्यत्र ‘ यस्येति च ’ इत्यल्लोपस्य ‘ यलोपविधिं प्रति न स्थानिवत् ’ इति स्थानिवत्त्वनिषेधात् यकारो नोपधा ; तथाऽपि ‘ असिद्धवदत्राभात् ’ इत्यसिद्धत्वादुपधात्वादस्ति लोपप्रसङ्गः। ‘सौरी बलाका’ * इत्यत्र तु ‘ तेनैकदिक् ’ इत्यणि ङीप्यणो यस्येतिलोपस्य पूर्ववदसिद्धत्वात् उपधा यकार इति तस्य लोप ईकारपरत्वात् । न चाणि यो यस्येति लोपस्तस्याप्यसिद्धत्वादनुपधात्वमिति शङ्क्यम् । अण्यर्यं लोपः यलोपस्त्वीतीति व्याश्रयत्वेनासिद्धत्वाप्रसङ्गात् । न च स्थानिवद्भावेनोपधात्वप्रसङ्गः. यलोपविधौ तस्य निषेधात् । नन्वेवमपि यकारस्सूर्यस्योपधा न भवति किन्त्वणन्तस्येति लोपो न स्यात् । नैष दोषः । नात्र सूर्यादिभिरुपधां विशेषयिष्यामः । किन्तु भसंज्ञकेन भस्योपधाया यकारो वस्तुतस्सूर्यादिसम्बन्धीति । एवंच सौरीयमित्यत्राप्यणन्ताच्छे पूर्ववत् यलोपस्सिद्ध्यति । ‘ सौर्ये हिमवतश्शृङ्गे ’ इत्यत्र पूर्ववत् ‘ नपुंसकाच्च ’ इति शीभावे पूर्ववदीति प्राप्तो यलोपो ङ्यामितीकारस्य विशेषणान्न भवति । सौरो मन्त्रः इति प्रयोगस्तु सूरशब्दादणि द्रष्टव्यः ॥

---

* तै. सं- ५-५-१६.

प्रसवी—'जिदृक्षि' इत्यादिना इनिः ॥

सवित्रम्—'अर्तिलूधूसू' इत्यादिना इत्रः ॥

सूरः—'सुसूधागृधिभ्यः क्रन्' इति क्रन् ॥

सूरिस्तु षूङ उक्तः ॥

सूते सूयते इति लुक्श्यनोः ॥

कॄ विक्षेपे ॥ १२५ ॥

किरति । किरतः—'ॠत इद्धातोः' इतीत्वम् ॥

चकार । चकरतुः । चकरिथ । चकार । चकर । चकरिव—'ऋच्छत्यॄताम्' इति लिटि गुणः । न च पूर्वविप्रतिषेधेन 'अचोञ्णिति' इति वृद्धिः । कृते वा गुणे 'अत उपधायाः' इति वृद्धिः । **करिता, करीता । करिष्यति, करीष्यति**—'वॄतो वा' इतीटो वा दीर्घः ॥

किरतु । अकिरत् । किरेत् । कीर्यात् । इत्वे 'हलि च' इति दीर्घः । **अकारीत् । अकारिष्टाम्** । सिचि वृद्धिः 'वॄतो वा' इति दीर्घस्य 'सिचि परस्मैपदेषु' इति निषेधः ॥

चिकरिषति—'सनि ग्रहगुहोश्च' इति चशब्दात् उगन्तलक्षण इण्णिषेधे प्राप्ते तदपवादः 'इट् सनि वा' इति विकल्पे च प्राप्ते 'किरश्च पञ्चभ्यः' इति नित्यमिट् । अस्य दीर्घत्वं नेच्छन्तीति वामनः । हरदत्तोऽपीष्टिरेवेयमिति । भागवृत्तौ त्वत्रापि दीर्घविकल्पो दृश्यते ॥

चेकीर्यते—परत्वादित्वादौ द्विर्वचनम् । **चाकर्ति**—अभ्यासस्य ह्रस्वोरदत्वहलादिशेषेषु 'दीर्घोकितः' इति दीर्घः । 'ऋतश्च' इत्यभ्यासस्य रुगादिविधौ तपरकरणसामर्थ्यात् ऋकारान्तस्याङ्गस्य योऽभ्यास इति सूत्रार्थव्यवस्थानात् अत्राभ्यासस्य ह्रस्वत्वेन ऋकारान्तत्वेऽपि तदाश्रयो रुगादिर्न भवति अङ्गस्य दीर्घान्तत्वात् । एवं तरत्यादावपि प्रतिपादितम् ॥

कीरयति । अचीकिरत् ॥

अवकिरते हस्ती स्वयमेव । अवाकीर्ष्ट हस्ती स्वयमेव, 'भूषाकर्मकिरादिसनां चोपसङ्ख्यानम्' इति यक्चिणोर्निषेधः । हस्तिनं कश्चित्पांस्वादिनाऽवकिरते । तत्र सौकार्यातिशयाद्धस्तिकर्तृकत्वेन विवक्ष्यत इति कैयटे । अत्र 'लिङ्सिचावात्मनेपदेषु' इतीड्विकल्पः । इट्पक्षे सिचः कित्वाभावाद्गुणः । **अवाकरिष्टे**त्यादि । 'वृतः' इतीटो दीर्घत्वपक्षे **अवाकरीष्टे**त्यादि । लिङि 'न लिङि' इति दीर्घनिषेधात् 'लिङ्सिचोरात्मनेपदेषु' इतीटो भावाभावाभ्यां द्वैरूप्यं, **अवकरिषीष्ट, अवकीर्षीष्टे**ति । अनिट्पक्षे लिङ्सिचोः 'उश्च' इति कित्वान्न गुणः । 'ऋतः' इतीत्वं—**अवस्किरते वृषो हृष्टः । अवस्किरते कुक्कुटो** भक्षार्थी । **अवस्किरते श्वा** आश्रयार्थी—'किरतेर्हर्षजीविकाकुलायकरणेषु' इति तङ् । 'अवाच्चतुष्पाच्छकुनिष्वालेखने' इत्यवात्किरतौ परे कात्पूर्वस्सुट् । अत्रापि 'किरतेर्हर्षजीविकाकुलायकरणेषु' इति पठ्यते । तत्र किरत्यर्थस्य हर्षा हेतुत्वेन विषयः, इतरे फलत्वेनेति व्याख्यातारः । तत्र हृष्टत्वाद्वृषभो विलिख्य विक्षिपती

त्यर्थः । इतरत्रापि कुकुटश्श्वा च जीविकार्थे कुलायकरणाय विलिख्य विक्षिपतीत्यर्थः ॥

अव चस्करे । अवास्किरत—'अडभ्यासव्यवायेऽपि' इति सुट् । लुङि तु कर्मकर्तरि चेड्दीर्घत्वयोर्विकल्पनात् त्रैरूप्यम्—**अवास्कीर्ष्ट । अवास्करिष्ट । अवास्करीष्टेति** । आशीर्लिङ्यपि 'लिङ्सिचोः' इतीटो विकल्पेन 'लिङि' इति दीर्घनिषेधे च कर्मकर्तृवद्द्वैरूप्यम्—**अवस्करिषीष्ट । अवस्कीर्षीष्टेति** । अनिट्पक्षे पूर्ववत् 'उश्च' इति लिङ्सिचोः कित्त्वादि । **अवस्करिता । अवस्करीतेत्यादि** ॥

अवचिष्करिषते—'किरश्च' इतीट् 'इट्सनि वा' इति विकल्पं बाधते । अस्य सेटो न दीर्घ इत्युक्तम् । **अवचेस्कीर्यते । अवचार्कर्ति**—'किरतौ' इति शितपा निर्देशादत्र सुण्णभवति ॥

अवस्कारयति । अवाचिस्करत्—अडभ्यासाभ्यामुभाभ्यां व्यवधानेऽपि सुड्भवति । **उपस्किरति** श्वापदः । **प्रतिष्किरति**—हिंसायां 'प्रतेश्च' इति किरतेः कात्पूर्वस्सुट् । चकारेणोपस्समुच्चीयते । यथा विक्षिपति तथा हिंसासु बध्नातीत्यर्थः । प्रतेस्सुट उपसर्गादित्यादिना षत्वम् । **उपस्कारं** काश्मीरा लुनन्ति विक्षिप्य लुनन्तीत्यर्थः—'किरतौ लवने' इति सुट् । णमुलप्यत्रेष्यते । तथा च वृत्तिः—णमुलप्यत्र वक्तव्य इति ॥

उपस्करः—'ऋदोरप्' । काष्ठादिना भाण्डादिभ्यो

यन्मलमपकृष्य विक्षिप्यते तदुच्यते । तद्योगादेशोऽपि 'वर्चस्केऽवस्करः' इति सुण्णिपात्यते । अन्यत्र **अवकरः**। **अवस्करः**—पूर्ववदप् । 'अवस्करो रथाङ्गम्' इति सुट् । **विष्किरः**, **विकिरः**—'इगुपधज्ञाप्रीकिरः कः' । 'विष्किरश्शकुनिर्विकिरो वा' इति सुड्विकल्पः । **उत्कारो** धान्यस्य, **निकारो** धान्यस्य—'कॄधान्ये' इत्युदन्योरुपपदयोर्घञ् । अन्यत्र **उत्करः**। **निकरः** इत्यजेव ॥

कीर्णः, **कीर्णवान्**—'श्र्युकः किति' इतीण्णिषेधात् इत्त्वर-परत्वदीर्घेषु निष्ठानत्वम् ॥

कीर्णः—'तितुत्र' इत्यनिट्त्वम् । 'ऋल्वादिभ्यः क्तिन्निष्ठा-वत्' इति नत्वम् । अत एव निष्ठावद्भावाद्वाऽनिट्त्वम् ॥

अवकीर्णमनेन **अवकीर्णी**—'इष्टादिभ्यश्च' इति तृतीयार्थे प्रथमान्तादिनिः । अवकीर्णं स्त्रियां ब्रह्मचारिणा रेतसो विक्षेपः॥

कुरुः—'कॄग्रोरुच्च' इत्युप्रत्ययः । धातोश्चोकारः ॥

कौरवः—प्राग्दीव्यतोऽण् अपत्यादन्यत्र । अपत्ये तु 'कुर्वा-दिभ्यो ण्यः' इति ण्यप्रत्ययः । अत्राक्षत्रियकुरोर्ग्रहणम्, तेनास्यात-द्राजत्वाद्बहुषु लुङ्न भवति । क्षत्रियस्य तु 'कुरुनादिभ्यो ण्यः' इति ण्यः । तस्य 'ते तद्राजा' इति तद्राजत्वात् 'तद्राजस्य बहुषु तेनैवास्त्रियाम्' इति बहुषु लुकि—**कुरवः** इति भवति । 'कौरव्याः पशवः' इति भट्टनारायणप्रयोगश्चिन्त्यः । ब्राह्मण-त्वारोपान्न लुगिति समर्थनेऽर्थो न पुष्यति ॥

स्त्रियां कुरूः—'स्त्रियामवन्तिकुन्तिकुरुभ्यश्च' इति तद्राजस्य लुक्। 'गोत्रं च चरणैस्सह' इति जातित्वात् 'ऊङुतः' इत्यूङ्। अत्रातद्राजस्य 'कौरव्यमण्डूकाभ्यां च' इति स्त्रियां ष्फे षित्वान्ङीषि—**कौरव्यायणी**। अस्मात्कौरव्यशब्दाद्यदा युवप्रत्यय इञ् तस्य 'ण्यक्षत्रियार्षञितो यूनि लुगणिञोः' इति लुकि पिता पुत्रश्च—**कौरव्यः**। अयमप्यक्षत्रियकौरव्यस्य। क्षत्रियस्य तु तिकादिपाठात्फिञा भाव्यं—**कौरव्यायणिरिति**। तत्र ह्यौरसशब्देन क्षत्रियवचनेन साहचर्यात् कौरव्यशब्दोऽपि तादृशो गृह्यते। यस्तु जनपदवाची कुरुशब्दस्तस्यापि 'कच्छादिभ्यश्च' इति भवादिशैषिकोऽण् जनपदवुञोऽपवादः **कौरवो** गौः इति। भवादौ मनुष्ये तत्स्थे वा कच्छादिभ्यो 'मनुष्यतत्स्थयोर्वुञ्' इति वुञ्विधानात् **कौरवको** मनुष्यः, **कौरवकं** हसितमिति॥

कृणातीति क्र्यादौ। करोतीति तनादौ *॥

गॄ निगरणे॥ १२६॥

गिरति, गिलति—'अचि विभाषा' इत्यजादौ सर्वत्र वा लत्वम्॥

जगार; जगाल। जगरिथ; जगलिथ॥

गरिता, गलिता। गरीता, गलीता॥

गरिष्यति, गलिष्यति। गरीष्यति, गलीष्यति—'वॄतो वा' इत्यलिटो वा दीर्घः॥

---

* कृणोतीति श्नौ इति मुद्रितपुस्तके अधिकः पाठः.

गिरतु, गिलतु । अगिरत्, अगिलत् । गिरेत्, गिलेत् । गीर्यात्, गील्यात् । 'किदाशिषि' इति कित्त्वादित्वे 'हलि च' इति दीर्घत्वम् । **अगारीत् । अगारिष्टाम् । अगालीत् । अगालिष्टाम्** । 'सिचि परस्मैपदेषु' इतीटो निषेधः ॥

जिगरिषति, जिगलिषति—'किरश्च पञ्चभ्यः' इतीट् । अस्य दीर्घविकल्पो नेति किरतावुक्तम् ॥

जेगिल्यते—'लुपसद' इत्यादिना भावगर्हायां यङ् । इत्त्वरपरत्वयोः 'हलि च' इति दीर्घात्पूर्वं 'पूर्वत्रासिद्धम्', इति 'ग्रो-यङि' इति लत्वे नेदानीं रेफान्त इति विहतनिमित्तत्वान्न दीर्घः ॥

जागर्ति । जागर्तः । गारयति, गालयति । अजीगरत्, अजीगलत् । 'निगरणचलन' इति नित्यं परस्मैपदम् ॥

गार्यते, गाल्यते । अन्तरङ्गत्वाण्णिलोपात्पूर्वं अजाद्यपेक्षे लत्वविकल्पे कृते वा तस्मिन् स्थानिवत्त्वेनाजादिपरत्वाद्भविष्यति । न च 'पूर्वत्रासिद्धे न स्थानिवत्' इति । 'तस्य दोषस्संयोगादिलोपलत्वणत्वढत्वेषु' इत्युक्तत्वात् ॥

गिरते ग्रासस्स्वयमेव । अगरिष्ट, अगरीष्ट, अगीर्ष्ट ग्रासस्स्वयमेव—'भूषाकर्मकिरादिसनाम्' इति किरादित्वाद्यक्चिणोर्निषेधः । 'लिङ्सिचोरात्मनेपदेषु' इति वा इट् । तस्य पूर्ववत्पक्षे दीर्घः । **अगलिष्ट, अगलीष्टेति** इटि लत्वं चोदाहार्यम् । अनिटि 'उश्च' इति कित्त्वादित्वरपरत्वे । **अवगिरते । अवजगरे । अवजग-**

रिषे—'अलिटि' इत्यनुवर्तनात् न 'वृतः' इतीटो दीर्घः । **अवगरितासे । अवगरिष्यते । अवगिरताम् । अवागिरत । अवगिरेत । अवगिरिषीष्ट । अवगीर्षीष्ट ।** 'लिङ्सिचोरात्मनेपदेषु' इति वा इट् । 'न लिङि' इति दीर्घनिषेधः । इडभावे 'उश्च' इति कित्त्वेत्वरपरत्वदीर्घाः । **अवागीर्ष्ट । अवागरिष्ट, अवागरीष्ट**—लिङ्वत्प्रक्रिया । **अवगिलत** इत्यादि सर्वत्राजादौ लत्वमुदाहार्यम् । इटो दीर्घत्वं च लिङ्सिचौ वर्जयित्वा । 'अवाद्ग्रः' इति सर्वत्र तङ् ॥

नित्यं शब्दं सङ्गिरते वैयाकरणः—'समः प्रतिज्ञाने' इति तङ् ॥

मुदं गिरतीति **मुद्गरः**—पचाद्यच् ॥

गलः प्राण्यङ्गम् । **गरो विषः**—अचि व्यवस्थितविभाषया लत्वम् ॥

निगारः । उद्गारः—'उन्न्योर्ग्रः' इति घञ् ॥

तिमिङ्गिलः—मूलविभुजादित्वात्कः लत्वम् । 'गिले अगिलस्य' इति मुम् । 'अगिलस्य' इति वचनात् गिलगिल इत्यत्र न भवति ॥

गुरुः—'कृग्रोरुच्च' इत्युप्रत्ययः, धातोश्चोकारः । गृणातेर्वाऽयं शब्दार्थात् ॥

गरिष्ठः, गरिमा, गरीयान्—'प्रियस्थिर' इत्यादिना गुरुशब्दस्य गरादेशः । इष्ठेमेयस्सु पृथ्वादिपाठादिमनिज्वा । तद-

भावे 'इगन्ताच्च लघुपूर्वात्' इत्यणि—**गौरवम्** ।

गारयति—'णाविष्ठवत्' इति गरादेशः ॥

गर्भः—'अर्तिगृभ्यां भन्' इति भन् ॥

गर्भिणी—इन्नन्तान्ङीप् । **गोगर्भिणी** 'चतुष्पादो गर्भिण्या' इति तत्पुरुषः । गर्भिणीनां समूहो **गार्भिणम्**—भिक्षादित्वादण् । 'भस्याढे तद्धिते' इति पुंवद्भावे 'इनण्यनपत्ये' इति प्रकृतिभावः । गर्भिणी भार्या यस्य **गर्भिभार्यः**—'स्त्रियाः पुंवत्' इति पुंवद्भावः । ननु स्त्रियामनवयवभूतगर्भसम्बन्धः प्रवृत्तिनिमित्तम् । पुंसि त्ववयवभूतगर्भसम्बन्धः यथा गर्भी व्रीहिरिति । तेन समानायामाकृतौ भाषितपुंस्कत्वाभावात्कथं पुंवद्भावः? नैष दोषः, अन्तर्वस्तुसम्बन्धमात्रस्येह प्रवृत्तिनिमित्तत्वात् ॥

अयं शब्दार्थः क्र्यादौ, ज्ञानार्थश्चुरादौ । गरतीति शपि गतम् । किरतिगिरती उदात्तावुदात्तेतौ ॥

दृङ् आदरे ॥ १२७ ॥

आद्रियते—'रिङ्शयग्लिङ्क्षु' इति रिङ् ॥

आदद्रे । आदद्रिषे । आदर्ता । आदरिष्यते—'ऋद्धनोस्स्ये' इतीट् ॥

आद्रियताम् । आद्रियत । आद्रियेत । आदृषीष्ट । आदृत । **आदृषाताम्**—'उश्च' इति लिङ्सिचोः कित्त्वम् । झलि सिचो लोपः ॥

आदिदरिषते—‘किरश्च पञ्चभ्यः’ इतीट् ॥

देद्रीयते—‘रीङृतः’ इति रीङ् । **दर्धर्ति** । **दारयति** । **अदीदरत्** ॥

आद्रियते स्वयमेव । आदृत स्वयमेव । किरादित्वात् यक्चिणोर्निषेधः ॥

आदृत्यः—‘एतिस्तु’ इत्यादिना क्यप् ॥

आदरी—‘जिदृक्षि’ इतीनिः ॥

आदरः—‘ग्रहवृदृनिश्चिगमश्च’ इत्यप् ॥

केचिद्भये दरतीति घटादिपाठादाहुः ॥

दृणातीति दारणे ॥

धृङ् अवस्थाने ॥ १२८ ॥

ध्रियते इत्यादि भ्रियतिवत् ॥

आधारः—‘अध्यायन्याय’ इत्यादिनाऽधिकरणे घञ् ॥

धर्मम्—मनिन् । अत्र वक्तव्यं रुधादावुक्तम् ॥

धरते धरतीति शपि । ध्रियतिध्रियती अनुदात्तावात्मनेभाषौ ॥

अतः परे शक्लृ इत्यन्ता अनुदात्ता उदात्तेतः ॥

प्रच्छ ज्ञीप्सायाम् ॥ १२९ ॥

पृच्छति—'छे च' इति तुकि 'स्तोश्चुना श्चुः' इति श्चुत्वम् ग्रहिज्यादिना संप्रसारणं क्ङितोः । पप्रच्छ । पप्रच्छतुः । पप्रछ । पप्रच्छिथ । पप्रच्छिव—क्रादिनियमादिट् । थलि तु 'उपदेशेत्वतः' इति निषेधाद्भारद्वाजनियमाच्च विकल्पः । अनिटि व्रश्चादिना षत्वे 'ष्टुना ष्टुः' इति थकारस्य ठकारः । अन्तरङ्गत्वात्पूर्वं तुकि संयोगात्परत्वा- ल्लिटः कित्त्वाभावान्न प्रसारणम् ॥

प्रष्टा । **प्रक्ष्यति**—'षढोः कस्सि' इति कत्वम् ॥

पृच्छतु । **अपृच्छत्** । **पृच्छेत्** । **पृच्छयात्** ॥

अप्राक्षीत् । **अप्राष्टाम्**—झलि सिचो लोपः, 'वदव्रज' इति वृद्धिः ॥

पिपृच्छिषति—'किरश्च पञ्चभ्यः' इतीट् । 'रुदविद' इत्या- दिना सनः कित्त्वात्प्रसारणम् ॥

परीपृच्छयते । 'रीगृत्वतः' इति रीक् । **पाप्रष्टि** । **पापृष्ट** इत्यादि । पृच्छतीति श्तिपा निर्देशान्न प्रसारणम् ॥

प्रच्छयति । **अपप्रच्छत्** ॥

सम्पृच्छते—'समोगमृच्छि' इत्यकर्मकात्सम्पूर्वात्तङ् । **सम्पप्रच्छे** । **सम्पप्रच्छिषे** । **सम्प्रष्टा** । **सम्प्रक्ष्यते** । **सम्पृच्छताम्** । **समपृ- च्छत** । **सम्पृच्छेत** । **सम्पृच्छिषीष्ट** । **समप्रष्ट** । **समप्रक्षा- ताम्** । झलि सिचो लोपे ष्टुत्वम् । अन्यत्र कत्वम् ॥

आपृच्छते गुरुम्—'आङि नुपृच्छ्योरुपसङ्ख्यानम्' इति तङ् ॥

प्रश्नः—‘ यजयाच ’ इति नङ् । ‘ च्छ्वोश्शूठ् ’ इति सतुक्कस्य शकारः । ‘ शात् ’ इति श्चुत्वनिषेधः । ‘ प्रश्ने च ’ इति निर्देशान्न सम्प्रसारणम् ॥

पृच्छतीति **प्राट्** । शब्दं पृच्छतीति **शब्दप्राट्** । **शब्दप्राशौ** ‘ क्विब्वचि ’ इत्यादिना सोपपदान्निरुपपदाच्च क्विपि दीर्घः अप्रसारणं च । ‘ च्छ्वोश्शूठ् ’ इति छकारस्य शकारः । व्रश्चादिना तस्य पदान्ते षत्वम् । जश्त्वचर्त्वे च ॥

पृच्छा—भिदादेराकृतिगणत्वादङित्यात्रेयः ॥

पृष्ट्वा, पृष्टः, पृष्टवान् । अयं द्विकर्मकः तत्र ‘ अप्रधाने दुहादीनाम् ’ इति लादयोऽप्रधाने भवन्ति । **माणवकः पृच्छयते पन्थानम्** । **सुप्रच्छः प्रष्टव्यः पृष्ट** इति । अन्यदपि द्विकर्मकसाधारणं नाथत्यादौ प्रपञ्चितं तत एवावधार्यम् ॥

वृत् ॥

किरादयो वृत्ताः ॥

सृज विसर्गे ॥ १३० ॥

सृजति । ससर्ज । ससृजतुः । ससर्जिथ, सस्रष्ठ—‘ विभाषा सृजिदृशोः ’ इति थलीड्विकल्पः । इडभावे झलाद्यकित्परत्वात् ‘ सृजिदृशोर्झल्यमकिति ’ इत्यमागमः यणादेशः । व्रश्चादिना षत्वे ष्टुत्वम् ॥

स्रष्टा । स्रक्ष्यति । सृजतु । असृजत् । सृजेत् । सृज्यात् । अस्राक्षीत् । अस्राष्टाम् । अमागमे यणि 'वदव्रज' इति वृद्धिः, झलि सिचो लोपः ॥

सिसृक्षति—'हलन्ताच्च' इति सनः कित्त्वान्नामागमः, नापि गुणः ॥

सरीसृज्यते—रीगागमः । **सरीस्राष्टि । सरीसृष्टः** इत्यादि ॥

सर्जयति । असीसृजत्, अससर्जत्—'उऋद्वा' ॥

सृज्यते मालाम्, असर्जि मालाम्—श्रद्धया निष्पादयति निष्पादितवानिति चार्थः । 'सृजियुज्योश्श्यंस्तु' 'सृजियुज्योस्सकर्मकयोः कर्ता बहुळं कर्मवद्भवतीति वक्तव्यम् । 'सृजेश्श्रद्धोपपन्ने कर्तरि' इति भाष्ये वचनात् सकर्मकस्यापि कर्मवद्भावः । श्यनाऽपि यगेव बाध्यते, न तु चिणिति कैयटे । तदयं कर्मवद्भावश्चिणात्मनेपदार्थो भवति ॥

सृज्यम्—'ऋदुपधात्' इति क्यप् ॥

पाणिभ्यां सृज्यते **पाणिसर्ग्या रज्जुः**—'पाणौ सृजेर्ण्यद्वक्तव्यः' 'समवपूर्वाच्च' इति ण्यति कुत्वम् ॥

सृजन्ति तामिति **स्रक्**—'ऋत्विक्' इत्यादिना कर्मणि क्विन् । अमागमः कुत्वं च ॥

संसर्गी—संपृचादिना घिनुण् ॥

रज्जुः—'सृजेरसुं च' इत्युप्रत्यये सलोपः, असुमागमश्च ।

तत्र सकारस्य जश्त्वे चुत्वम् ॥

स्रग्वी—'अस्मायामेधास्रजो विनिः' इति मत्वर्थे विनिः ॥

स्रजिष्ठः । स्रजीयान् ॥

स्रजयति—'विन्मतोर्लुक्' 'णाविष्ठवत्' इति चेष्ठेमेयस्सु णिचि विनो लुक् ॥

सृज्यत इति श्यनि ॥

टु मस्जो शुद्धौ ॥ १३१ ॥

मज्जति—'झलां जश्' इति सकारस्य दकारः । तस्य चुत्वं जकारः ॥

ममज्ज । ममज्जतुः । ममज्जिथ, ममङ्क्थ । ममज्जिव—क्रादिनियमादिट् । थलि 'उपदेशेऽत्वतः' इति निषेधाद्भारद्वाजनियमाच्च विकल्पः । अनिट्क्षे 'मस्जिनशोर्झलि' इति नुम् । स च 'मस्जेरन्त्यात्पूर्वं नुममिच्छन्त्यनुषङ्गसंयोगादिलोपार्थम्' इति अन्त्यात्पूर्वं नुमि 'स्कोस्संयोगाद्योः' इति सलोपः । जकारस्य 'चोः कुः' इति कुत्वे 'खरि च' इति चर्त्वे । नकारस्य 'नश्चापदान्तस्य' इत्यनुस्वारे परसवर्णः ॥

मङ्क्ता । मङ्क्ष्यति । मज्जतु । अमज्जत् । मज्जेत् । मज्ज्यात् । लिङौ ॥

अमाङ्क्षीत् । अमाङ्क्ताम् । अमाङ्क्षुः । 'वदव्रज' इति वृद्धिः । झलि सिचो लोपः ॥

मिमङ्क्षति । मामज्ज्यते । मामङ्क्ति ॥

मज्जयति । अममज्जत् ॥

मज्जथुः—ट्वितोऽथुच् ॥

मङ्क्त्वा । मक्त्वा—'जान्तनशां विभाषा' इति जान्तत्वात् क्त्वायां वाऽनुनासिकलोपः ॥

मग्नः, मग्नवान्—नुमि 'अनिदिताम्' इति तस्य लोपः सलोपकुत्वे च । 'ओदितश्च' इति निष्ठानत्वम् ॥

मद्गयः, मद्गः—ण्यति घञि च 'चजोः कु घिण्यतोः' इति कुत्वे 'झलां जश्' इति सकारस्य दकारः ॥

मद्गुः—'भृमृशि' इत्यादिना उप्रत्ययेन्यङ्क्वादित्वात्कुत्वे पूर्ववत्सकारस्य दकारः ॥

मद्गुरः—बाहुलकः कुरच् कुत्वं च ॥

मज्जा । मज्जानौ—'श्वन्नुक्षन्' इति कनिनन्तो निपात्यते ॥

रुजो भङ्गे ॥ १३२ ॥

चोरस्य रुजति रोगः—'रुजार्थानां भाववचनानामज्वरेः' इति धात्वर्थस्य भावकर्तृकत्वे कर्मणि शेषे षष्ठी । अत्र भावो धात्वर्थः ।

वचनशब्दश्च कर्तृवचनः । अत्र केचित्—रुजाशब्दस्य व्याधौ रूढत्वाद्भाववचनानामित्यस्य प्रत्युदाहरणं श्लेष्मा पुरुषं रुजतीति रुजेर्व्याध्यर्थत्व एवाहुः । श्लेष्मा पुरुषं रुजतीति व्याधिना योजयतीति ह्यत्रार्थः । वृत्तिभाष्ययोस्तु रुजां भङ्गमाश्रित्य नदीकूलानि रुजतीति प्रत्युदाहृतम् अशेषविवक्षायामपि कर्मणि नित्यं द्वितीयैव चोरं रुजतीति ॥

रुरोज । रुरुजतुः । रुरोजिथ । रुरुजिव ॥

रोक्ता । रोक्ष्यति । रुजतु । अरुजत् । रुजेत् । रुज्यात् ॥

अरौक्षीत् । अरौक्ताम् । अरौक्षुः । झलि सिचो लोपः । 'चोः कुः' इति कुः ॥

रुरुक्षति । रोरुज्यते । रोरोक्ति । रोजयति । अरूरुजत् ॥

निष्पूर्वोऽयं व्याधिप्रशमने, नीरुजति मिताशीति ॥
कूलमुद्रुजा 'उदिकूले रुजिवहोः' इति खश् ॥

रोगः—'पदरुज' इति घञ् कर्तरि । हृद्रोगः, हृदयरोगः—'वा शोकष्यञ्रोगेषु' इति हृद्भावविकल्पः ॥

रुक्—क्विप् ॥

रुग्णः, रुग्णवान्—ईदित्त्वान्नत्वम् ॥

लुग्नं जीर्णवस्त्रम्—'कपिलकादीनां संज्ञाच्छन्दसोः' इति लत्वम् ॥

रुजा—भिदादेराकृतिगणत्वादङ् ॥

हिंसार्थोऽयं चुरादौ ॥

भुजो कौटिल्ये ॥ १३३ ॥

भुजतीत्यादि रुजिवत् ॥

मूलविभुजो रथः—'मूलविभुजादीनामुपसङ्ख्यानम्' इत्यणोऽपवादः कः । 'भुजोऽनवने' इत्यत्र संयोगवद्धिप्रयोगस्यापि विशेषस्मृतिहेतुत्वात् 'अवत्सा धेनुरानीयतां' इमितिवदवनप्रतिषेधेन सम्भवदवनसम्बन्धो रौधादिक एव गृह्यते । उक्तं च तत्र भाष्ये—'अनवनकौटिल्ययोरिति वक्तव्यम्' इति । तस्मान्नास्मात्तङ् ॥

छुप स्पर्शे ॥ १३४ ॥

द्वितीयादिरयम् । केचित्प्रथमादिं पठन्ति । ते भाष्यविरोधादुपेक्ष्याः । तथाहि—'दीर्घोऽकितः' इत्यत्र चेच्छिद्यते चोच्छुप्यते इत्यत्र 'छे च' इति तुकि गुणो न प्राप्नोतीत्याशङ्क्य, परत्वाद्गुणे पश्चात्तुगिति समर्थितम् । हरदत्तोपि परत्वाद्गुणे कृते तुगित्याह ॥

छुपति । चुच्छोप । चुच्छुपतुः । चुच्छोपिथ । चुच्छुपिव । छोप्ता । छोप्स्यति । छुपतु । अच्छुपत् । छुपेत् । छुप्यात् । लिङि । अच्छौप्सीत् । अच्छौप्ताम् ॥

चुच्छुप्सति । चोच्छुप्यते । चोच्छोप्ति ॥

छोपयति । अचुच्छुपत् ॥

छुप्त्वा । छुप्तः ॥

रुश रिश हिंसायाम् ॥ १३५-१३६ ॥

रुशति । रुरोश । रुरोशिथ । रुरुशिव । रोष्टा । रोक्ष्यति । रुशतु । अरुशत् । रुशेत् । रुश्यात् । अरुक्षत् । 'शल इगुपधादनिटः क्सः' ॥

रुरुक्षति । रोरुश्यते । रोरोष्टि ॥

रोशयति । अरूरुशत् ॥

रिशति । रिरेश । रिरेशिथ । रेष्टा । रेक्ष्यति । रिशतु । अरिशत् । रिशेत् । रिश्यात् । अरिक्षत् ॥

रिरिक्षति । रेरिश्यते । रेरेष्टि ॥

रेशयति । अरीरिशत् ॥

लिश गतौ ॥ १३७ ॥

लिशतीत्यादि रिशतिवत् ॥

लिश्यत इति दैवादिकस्य ॥

स्पृश संस्पर्शे ॥ १३८ ॥

स्पृशति । पस्पर्श । पस्पृशतुः । पस्पर्शिथ । पस्पृशिव । स्वयश्शेषः ॥

स्रष्टा । स्रक्ष्यति । स्प्रष्टा । स्प्रक्ष्यति—' अनुदात्तस्य च ' इत्यादिना झल्यकिति वामागमः । तत्र यणादेशः । अन्यदा गुणः ॥

स्पृशतु । अस्पृशत् । स्पृशेत् । स्पृश्यात् ॥

अस्पार्क्षीत् । अस्पार्ष्टाम् । अस्पार्क्षुः । अस्प्राक्षीत् । अस्प्राष्टाम् अस्प्राक्षुः । ' स्पृशमृश ' इति पक्षे सिचि पूर्ववदम्विकल्पः । अन्यथा क्से—**अस्पृक्षदित्यादि** ॥

पिस्पृक्षति—उरदत्वे ' सन्यतः ' इतीत्वम् ॥

परीस्पृश्यते । परीस्पर्ष्टि । रुग्रिकोरप्युदाहार्यम् । **अपरीस्पर्गित्यत्र** ' क्विन्प्रत्ययस्य कुः पदान्ते ' इतीत्वं ' रात्सस्य ' इति नियमान्न संयोगान्तलोपः । इह क्विनि दृष्टो धातुः क्विन्प्रत्यय उच्यते । अस्ति चास्य क्विनो विधानं ' स्पृशोऽनुदके क्विन् ' इति ॥

मन्त्रेण स्पृशतीति **मन्त्रस्पृक्**—' स्पृशोऽनुदके क्विन् ' इति सुबन्तमात्र उपपदे क्विन् । उदकं स्पृशतीत्यत्र कर्मण्यणा **उदकस्पर्श** इति ॥

हृदिस्पृक् । **दिविस्पृगित्यत्र** ' हृद्द्युभ्यां ङेरुपसङ्ख्यानम् ' इत्यलुक् ॥

स्पर्शो रोगः—' पदरुज ' इति घञ् । तत्र वार्तिकं—स्पृश उपताप इति । स्पर्शवानप्यर्शआद्यचा स्पर्श उच्यते ॥

विच्छ गतौ ॥ १३९ ॥

उदात्त उदात्तेत् ।

विच्छायति । 'छे च' इति तुक् । 'गुपूधूपविच्छि' इत्यायः सार्वधातुके नित्यः ॥

विच्छायांचकार । विविच्छ । विविच्छतुः । विविच्छिथ विविच्छिव—'आयादय आर्धधातुके वा' इत्यार्धधातुके भाविन्यायोत्पत्तिविकल्पः । निवृत्तिविकल्पे प्रत्ययलक्षणेनायान्तत्वादाम्स्यात् विच्छांचकारेति ॥

विच्छायिता, विच्छिता । विच्छायिष्यति, विच्छिष्यति । विच्छायतु । अविच्छायत् । विच्छायेत् । आशिषि—विच्छाय्यात्, विच्छ्यात् । अविच्छायीत् । अविच्छायिष्टाम् । अविच्छीत् । अविच्छिष्टाम् ॥

विविच्छायिषति, विविच्छिषति । वेविच्छ्यते—यङो लुको विवक्षायां तेनार्धधातुकस्य विषयत्वस्यैवापहारात् आयोत्पत्तिविकल्पो नेति प्रागेवोपपादितत्वात् यङ्लुङ्नास्ति ॥

विच्छयति । अविविच्छत् । विच्छाययति । अविविच्छयत् ॥

विश्नः—'यजयाच' इत्यादिना नङ् । 'छ्वोश्शूठ्' इति शः । 'नेड्वशि कृति' इतीण्णिषेधः ॥

विच्छित्वा । विच्छितः ॥

भाषार्थोऽयं चुरादौ ॥

विश प्रवेशने ॥ १४० ॥

विशतीत्यादि रिशतिवत् । **निविशते**—'नेर्विशः' इति तङ् । उत्तरसूत्रोपात्तैः पर्यादिभिस्साहचर्यात् निरिहोपसर्गो गृह्यते न तु तत्प्रतिरूपक इति । 'अङ्के निविशतीं भयात्' इत्यत्र तङभावः प्रतिरूपकापेक्षो द्रष्टव्यः ॥

निविविशे । निविविशिषे । निवेष्टा । निवेक्ष्यते । निविशताम् । न्यविशत । निविशेत । निविक्षीष्ट । न्यविक्षत ॥
निविविक्षते । निवेवेष्टि ॥

विष्ट्वा । विष्टः ॥

विट् । विशौ—क्विप् ॥

देवविशा—अजादिपाठाद्धलन्तादपि टाप् ॥

वेशः—'पदरुजविश' इति कर्तरि घञ् । वेश्याजनसमाश्रये तु 'हलश्च' इत्यधिकरणे घञ् ॥

गेहानुप्रवेशमास्ते, गेहंगेहमनुप्रवेशमास्ते—'विशिपति' इत्यादिना णमुल् । तृतीयाप्रभृतित्वात्समासविकल्पः । असमासे व्याप्यमानतया द्रव्यवचनस्य द्विर्वचनम् । आसेव्यमानतायां तु क्रियावचनस्य णमुलन्तस्य । समासे तु व्याप्त्यासेवनयोः तेनैवोक्तत्वान्न द्विर्वचनम् । क्त्वाप्यन्यत्र वासरूपविधिना भवति **गेहंगेहमनुप्रविश्यानुप्रविश्येति** । समासस्त्वस्य न भवत्यनुपपदे विधानात् । इत्येतत्सर्वं स्कन्दत्यादावुक्तम् ॥

ग्राममभिनिविशते—‘अभिनिविशश्च’ इत्याधारः कर्म, अत्र मण्डूकप्लुत्या ‘परिक्रयणे’ इत्यतोऽन्यतरस्याङ्ग्रहणानुवृत्तेस्तस्य च व्यवस्थितविभाषात्वात् ‘कल्याणेऽभिनिवेशः’ ‘पापेऽभिनिवेशः’ ‘या या संज्ञा यस्मिन्यस्मिन्नभिनिविशते’ इत्यादौ कर्मत्वाभावः ॥

वेशन्तः—‘जॄविशिभ्यां झच्’ इति झच् ; ‘झोऽन्तः’ ॥

वेश्म—मनिन् ॥

मृश आमर्शने ॥ १४१ ॥

आमर्शनं स्पर्शः । **मृशतीत्यादि** सर्वं स्पृशतिवत् ॥

णुद प्रेरणे ॥ १४२ ॥

कर्त्रभिप्रायेऽपि क्रियाफले परस्मैपदार्थः पुनः पाठः ॥

नुदतीति रूपं पूर्ववत् ॥

षद्लृ विशरणगत्यवसादनेषु ॥ १४३ ॥

एवं धनपालः । विशरण इत्यात्रेयमैत्रेयौ दुर्गश्च । शिति ‘पाघ्रा’ इत्यादिना सीदादेशः । **सीदतीत्यादि** । अन्यत्र **ससाद** इत्यादि सर्वं भौवादिकवत् । इह पाठे प्रयोजनं **सीदती सीदन्तीति** नुम्विकल्पः । एवं तर्ह्यनेनैव रूपद्वये सिद्धे तत्रास्य पाठोऽनर्थक इति चेत् ‘ज्वलितिकसन्तेभ्यो णः’ इति णार्थः ; साद इति स्वरश्च भिद्यते । शपि सीदतीत्यत्र शप्तिपोः पित्त्वादनुदात्तत्वे धातुरुदात्तः । शे तु प्रत्ययस्वरेणोदात्तत्वे मध्योदात्तत्वम् ॥

शद्लृ शातने ॥ १४४ ॥

पाघ्रादिना शिति शीतेयादेशः । शीय इत्यादि । अन्यत्र शशाद शत्तेत्यादि सर्वं भौवादिकवत् । 'शदेश्शितः' इति शिद्विषये तङो विधानात् नास्य शताऽस्तीति नुम्विकल्पस्य प्रयोजनस्याभावात्पुनः पाठे प्रयोजनं पूर्ववत्स्वरभेदः ॥

पृच्छत्यादयोऽनुदात्ता उदात्तेतः । विच्छिरेकस्सेट् ॥

अथोभयपदिन आह–

मिल सङ्गमने ॥ १४५ ॥

मिल संश्लेषण इति पठितस्य इह पुनः पाठः कर्त्रभिप्राये तङर्थ इत्यात्रेयः । अयं ह्युदात्तस्वरितेत् । मिलतीत्यादि परस्मैपदं पूर्ववत् ॥

मिलते । मिमिले । मिलिता । मिलिष्यते । मिलताम् । अमिलत । मिलेत । मेलिषीष्ट । अमेलिष्ट ॥

मिमिलिषते । मिमेलिषते ॥

मुच्लृ मोक्षणे ॥ १४६ ॥

मुञ्चति । 'शेमुचादीनाम्' इति नुम् ॥

मुमोच । मुमुचतुः । मुमोचिथ । मुमुचिव ॥

मोक्ता । मोक्ष्यति । मुञ्चतु । अमुञ्चत् । मुञ्चेत् । मुच्यात् । अमुचत् । लृदित्त्वादङ् परस्मैपदेषु ॥

मुञ्चते । मुमुचे । मुमुचिषे । मोक्ता । मोक्ष्यते । मुञ्चताम् । अमुञ्चत । मुञ्चेत । मुक्षीष्ट । अमुक्त, अमुक्षाताम् । झलि सिचो लोपः । 'चोः कुः' ॥

मुमुक्षति, मुमुक्षते वत्सम् । कर्मकर्तरि मोक्षते वा वत्सस्स्वयमेवेत्यपि भवति । 'मुचोऽकर्मकस्य गुणो वा' इति पक्षे गुणः । सनन्तस्य 'अत्र लोपः' इत्यभ्यासस्य लोपः । यङ्क्षिणोः 'भूषाकर्मकिरादिसनाम्' इति निषेधः ॥

मोमुच्यते । मोमोक्ति ॥

मोचयति । अमूमुचत् ॥

मोक्षः—सनन्ताद्धञि पूर्ववद्गुणाभ्यासलोपौ ॥

निर्मुच्यत इति **निर्मोकः**—घञि 'चजोः कु घिण्यतोः' इति कुत्वम् । 'अमोच्यमश्वं यदि मन्यसे' इत्यादावावश्यके ण्यति 'ण्य आवश्यके' इति कुत्वनिषेधः ॥

नखमुचानि धनूंषि—मूलविभुजादित्वात्कर्तरि कः । मुष्टेर्बहिर्भूतानीत्यर्थः ॥

जलमुक्, जलमुचौ—क्विप् ॥

मुक्तिः । मुक्ता—'क्तिच्क्तौ च संज्ञायाम्' इति संज्ञायां क्तः ॥

मुक्तैव **मौक्तिकम्**—'विनयादिभ्यश्च' इति स्वार्थे ठक् ॥

नमुचिः—'इगुपधात्किच्च' इतीन् । कित्त्वं च 'न भ्राट्' इत्यादिना नञः प्रकृतिभावः ॥

चक्रमुक्तः—'अपेतापोढ' इति पञ्चमीसमासः ॥
प्रमोचनेऽयं चुरादिः । मुञ्चते, मुञ्चतीति कल्कने शपि गतम् ॥

लुप्लृ छेदने ॥ १४७ ॥

लुम्पति । लुम्पते इत्यादि मुञ्चतिवत् ॥

लोलुप्यते—'लुपसद' इति भावगर्हायामेव यङ् । लुप्तनिर्दिष्ट इत्यत्र अपूर्वकालस्यापि लुप्तशब्दस्य भाष्यकारप्रयोगात्पूर्वनिपातः ॥

लोपयति । अलूलुपत्, अलुलोपत्—'काण्यादीनां च' इति ह्रस्वविकल्पः ॥

विद्लृ लाभे ॥ १४८ ॥

अयं सेडपि मुचादिकार्यार्थीमिह पठितः ॥

विन्दते । विन्दति । विन्दतः—'विदो लटो वा' इत्यत्र लादेशैस्सम्भवानन्तर्यस्य आदादिकस्यैव ग्रह इति विकरणेन व्यवहितानन्तर्यात् अस्मात्परेषां तिङां णलादयो न भवन्ति । अत एव हेतोः 'विदेश्शतुर्वसुः' इत्यत्राप्यादादिक एव गृह्यत इति विन्दन्नित्यत्र वस्वादेशो न भवति ॥

विवेद । विविदतुः । विवेदिथ । विविदिव । वेदिता । वेदिष्यति । विन्दतु । अविन्दत्—'सिजभ्यस्तविदिभ्यः' इत्यत्रा-

पि पूर्ववत्सम्भवानन्तर्यस्य आदादिकस्यैव ग्रह इत्यविन्दन्निति नुम्न भवति ॥

विन्देत् । आशिषि—विद्यात् । 'समोगमृच्छि' इत्यत्र गम्यादिभिस्साहचर्यात् परस्मैपदिन एव विदेर्ग्रह इत्यस्य नियमाभावात् कर्माविवक्षायामपि **संविन्दति संविन्दते** इत्युभयं भवति ॥

अविदत् । अविदताम्—लृदित्वादङ् ॥

विन्दते । विविदे । वेदिता । वेदिष्यते । विन्दताम् । अविन्दत । विन्देत । वेदिषीष्ट । अवेदिष्ट—'उपविद' इत्यत्र उपजागृभ्यां परस्मैपदिभ्यामादादिकेन जागर्तिना साहचर्यात्परस्मैपदिन आदादिकस्य ज्ञानार्थस्यैव ग्रह इत्यात्मनेपदिनोऽनादादिकस्यात्र भवति ॥

विविदिषति, विवेदिषति । विदित्वा, वेदित्वा—'रलो व्युपधात्' इति वा कित्त्वम् । 'रुदविद' इत्यत्राकारस्य विवक्षितत्वादस्य न ग्रहः । अत एव तत्र न्यासे 'विद ज्ञाने' इत्युपात्तम् । तत्र 'सत्सूद्विष' इत्यत्र वृत्तिः—विद ज्ञाने, विद सत्तायां, विद विचारण इति त्रयाणां ग्रहणम्; न लाभार्थस्याकारस्य विवक्षितत्वादिति ॥

वेविद्यते । वेवेत्ति ॥

वेदयति । अवीविदत् ॥

विन्दतीति **विन्दः**—'अनुपसर्गाल्लिम्प' इति शः । विक-

रणस्यास्य चैकादेशः । **गोविन्दः** । **कुविन्द** इत्यादौ 'गवादिषु विन्देस्संज्ञायाम्' इति शः ॥

ब्राह्मणवेदं भोजयति—'कर्मणि दृशिविदोस्साकल्ये' इति साकल्यविशिष्टे कर्मणि णमुल् । यंयं ब्राह्मणं लभते तंतं भोजयतीत्यर्थः । अत्र सत्तार्थस्यैकस्य न ग्रहस्सकर्मकत्वात् ॥

यावद्वेदं भोजयति—यावल्लभते तावद्भोजयतीत्यर्थः । 'यावति विन्दजीवोः' इति णमुल् । 'विदिभिदिच्छेदेः कुरच्' इत्यत्र ज्ञानार्थस्य ग्रहणं; न लाभार्थस्य; स्वभावादिति वृत्तिः । 'विन्दुरिच्छुः' इत्यत्रापि स्वभावात् ज्ञानार्थस्य ग्रह इति न्यासे । 'संज्ञायां समज' इत्यत्रापि ज्ञानार्थ एव न्यासे गृहीतः । **वित्तं** धनं वित्तं प्रसिद्धं, 'वित्तो भोगप्रत्यययोः' इति निष्ठानत्वनिषेधः । भुज्यत इति भोगो धनम् । प्रतीयत इति प्रत्ययः प्रसिद्धम् । अन्यत्र **विन्नः**—'विभाषा गमहनविदविशाम्' इति क्वसाविड्विकल्पनात् 'यस्य विभाषा' इत्यनिट्त्वम् । कातन्त्रे त्वयमनिडुक्तः । तन्मते वेत्ता वेत्स्यतीत्यादि । इदं च व्याघ्रभूतेर्नाभिमतम् । तथाहि—'विद्यति विन्त इत्यपि' इति श्यना श्नमा च निर्दिश्य दैवादिकस्य रौधादिकस्य चानिट्त्वं तेनोक्तं, नान्यस्य । तथा वृत्तिकारोपि विद्यति विन्त इति निर्देशात् ज्ञानलाभयोरिटमाह—वेदिता विद्यानाम् वेदिता धनस्येति । परिवेत्तृशब्दस्तु विद्यतिविन्त्योरन्यतरस्य परिपूर्वस्यार्थान्तरे वृत्तस्य द्रष्टव्यः । तृजन्तोऽप्ययं स्वभावादनूढेऽग्रजे पूर्वमूढेऽवरजे वर्तते । 'अप्तृन्' इत्यादौ नप्त्रादीनां संज्ञाशब्दानामेषामेव दीर्घ इति नियमार्थम्, न तु संज्ञाशब्दमात्रस्येति **उद्गातारा**वित्यदौ दीर्घो न भवति ॥

लिप उपदेहे ॥ १४९ ॥

लिम्पति । लिलेप । लिलेपिथ । लिलेपिव । लेप्ता । लेप्स्यति । लिम्पतु । अलिम्पत् । लिम्पेत् । लिप्यात् । अलिपत्—'लिपिसिचिह्वश्च' इत्यङ्परस्मैपदे । अन्यत्रात्मनेपदेषु 'आत्मनेपदेष्वन्यतरस्याम्' इति पक्षे सिच् । **अलिपत । अलिपेताम् । अलिपन्त । अलिप्त । अलिप्सातात्म् । अलिप्सत ।** इत्युभयं भवति ॥

लिम्पते । लिलिपे । इत्यादि ॥

लिलिप्सति । लिलिप्सते । लेलिप्यते । लेलेप्ति ॥

लेपयति । अलीलिपत् ॥

लिम्पः—'अनुपसर्गाल्लिम्प' इति शः ॥

निलिम्पाः देवाः—'नौ लिम्पः' इति शः ॥

लिप्तवासितमित्यत्र राजदन्तादिषु पाठात् पूर्वक्तास्यापि परनिपातः॥

लिपिः । लिबिः—'इगुपधात् किच्च' इतीन्प्रत्ययः । 'दिवाविभा' इत्यादौ लिपिलिबीति निर्देशात् पक्षे पकारस्य बकारः ॥

षिच क्षरणे ॥ १५० ॥

सिञ्चति । सिषेच । सिषिचतुः । सिषेचिथ । सिषिचिव—क्रादिनियमादिट् । 'आदेशप्रत्यययोः' इति प्रकृतेष्षत्वम् ।

सेक्ता । सेक्ष्यति । सिञ्चतु । असिञ्चत् । सिञ्चेत् । सिच्यात् । असिचत् । असिचताम्–'लिपि सिचि ह्वश्च' इत्यङ् परस्मैपदे । अन्यत्र 'आत्मनेपदेष्वन्यतरस्याम्' इत्यङ्विकल्पः । **असिक्त । असिक्षाताम् । असिक्षत । असिचेतामित्यादि । सिञ्चते । सिषिचे** इत्यादि ॥

सिसिक्षति—'स्तौतिण्योरेव' इति नियमान्न षत्वम् ॥

सेसिच्यते—'सिचो यङि' इति न षत्वम् ॥

सेषेक्ति । सेचयति । असीषिचत् । अत्र स्वामी षत्वं नेच्छति ॥

अभिषिञ्चति । अभिषिषेच—'उपसर्गात्' इत्यादिना षत्वम् ॥

अभ्यषिञ्चत्—'प्राक्सितादड्व्यवायेऽपि' इति षत्वम् ॥

अभिषिषिक्षति—'स्तौतिण्योरेव' इति नियमं बाधित्वा 'स्थादिष्वभ्यासे नचाभ्यासस्य' इति षत्वम् ॥

अभिसेसिच्यते—इत्यत्र 'उपसर्गात्' इति प्राप्तेरपवादत्वात् 'सिचो यङि' इति निषेधो भवति । 'उपसर्गात्' इति प्राप्तिः पुरस्तादपवादन्यायेन 'सात्पदाद्योः' इति निषेधमेव बाधते ॥

सेक्रम्—'दाम्नी' इत्यादिना ष्ट्रन् ॥

सिक्थम् पात्रम्—'पातृतुदि' इत्यादिना क्थः ॥

सिचयशब्दो बाहुलकात्कयनन्तः ॥

मुचादय अनुदात्तास्स्वरितेतः । विन्दिस्तु सेट् ॥

कृती छेदने ॥ १५१ ॥

उदात्त उदात्तेत् ॥

कृन्तति । चकर्त । चकृततुः । चकर्तिथ । चकृत । चकृतिव । कर्तिता । कर्त्स्यति, कर्तिष्यति—'सेऽसिचि' इत्यादिना सकारादावसिचि इड्विकल्पः ॥

कृन्ततु । अकृन्तत् । कृन्तेत्, कृत्यात् । लिङौ । अकर्तीत् । अकर्तिष्टाम् ॥

चिकर्तिषति, चिकृत्सति । चरीकृत्यते । चरीकर्ति ॥

कर्तयति । अचीकृतत्, अचकर्तत्—'उरृद्वा'॥

विकर्तनः—नन्द्यादिः ॥

कृत्तः, कृत्तवान् ॥

कृत्तिः—क्तिन् ॥

कृत्सम्—'स्तुवृश्चि' इत्यादिना सः । 'तितुत्र' इतीण्णिषेधः ॥

कृत्स्नम्—'कृत्यशुभ्यां क्स्नः' इति क्स्नः । बाहुलकादिडभावश्च ॥

खिद परिघाते ॥ १५२ ॥

अनुदात्त उदात्तेत् ॥

खिन्दति । चिखेद । चिखिदतुः । चिखेदिथ । चिखिदिव । खेत्ता । खेत्स्यति । खिन्दतु । अखिन्दत् । खिन्देत्, खिद्यात् लिङि ॥

अखैत्सीत् । अखैत्ताम्—'वदव्रज' इति वृद्धिः । झलि सिचो लोपः ॥

चिखित्सति । चेखिद्यते । चेखेत्ति, चेखिदीति ॥

खेदयति । अचीखिदत् ॥

खित्त्वा । खिन्नः ॥

खिदिरः*—'इषिमदि' इत्यादिना किरच् ॥
खिद्यत इति दैन्ये दिवादिपाठात् । अयं कर्मकर्तरीति वदन् वामनो दिवादावस्य पाठं नेच्छति । खिद दैन्ये इति रुधादौ ॥

पिश अवयवे ॥ १५३ ॥

उदात्त उदात्तेत् ॥

पिंशति । पिपिंश । पिपेशिथ । पिपिंशिव । पेशिता । पेशिष्यति । पिंशतु । अपिंशत् । पिंशेत् । पिश्यात् । अपेशीत् । अपेशिष्टाम् ॥

पिपिशिषति । पेपिश्यते । पेपेष्टि ॥

पेशयति । अपीपिशत् ॥

---

*खिदिरम्.

पिशित्वा, पेशित्वा ॥

पिशितम् ॥

पिशिताशः, पिशाचः—'पृषोदरादित्वादभिमतसिद्धिः ॥

पिशङ्गम्—बाहुलकादङ्गच् ॥

पिशङ्गी, पिशङ्गा—'पिशङ्गादुपसङ्ख्यानम्' इति ङीष् ॥

पेशी—गर्भकोशः । पचाद्यजन्तः । गौरादित्वान्ङीष् । अयं दीपनायामपि वर्तते । तथा च 'त्वष्टा रूपाणि पिंशतु'* इत्यत्र हरदत्तः—पिंशतिर्दीप्तिकर्मा 'नक्षत्रेभिः पितरो द्यामपिंशन्'† इति दर्शनादिति ।

पिश गतौ चुरादिः ।

वृत् ॥

तुदादयो मुचादयश्च वृत्ता इत्यर्थः ॥

इति श्रीपूर्वदक्षिणपश्चिमसमुद्राधीश्वर-कम्पराजसुतसङ्गममहाराजमन्त्रिणा
मायणसुतेन माधवसहोदरेण विरचितायां
माधवीयायां धातुवृत्तौ
तुदादयस्सम्पूर्णाः.

---

*तै. सं. १-१३, †ऋक्सं. १०-६८-११.

अथ रुधादयः.

रुधिर् आवरणे ॥ १ ॥

अयं द्विकर्मकः । **व्रजं गां रुणद्धि । रुन्धः । रुन्धन्ति । रुणत्सि । रुन्धः । रुन्ध । रुणध्मि । रुन्ध्वः । रुन्ध्मः**—'रुधादिभ्यश्श्नम्' इति शपोऽपवादश्श्नम् । नित्यत्वादयं गुणात्पूर्वं भवति मित्त्वादचोऽन्त्यात्परः । शकारः 'श्नान्नलोपः' इति विशेषणार्थः । 'झषस्तथोर्धोऽधः' इति तथोर्धत्वे 'झलां जश्झशि' इति धातोर्दत्वम् । रुन्धः—इत्यादावकारस्य क्ङिति सार्वधातुके 'श्नसोरल्लोपः' इत्यल्लोपः, 'नश्चापदान्तस्य झलि' इत्यनुस्वारे परसवर्णः; अल्लोपस्य अनयोर्न स्थानिवत्त्वं 'न पदान्त' इत्यादिना निषेधात् । णत्वे तु कर्तव्ये परसवर्णस्य पूर्वत्रासिद्धत्वात् । न चानुस्वारात्पूर्वमेव णत्वप्रसङ्गस्तस्यासिद्धत्वात् । रुणत्सीत्यत्र 'खरि च' इति चर्त्वम् ॥

रुरोध । रुरुधतुः । रुरुधुः । रुरोधिथ । रुरुधिव—'क्रादिनियमादिट्' ॥

रोद्धा । रोत्स्यति । रुणद्धु । रुन्धात् । रुन्धाम् । रुन्धन्तु । रुन्धि—हेर्धित्वे जाश्त्वम् । **रुन्ध । रुणधानि । रुणधाव** ॥

अरुणत् । अरुन्धाम् । अरुन्धन् । अरुणत्, अरुणः । अरुन्धम् । अरुणधम् । अरुन्ध्व—हल्ङ्यादिना तिस्योर्लोपे जश्त्वे वा चर्त्वम् । सिपि 'दश्च' इति वा रुत्वम् ॥

रुन्ध्यात् । रुन्ध्युः । रुन्ध्याः । रुन्ध्याम् । रुन्ध्याव । आशिषि—रुध्यात् । रुध्यास्ताम् ॥

अरुधत् । अरुधः । अरुधम् । अरुधाव—'इरितो वा' इत्यङ्परस्मैपदे । अन्यदा अरौत्सीत् । अरौद्धाम् । अरौत्सुः । अरौत्सीः । अरौत्सम् । अरौत्स्व ॥

रुन्धे । रुन्धाते । रुन्धते—'आत्मनेपदेष्वनतः' इत्यद्भावः । रुन्त्से । रुन्धाथे । रुन्ध्वे । रुरुधे । रुरुधाते । रुरुधिषे । रुरुधे । रुरुधिवहे ॥

रोद्धा । रोत्स्यते । रुन्धाम् । रुन्धाताम् । रुन्धताम् । रुन्त्स्व । रुणधै । रुणधावहै ॥

अरुन्ध । अरुन्धाताम् । अरुन्धत । अरुन्धाः । अरुन्धि । अरुन्ध्वहि । रुन्धीत । रुन्धीयाताम् । रुन्धीथाः । रुन्धीय । रुन्धीवहि । आशिषि—रुत्सीष्ट । रुत्सीयास्ताम्—'लिङ्सिचौ' इति कित्त्वम् ॥

अरुद्ध । अरुत्साताम् । अरुत्सत । अरुद्धाः । अरुत्सि । अरुत्स्वहि ॥

कर्मकर्तरि—रुध्यते गौस्स्वयमेव । अरुद्ध गौस्स्वयमेवेत्यत्र तु 'न रुधः' इति चिणो निषेधः । शुद्धे तु कर्मणि—अरोधि इति भवति ॥

रुरुत्सति, रुरुत्सते—'हलन्ताच्च' इति सनः कित्त्वम् ॥

रोरुध्यते । रोरोद्धि ॥

रोधयति । अरूरुधत्--अस्याप्रधाने कर्मणि लादयः ॥

अवरोधी--ग्रहादित्वाणिणिनिः ॥

अनुरोधी--सम्पृचादिना घिनुण् ॥

प्रतिरोधी--'भविष्यति गम्यादयः' इतीन्नन्तो भविष्यदर्थे ॥

व्रज उपरोधम् । व्रजेनोपरोधम्--'सप्तम्यां चोपपीडरुध' इति सप्तम्यन्ते तृतीयान्ते च णमुल् । 'तृतीयाप्रभृतीनि' इति समासविकल्पः । केचिदुपशब्दस्य पीडयतिनैव सम्बन्धमाहुः । भट्टिकारस्य तु 'उपसर्गग्रहणमतन्त्रम्' इति प्रागेवोक्तम् ॥

रोधः--असुन् ॥

रुधिरम्--'इषिमदि' इत्यादिना किरच् ॥

अनुरुध्यत इति श्यनि ॥

भिदिर् विदारणे ॥ २ ॥

भिनत्ति । भिन्तः । भिन्दन्ति । भिनत्सि । भिनत्थ । भिन्द्वः । बिभेद । बिभिदतुः । बिभेदिथ । बिभिदिव । भेत्ता । भेत्स्यति । भिनत्तु, भिन्तात् । भिन्ताम् । भिन्दन्तु । भिन्धि । भिनदानि । अभिनत्, अभिनद् । अभिन्ताम् । अभिन्दन् । अभिनः, अभिनत्, अभिनद् । अभिनदम् । अभिन्द्व । भिन्द्यात् । भिन्द्याताम् ।

भिन्द्याः । आशिषि—भिद्यात् । भिद्यास्ताम् । अभिदत्, अभैत्सीत् । अभैत्ताम् ॥

भिन्ते । भिन्त्से । भिन्द्वे । बिभिदे । बिभिदिषे । भेत्ता । भेत्स्यते । भिन्ताम् । भिन्दाताम् । भिन्त्स्व । भिनदै । अभिन्त । अभिन्दाताम् । अभिन्थाः । अभिन्दि । भिन्दीत । भिन्दीयाताम् । भित्सीष्ट । भित्सीयास्ताम् । अभित्त । अभित्साताम् ॥

बिभित्सति, बिभित्सते । बेभिद्यते । बेभिदीति, बेभेत्ति ॥

भेदयति । अबीभिदत् ॥

सर्वत्र रुधिवत्प्रक्रिया ॥

भिदेलिमानि काष्ठानि—'केलिमर उपसङ्ख्यानम्' इति केलिमर् । अयं कर्मकर्तरि ॥

भिद्यो नदः—'भिद्योद्ध्यौ नदे' इति क्यब्निपात्यते कर्तरि । काष्ठभित्—'सत्सूद्विष' इत्यादिना क्विप् ॥

भिदुरं काष्ठम्—'विदिभिदिच्छिदेः कुरच्' इति कुरच् । स्वभावादयं कर्मकर्तरि च ॥

भिदा—भिदादित्वादङ् । तत्र 'भिदा विदारणे' इति पाठादन्यत्र भित्तिः ॥

भित्तम्—'भित्तं शकलम्' इति शकले निष्ठानत्वाभावः । अन्यत्र भिन्नम् ॥

भिदिरं वज्रम्—'इषिमदि' इत्यादिना किरच् ॥

उद्भित्—क्विप् ॥

उद्भिदम्—इगुपधलक्षणः कः ॥

छिदिर् द्वैधीकरणे ॥ ३ ॥

छिनत्तीत्यादि भिनत्तिवत् ॥

छिदुरम्—'विदिभिदिच्छिदेः' इति कुरच् । अयं कर्मकर्तरीति वृत्तिः । 'करीन्द्रदर्पच्छिदुरं मृगेन्द्रम्' 'रसज्ञापाण्डित्यच्छिदुरशशिधामभ्रमकरान्' इत्यादिप्रयोगदर्शनात्कर्मकर्तरीति वृत्तिकारोक्तं प्रायिकमित्यात्रेयः ॥

रज्जुच्छित् । प्रच्छित्—'सत्सूद्विष' इत्यादिना क्विप् ॥

प्रच्छिदा—'छिदा द्वैधीकरणे' इति भिदादिपाठादङ् । अन्यत्र छित्तिः ॥

छेदः—घञ् ॥

छैदिकम्—'छेदादिभ्यो नित्यम्' इति तदर्हतीत्यर्थे ठक् ॥

शीर्षच्छेद्यः । शैर्षच्छेदिकः—'शीर्षच्छेदाद्यत्' इति तदर्हतीत्यर्थे यत्ठकौ, अत्रैव निर्देशात्प्रत्ययसन्नियोगेन शिरसश्शीर्षभावः ॥

छिदिरम्—'इषिमदि' इत्यादिना किरच् ॥

छिद्रम्—'स्फायितञ्चि' इत्यादिना रक् ॥

छेद द्वैधीकरणे इति चुरादौ ॥

रिचिर् विरेचने ॥ ४ ॥

रिणक्ति । रिङ्क्तः । रिञ्चन्ति । रिणक्षि । रिङ्क्थः । रिणच्मि । रिञ्च्वः । रिरेच । रिरिचतुः । रिरेचिथ । रिरिचिव । रेक्ता । रेक्ष्यति । रिणक्तु । रिङ्क्तात् । रिञ्चन्तु । रिङ्ग्धि । रिणचानि । अरिणक्, अरिणग् । अरिङ्क्ताम् । अरिञ्चन् । अरिणचम् । अरिञ्च्व । रिञ्च्यात् । रिञ्चाताम् । आशिषि—रिच्यात् । रिच्यास्ताम् । अरिचत् । अरिचताम् । अरैक्षीत् । अरैक्ताम् ॥

रिङ्क्ते । रिरिचे । रेक्ता । रेक्ष्यते । रिङ्क्ताम् । रिङ्क्ष्व । रिणचै । अरिङ्क्त । अरिङ्क्थाः । अरिञ्चि । रिञ्चीत । रिक्षीष्ट । अरिक्त । अरिक्षाथाम् ॥

रिरिक्षति । रेरिच्यते । रेरेक्ति । रेचयति । अरीरिचत् ॥

रेकः—घञि 'चजोः कु घिण्यतोः' इति कुत्वम् ॥

रिक्थम्—'पातॄतुदि' इत्यादिना थक् ॥

विरिञ्चिः । विरिञ्चिनः*—एते पृषोदरादयः ॥

रिच विरेचनसम्पर्चनयोरिति युजादौ ॥

---

*विरिञ्चः । विरिञ्चनः.

विजिर् पृथग्भावे ॥ ५ ॥

विनक्ति । विङ्क्ते इत्यादि रिचिवत् ॥

विवेकी—सम्पृचादिना घिनुण् ॥ विवेकः—घञ् । 'चजोः कु घिण्यतोः' इति कुत्वमुभयत्र ॥

क्षुदिर् सम्पेषणे ॥ ६ ॥

क्षणत्ति । क्षुन्तः । क्षुन्दन्ति । क्षुणत्सि । क्षुणद्मि । क्षुन्द्वः ॥ क्षुन्ते । क्षुन्दाते । क्षुन्त्से । क्षुन्ध्वे । क्षुन्द्वहे ॥

चुक्षोद । चुक्षुदतुः । चुक्षोदिथ । चुक्षुदिव । चुक्षुदे । चुक्षुदिषे । चुक्षुदिवहे । क्षोत्ता । क्षोत्स्यति । क्षोत्स्यते । क्षुणत्तु । क्षुन्तात् । क्षुन्ताम् । क्षुन्दन्तु । क्षुन्धि । क्षुणदानि । क्षुन्ताम् । क्षुन्दाताम् । क्षुन्दताम् । क्षुन्त्स्व । क्षणदै । क्षणदावहै । अक्षुणत् । अक्षुणः । अक्षुणदम् । अक्षुन्द्व । अक्षुन्त । अक्षुन्दाताम् । अक्षुन्दत । अक्षुन्थाः । अक्षुन्दि । अक्षुन्द्वहि । क्षुन्द्यात् । क्षुन्द्याताम् । क्षुन्दीत । क्षुन्दीयाताम् । आशिषि—क्षुद्यात् । क्षुद्यास्ताम् । क्षुत्सीष्ट । क्षुत्सीयास्ताम् । अक्षुदत् । अक्षुदताम् । अक्षौत्सीत् । अक्षौत्ताम् । अक्षुत्त । अक्षुत्साताम् ॥

चुक्षुत्सति । चुक्षुत्सते ॥

चोक्षुद्यते । चोक्षोत्ति ॥

क्षोदयति । अचुक्षुदत् ॥

क्षुद्रः—'स्फायितञ्चि' इत्यादिना रक् ॥

क्षुद्राभिः कृतं क्षौद्रम् मधु—'क्षुद्राभ्रमर' इति तेन कृतमिति विषयेऽञ् ॥

क्षोदिष्ठः । क्षोदीयान् । क्षोदिमा—'स्थूलदूर' इत्यादिना यणादिलोपः इष्ठेमेयस्सु पूर्वस्य गुणः । पृथ्वादित्वादिमनिच् ॥

क्षोदयति—'णाविष्ठवत्' इति यणादिलोपो गुणश्च ॥

युजिर् योगे ॥ ७ ॥

युनक्ति । युङ्क्तः । युञ्जन्ति । युनक्षि । युनज्मि ॥

युङ्क्ते । युञ्जाते । युङ्क्षे । युञ्जे । युञ्ज्वहे ॥

युयोज । युयोजिथ । युयोज । युयुजे । युयुजिषे ॥

योक्ता । योक्ष्यति, योक्ष्यते । युनक्तु, युङ्क्तात् । युङ्क्ताम् । युञ्जन्तु । युङ्ग्धि । युनजानि ॥

युङ्क्ताम् । युङ्क्ष्व । युनजै ॥

अयुनक् । अयुङ्क्ताम् । अयुञ्जन् । अयुनक् । अयुनजम् ॥

अयुङ्क्त । अयुञ्जाताम् । अयुङ्क्थाः । अयुञ्जि । अयुञ्ज्महि ॥

युञ्ज्यात् । **युञ्ज्याताम्** । **युञ्जीत** । आशिषि—**युज्यात्, युक्षीष्ट**॥

अयुजत् । **अयोक्षीत्** । **अयुक्त** । **अयुक्षाताम्** । **अयुक्षत** ॥

युयुक्षते । **योयुज्यते** । **योयोक्ति** ॥

योजयति । **अयूयुजत्** ॥

प्रयुङ्क्ते । **उपयुङ्क्ते**—'प्रोपाभ्यां युजेरयज्ञपात्रेषु' इत्यकर्त्रभिप्रायेऽपि तङ् । यज्ञपात्रे तु **पात्राणि प्रयुनक्ति** । अत्र प्रग्रहणं स्वराद्यन्तस्योपसर्गस्योपलक्षणम् । उपग्रहणमपि स्वरादेः । तथा च वार्तिकम्—'स्वराद्यन्तोपसृष्टादिति वक्तव्यम्' इति ॥

युज्यते ब्रह्मचारी योगम्—'सृजियुज्योश्शंस्तु' इति कर्मवद्भावः शंश्च । यकोपवादः । अत्र कैयटे—युज्यते इति योगः ब्रह्मचारिणं योगो युनक्ति; सम्बध्नातीत्यर्थः । ततो ब्रह्मचारिणः कर्तृत्वविवक्षायां युज्यते ब्रह्मचारी योगमिति भवतीति । श्यन्यकोस्स्वरभेदः । 'तास्यनुदात्तेत्' इति लसार्वधातुकानुदात्तत्वे यकि प्रत्ययस्वरेण स एवोदात्तस्स्यात् । श्यनि तु नित्स्वरेण धातुरुदात्तो भवति ॥

युग्यम्—वाहनम् 'युग्यं च पत्रे' इति कर्मणि करणे वा क्यपि कुत्वं निपात्यते । अन्यत्र **योग्यम्**—ण्यति कुत्वम् ॥

प्रयोज्यः । **नियोज्यः**—'प्रयोज्यनियोज्यौ शक्यार्थे' इति ण्यति कुत्वाभावो निपात्यते ॥

युङ्, युञ्जौ—'ऋत्विक्' इत्यादिना क्विन्। 'ऋत्विक्' इत्यादिभिर्निपातनैस्साहचर्यात् अश्वयुजिक्रुञ्चां अन्यदपि कार्यं भवतीति ज्ञापनादुपपदाधिकारेऽपि निरुपपदादयं प्रत्ययो भवति। 'युजेरसमासे' इति सर्वनामस्थाने नुम्। पदान्ते संयोगान्तलोपः। 'क्विन्प्रत्ययस्य कुः' इति कुत्वं च। अन्यत्रानुस्वारपरसवर्णौ। असर्वनामस्थाने **युजः युग्भ्यां** इत्यादि। **युक्षु**इत्यत्र कुत्वे 'खरि च' इति चर्त्वम्॥

अश्वयुक्—'सत्सूद्विष' इत्यादिना क्विप्। अत्र सूत्रे युजेत्यकारो न विवक्षित इति युनक्तियुज्यत्योर्द्वयोरपि ग्रहणं 'युजेरसमासे' इतीकारवतस्सर्वनामस्थाने परे समासे नुम्प्रतिषेधोकारविवक्षायां ज्ञापकः। यदि हि युजेः क्विन्न स्यात् 'ऋत्विक्' इत्यादिना क्विन्नपि निपातनैस्साहचर्यात् अनुपसृष्टादेव स्यात् इत्यश्वयुगिति रूपमेव नास्तीति किं नुम्निषेधेन॥

योक्त्रम्—'दाम्नी' इत्यादिना ष्ट्रन्। अत्र स्तौत्यादिसाहचर्यादुभयपदिनो विवक्षितत्वादस्यैव ग्रहः; न तु युज्यतेः। अकारस्तूच्चारणमात्रार्थः। हरदत्तोऽप्यनभिधानाद्युज्यतेर्न ग्रह इति॥

योगी—सम्पृचादिना घिनुण्। अत्र युनक्तियुज्यत्योर्द्वयोरपि ग्रहणम्। निरनुबन्धकस्योपादानादकारप्रश्लेषे च नास्ति प्रमाणम्॥

प्रयोगः—घञ्॥

प्रायोगिकम्—भवार्थेऽध्यात्मादित्वाट्ठक्। अनुशतिकादित्वादुभयपदवृद्धिः॥

योगाय प्रभवति **योग्यः**, **यौगिकः**—'योगाद्यच्च' इति यट्ठञौ ॥

युगम्—घञ् । उञ्छादिपाठादगुणत्वम्, विशिष्टविषयं चैतत् रथाङ्गे कालविशेषे च ॥

युग्यम्—'तद्वहतिरथयुग' इति यत् ॥

संयुगे साधु **सांयुगीनम्**—'प्रतिजनादिभ्यः खञ्' इति खञ् । प्रतिजनादिपाठादेव संयुगशब्दस्य घञि गुणाभावः ॥

परियोगः, **पलियोगः**—'परेश्च घाङ्कयोः' इत्यत्र 'योगे च' इति वक्तव्याद्वा लत्वम् ॥

रुधादयोऽनुदात्तास्स्वरितेतः ॥

अथ सेटौ स्वरितेतावाह ॥

उछृदिर् दीप्तिदेवनयोः ॥ ८ ॥

उकारः क्त्वायामिड्विकल्पार्थः । **छृणत्ति** । **छृन्तः** । **छृन्दन्ति** । **छृणत्सि** । **छृणद्मि** । **छृन्द्मः** ॥

छृन्ते । **छृन्त्से** । **छृन्दे** । **चछर्द** । **चछृदतुः** । **चछर्दिथ** । **चछृदिव** । **चछृदे** । **चछृदिषे**—'सेऽसिचि' इति सकारादाविड्विकल्पं बाधित्वा क्रादिनियमान्नित्यमेवेड्भवति । अन्ये तु—विकल्पमाहुः, क्रादिनियमस्य प्रतिषिद्धविषयत्वात् ॥

छर्दिता । **छर्दिष्यति** । **छर्दिष्यते**, **छर्त्स्यते**—'सेऽसिचि' इतीड्विकल्पः ॥

छृणत्तु, छृन्तात् । छृन्ताम् । अछृणत् । अछृन्त । छृन्द्यात्, छृन्दीत ॥ आशिषि—छृद्यात्, छर्दिषीष्ट; छृत्सीष्ट ॥ अछृदत्, अछर्दीत् । अछृत्त । अछृत्साताम् ॥

चिछृत्सति, चिच्छर्दिषति ॥

चरीछृद्यते ॥

छर्दयति । अचच्छर्दत्—अत्र सन्वदित्त्वादन्तरङ्गत्वात्तुक् । न चास्ति 'वार्णादाङ्गं बलीयः' इति, व्याश्रयत्वात् । तुकश्छकार आश्रयः, इत्वस्य तु चङ्परो णिः ॥

अचच्छदत्, अचिछृदत्—'उरृद्वा' ॥

छृत्वा, छर्दित्वा—उदित्त्वादिड्विकल्पः ॥

छृण्णः । छृण्णवान्—'यस्य विभाषा' इत्यनिट्त्वम् ॥

छृदि सन्दीपने युजादौ ॥

उ तृदिर् हिंसानादरयोः॥ ९ ॥

तृणत्तीत्यादि छृणत्तिवत् । छृदितृदी उदात्तौ स्वरितेतौ । रुधादीनां नवानां इरित्त्वमङ्विकल्पार्थम् ॥

कृती वेष्टने ॥ १० ॥

परस्मैपदी । कृणत्ति । कृन्तः । कृन्तन्ति । कृणत्सि

कृणत्तु । अकृणत् । कृन्त्यात् । चकर्त । कर्तितेत्यादि । तौदादिकवत् ॥

ञि इन्धी दीप्तौ ॥ ११ ॥

उदात्तोऽनुदात्तेत् । इन्धे । इन्धाते । इन्त्से । इन्ध्वे । इन्ध्वहे– 'श्नान्नलोपः' इति श्नात्परस्य प्रकृतेर्नकारस्य लोपः क्ङितोः । 'श्नसोरल्लोपः' इत्यल्लोपः ॥

इन्धांचक्रे—'इजादेः' इत्याम् । अत्र न्यासकारादयः केचित् 'इन्धिभवतिभ्यां च' इतीन्धेः परस्य लिटः कित्त्वविधानसामर्थ्यात् आमो विकल्पमिच्छन्ति । तत् 'इन्धेश्छन्दोविषयत्वाद्भुवो वुको नित्यत्वात्' इत्यादि भाष्यवार्तिकविरोधादुपेक्ष्यम् ॥

इन्धिता । इन्धिष्यते । इन्धाम् । इन्धाताम् । इन्त्स्व । इनधै । ऐन्ध । ऐन्धाताम् । ऐन्धत । ऐन्धाः । ऐन्धि। इन्धीत । आशिषि—इन्धिषीष्ट । ऐन्धिष्ट । ऐन्धिषाताम् ॥

इन्दिधिषते—'नन्द्राः' इति नकारवर्ज्यस्य द्विर्वचनम् ॥

इन्धयति । ऐन्दिधत् ॥

इन्धः—ञित्त्वाद्वर्तमाने क्तः । ईदित्त्वादनिट्त्वम् ॥

एधः—'अवोदैधौद्म' इति निपातनाद्घञि नलोपः । सान्तस्त्वेधश्शब्द औणादिकेऽसुनि बाहुलकान्नलोपे ॥

आग्निमिन्धति **अग्निमिन्धः । भ्राष्ट्रमिन्धः**—'भ्राष्ट्राग्न्योरिन्धेर्मुम्' इति मुम् ॥

समित् समिधौ—सम्पदादित्वात्क्विप् ॥

सामिधेन्यो मन्त्रः—'समिधामाधाने षेण्यण्' इति षेण्यण् ॥

सामिधेनी ऋक्—षित्त्वान्ङीष्, 'हलस्तद्धितस्य' इति यलोपः॥

अग्निमिन्धे **अग्नीत्** ऋत्विग्विशेषः—'क्विप्च' इति क्विप् ॥

आग्नीध्रम्—'अग्नीधश्शरणे रण् भं च' इति षष्ठ्यन्ताच्छरणे रण्प्रत्ययः। 'भं च' इति भत्वात्पदत्वाभावाज्जश्त्वं न भवति। शरणं गृहम्। णित्वाद्वृद्धिः। 'आग्नीध्रसाधारणादञ्' इति स्वार्थेऽञ्यपीदमेव रूपम्। प्रयोजनं तु स्त्रियां **आग्नीध्री शाला** इति 'टिड्ढाणञ्' इति ङीप् ॥

विविधमिन्धे इति **वीध्रम्** अग्निः विमलं च—'वाविन्धेः' इति वावुपसर्गे उपपदे इन्धेः क्रन्; कित्त्वादनुनासिकलोपः ॥

खिद दैन्ये ॥ १२ ॥

खिन्ते। खिन्दाते। खिन्त्से। खिन्दे। चिखिदे। खिन्ताम्। खिन्त्स्व। खिनदै। अखिन्त। अखिन्दाताम्। अखिन्दि। खिन्दीत ॥

चिखिदे। खेत्ता इत्यादि खिद्यतिवत् ॥

खिन्दतीति शे गतम् ॥

विद विचारणे ॥ १३ ॥

विन्ते इत्यादि खिदिवत् ॥

वित्तः, विन्नः—'नुदविदोन्दत्र' इति निष्ठानत्वविकल्पः। उन्दिना साहचर्यादस्यैव तत्र ग्रहः॥

खिदिविदी उदात्तावनुदात्तेतौ॥

शिषॢ विशेषणे॥ १४॥

इतो भुनक्त्यन्ता अनुदात्ता उदात्तेतः॥

शिनष्टि। शिंष्टः। शिंषन्ति। शिनक्षि। शिनष्मि। शिंष्वः। ष्टुत्वं तवर्गस्य, सकारादौ षस्य कत्वम्॥

शिशेष। शिशेषिथ। शिशिषिव॥

शेष्टा। शेक्ष्यति। शिनष्टु। शिंष्टात्। शिण्ढि—हेर्धित्वे ष्टुत्वं; जश्त्वानुस्वारपरसवर्णाः यथायोगं। **शिनषाणि। अशिनट्।** षकारस्य 'झलां जशोन्ते' इति जश्त्वे चर्त्वविकल्पः। **अशिष्टाम्। अशिनट्। अशिनषम्। अशिंष्व। शिंष्यात्। शिंष्याताम्।** आशिषि—**शिष्यात्। अशिषत्**—ॡदित्वात्परस्मैपदेऽङ्। तङि तु क्सः—**व्यत्याशिक्षत** इत्यादि॥

शिशिक्षति। शेशिष्यते। शेशिशीति, शेशेष्टि॥

शेषयति। अशीशिषत्॥

शिष्टः। शिष्टवान्॥

विशेषः। वैशेषिकः—'विनयादिभ्यश्च' इति स्वार्थे ठक्॥

महत्या विशिष्टः **महाविशिष्टः**—'महदात्वे घासकरविशिष्टे-षूपसङ्ख्यानम्' इति पुंवद्भाव आत्वं च ॥

शेपतीति हिंसायां शपि । शेषयतीति युजादिपाठादसर्वोपयोगे ॥

पिषॢ संचूर्णने ॥ १५ ॥

पिनष्टि इत्यादि शिनष्टिवत् । **शुष्कपेषं पिनष्टि, चूर्णपेषं पिनष्टि, रूक्षपेषं पिनष्टि**—'शुष्कचूर्णरूक्षेषु पिषः' इति शुष्कादौ कर्मण्युपपदे णमुल्, शुष्कं पिनष्टीत्यर्थः । **उदपेषं पिनष्टि**—'स्नेहने पिषः' इति स्नेहनवाचिनि करण उपपदे णमुल्, उदकेन पिनष्टीत्यर्थः; स्नेहन इत्यर्थग्रहणं । 'पेषं वास-वाहनधिषु च' इत्युदकस्योदभावः । सर्वत्र कषादित्वाद्यथाविध्य-नुप्रयोगः ॥

पिष्टमयम्—'पिष्टाच्च' इति विकारे मयट् ॥

विष्टकर्णः—'कर्णे लक्षणस्य' इति कर्ण उपपदे लक्षणवा-चिनो विधीयमानो दीर्घः तत्रैव विष्टादिपर्युदासान्न भवति । **चोरस्य पिनष्टि**—'जासिनि प्रहण' इत्यादिना कर्मणि शेषे हिंसायां षष्ठी । अशेषे चाहिंसायां च **चोरं पिनष्टि** । **धानाः पिनष्टि** इति द्वितीयैव ॥

भञ्जो आमर्दने ॥ १६ ॥

भनक्ति । भङ्क्तः । भञ्जन्ति । भनक्षि । भनज्मि । भङ्ग्वः—

'श्नान्नलोपः' इति प्रकृतिनकारस्य लोपः । नकारे परतोकारान्तस्य 'अतो दीर्घो यञि' इति न भवति अकारान्तस्यानङ्गत्वात् । क्ङितोस्तु 'श्नसोरल्लोपः' इत्यकारलोपः । झलि 'चोः कुः' इति कुत्वे 'खरि च' इति चर्त्वम् ॥

बभञ्ज । बभञ्जतुः । बभञ्जिथ, बभङ्क्थ । बभञ्जिव—क्रादिनियादिट् । थलि 'उपदेशेऽत्वतः' इति निषेधाद्भारद्वाजनियमाच्च विकल्पः ॥

भङ्क्ता । भङ्क्ष्यति । भनक्तु, भङ्क्तात् । भङ्क्ताम् । भञ्जन्तु । भङ्ग्धि—हेरपित्त्वात् श्नसोरल्लोपः । धित्वे कुत्वं गकारः । **भनजानि । अभनक्, अभनग्**—पदान्तत्वात्कुत्वे चर्त्वविकल्पः । **अभङ्क्ताम् । अभञ्जन् । अभनक् । अभनजम् ॥**

भञ्ज्यात् । आशिषि—भज्यात् । **अभाङ्क्षीत् । अभङ्क्ताम्** । झलि सिचो लोपः ॥

बिभङ्क्षति । बंभज्यते । बम्भजीति, बंभङ्क्ति—'जपजभदहदश' इति यङि यङ्लुकि चाभ्यासस्य नुक् । तस्यानुस्वारे पदान्तवद्वचनात्परसवर्णविकल्पः ॥

भञ्जयति । अबभञ्जत् ॥

कर्मणि—**अभञ्जि । अभाजि**—'भञ्जेश्च चिणि' इत्यनुनासिकलोपविकल्पः ॥

भङ्क्त्वा, भक्त्वा—' जान्तनशां विभाषा ' इति क्त्वायामनुनासिकलोपो वा ॥

भग्नः । भग्नवान्—' ओदितश्च ' इति ओदित्त्वान्निष्ठानत्वम्, तस्यासिद्धत्वात्पूर्वमेव कुत्वम् ॥

भङ्गुरम्—' भञ्जभास ' इति कर्मकर्तरि घुरच्, ' चजोः कु घिण्यतोः ' इति कुत्वम् ॥

भङ्गः—घञ् ॥

भङ्गा—कुसुम्भः । कर्मणि घञन्ताट्टाप् ॥

भङ्गानां भवनं क्षेत्रं भङ्ग्यम्—' विभाषा तिलमाषोमाभङ्ग ' इति यत् । विभाषाग्रहणात्खञि भाङ्गीनम् । भङ्गाऽपि धान्यमिति स्थितम् ॥

भङ्गानां रजः भङ्गाकटम्—' अलाबूतिलोमाभङ्गाभ्यो रजस्युपसङ्ख्यानम् ' इति कटच् ॥

भङ्गी—पिप्पल्यादित्वाङ्ङीष् ॥

भाजीति दीप्त्यर्थश्चुरादौ दण्डके इदित् । भजते भजतीति सेवायां शपि गतम् ॥

भुज पालनाभ्यवहारयोः ॥ १७ ॥

भुनक्ति । भुङ्क्तः । भुञ्जन्ति । भुनक्षि । भुनज्मि ॥

बुभोज । बुभुजतुः । बुभोजिथ—क्रादिनियमान्नित्यमिट् ॥

भोक्ता । भोक्ष्यते । भुनक्तु । अभुनक् ॥

भुञ्ज्यात् । अभौक्षीत् । अभौक्ताम् ॥

बुभुक्षति—'हलन्ताच्च' इति सनः कित्त्वम् ॥

बोभुज्यते । बोभुजीति, बोभोक्ति ॥

भोजयति । अबूभुजत् ॥

भुङ्क्ते । भुञ्जाते । भुञ्जते । भुङ्क्षे । बुभुजे । बुभुजिषे ॥

भोक्ता । भोक्ष्यते । भुङ्क्ताम् । अभुङ्क्त ॥

भुक्षीष्ट । अभुक्त । अभुक्षाताम्—'लिङ्सिचावात्मनेपदेषु' इति कित्त्वादगुणत्वम् ॥

बुभुक्षते—'भुजोऽनवने' इति तङ् । 'भुजोऽदने' इति वक्तव्ये अनवन इति वचनं अभ्यवहारादन्यत्रापि तङर्थम् । तथा चेदमपि सिध्यति—'बुभुजे पृथिवीपालः पृथिवीमेव केवलाम्' इति । अनुभव इहार्थः ॥

भोजयति देवदत्तं यज्ञदत्तः—'गतिबुद्धि' इत्यादिना प्रयोज्यः कर्म । निगरणार्थत्वान्नित्यं परस्मैपदम् । इदमेषां भुक्तम्—'क्तोऽधिकरणे च' इत्यधिकरणे भावे कर्मणि क्तः । भावकर्मणोरुदाहार्यम् । भुक्ता ब्राह्मणा इति भुक्तमेषामस्तीत्यर्श आद्यजन्तः ॥

भोज्यम्—'भोज्यं भक्ष्ये' इति ण्यति अकुत्वं निपात्यते, अभक्ष्ये तु—भोग्या लक्ष्मीः ॥

भोगः शरीरम्—‘ हलश्च ’ इति संज्ञायां घञ् ॥

मातृभोगीणः—‘ आत्मन्विश्वजनभोगोत्तरपदात् ’ इति तस्मै हितमिति विषये खः ॥

आचार्यभोगीन इत्यत्र ‘ आचार्यादणत्वं च ’ इति णत्वाभावः । ‘ राजाचार्याभ्यां नित्यं भोगोत्तरपदाभ्यामेव ’ इति भोगोत्तरपदाभ्यामेव आभ्यां हितप्रत्ययनियमादाचार्याय हितं, राज्ञे हितमित्यत्र वाक्यमेव भवति ; न तु सामान्यतः छः । मात्रे हितमित्यादौ मात्रीयमित्यादि भवति ॥

भुजः—‘ हलश्च ’ इति करणे घञ् । ‘ भुजन्युब्जौ पाण्युपतापयोः ’ इत्यगुणत्वमकुत्वं च निपातितम् ॥

भुजा—अयमेव टाबन्तः ॥

भोजः—पचाद्यच् ॥

भजतीति शपि । भुजतीति शे कौटिल्ये ॥

शिषादयश्चत्वारोऽनुदात्ता उदात्तेतः ॥

तृह हिंसायाम् ॥ १८ ॥

तृणेढि । तृण्ढः । तृम्हन्ति । तृणेक्षि । तृण्ढः । तृण्ढ । तृणेह्मि । तृंह्वः । तृंह्मः । ‘ तृणह इम् ’ इति हलादौ पिति सार्वधातुके तृणह इमागमे आद्गुणः । झलि पदान्ते च होढः । ‘ झषस्तथोर्धोऽधः ’ इति धत्वे ष्टुत्वे ‘ ढोढे लोपः ’ इति पूर्वस्य लोपः। अपिति श्नसोरल्लोपेऽनुस्वारपरसवर्णौ । सिपि ढत्वे ‘ षढोः कस्सि ’ इति कत्वम् ॥

ततर्ह । ततृहतुः । ततृहुः । ततर्हिथ । ततृहिव ॥

तर्हिता । तर्हिष्यति । तृणेढु, तृण्ढात् । तृण्ढाम् । तृंहन्तु । तृण्ढि । तृणहानि—तातङो ङित्त्वात् 'ङिच्च पिन्न भवति' इत्यपित्त्वाद्धेरपि 'सेर्ह्यपिच्च' इत्यपित्त्वान्नेमागमः । उत्तमस्य तु ङित्त्वेऽप्यहलादित्वादिम्न भवति । अतृणेट्, अतृणेड् । अतृण्ढाम् । अतृहन् । अतृणेट् । अतृणहम् । अतृंह्व । तिप्सिपोर्हल्ङ्यादिलोपे प्रत्ययलक्षणेन हलादिपित्सार्वधातुकपरत्वादिमागमः । 'वर्णाश्रये नास्ति प्रत्ययलक्षणम्' इति निषेधो वर्णमात्रप्रत्ययविषयत्वादिह हलादिप्रत्ययस्य आश्रयणान्न प्रवर्तते । मिपि नित्यत्वात्पूर्वमेवाम्यहलादित्वान्नेमागमः अत एव तातङो ङित्त्वात् श्नसोरल्लोपे तृणहरूपस्याभावान्नेमागमप्रसङ्गः ॥

तृंह्यात् । तृंह्याताम्—यासुटो ङित्त्वेन 'ङिच्च पिन्न भवति' इति तिबादेरपित्त्वान्नेमागमः ॥

आशिषि—तृह्यात् । तृह्यास्ताम् ॥

अतर्हीत् । अतर्हिष्टाम् । 'नेटि' इति वृद्धिनिषेधः ॥

तितर्हिषति । तरीतृह्यते । तरीतर्ढि ॥

तर्हयति । अतीतृहत्, अततर्हत्—उरृद्वा ॥

तृहितम् । तर्हित्वा—'न क्त्वासेट्' इत्यकित्त्वम् ॥

हिसि हिंसायाम् ॥ १९ ॥

हिनस्ति । हिंस्तः । हिंसन्ति । हिनस्सि । हिनस्सि—

इदित्वान्नुम्। तस्य 'श्नान्नलोपः' इति नलोपः। ङिति श्नसोर-ल्लोपे 'नश्चापदान्तस्य' इत्यनुस्वारः ॥

जिहिंस । जिहिंसतुः । जिहिंसिथ । जिहिंसिव ॥

हिंसिता । हिंसिष्यति । हिनस्तु, हिंस्तात्। हिंस्ताम्। हिंसन्तु । हिन्धि—श्नान्नलोपश्नसोरल्लोपयोः 'धि च' इति सलोपेऽनुस्वारपरसवर्णौ । **हिनसानि ॥**

अहिनत्। अहिंस्ताम्। अहिंसन्। अहिनत्, अहिनद्। अहिनः।अहिनसम्। अहिंस्व। तिपि 'तिप्यनस्तेः' इति सस्य दः। सिपि तु 'सिपि धातोरुर्वा' इति दत्वरुत्वे ॥

हिंस्यात् । हिंस्याताम् । हिंस्यात् । हिंस्यास्ताम्। लिङौ। **अहिंसीत् । अहिंसिष्टाम् ॥**

जिहिंसिषति । जेहिंस्यते । जेहिंस्ति ॥

हिंसयति । अजिहिंसत् ॥

हिंसकः—'निन्दहिंस' इति वुञ् ॥

हिंस्रम्—'नमिकम्पि' इत्यादिना रः ॥

हिंसा—'गुरोश्च हलः' इत्यकारः ॥

हिंसित्वा । हिंसितः ॥

हिनस्तीति **हिंसः**—अच्। **सिंहः**—पृषोदरादित्वादाद्यन्तविपर्ययः ॥

उन्दी क्लेदने ॥ २० ॥

उनत्ति । उन्तः । उन्दन्ति । उनत्सि । उनद्मि । उन्द्वः ।

उन्दांचकार—'इजादेश्च गुरुमतोऽनृच्छः' इत्याम् ॥

उन्दिता । उन्दिष्यति । उनत्तु । उन्तात् । उन्धि । उनदानि ॥

औनत् । औन्ताम् । औन्दन् । औनः, औनत्, औनद् । औनदम्—'दश्च' इति सिपि वा रुत्वम् ॥

उन्द्यात् । उन्द्याताम् । उद्यात् । उद्यास्ताम् । लिङौ ।

औन्दीत् । औन्दिष्टाम् ॥

उन्दिदिषति—'नन्द्राः' इति नकारस्य न द्विर्वचनम् ॥

उन्दयति । औन्दिदत् ॥

उन्दित्वा ॥

उत्तम्, उन्नम्—ईदित्त्वादनिट्त्वम् । 'नुदविदोऽन्दत्र' इति निष्ठानत्वविकल्पः ॥

अवोदः—घञ्, किञ्चिदार्द्रः ॥

उन्दनं ओद्म—मनिन्नौणादिकः । 'अवोदैधौद्म' इति नलोपो घञ् गुणत्वं च निपात्यते ॥

इन्दुः—'उन्देरिच्चादेः' इत्युप्रत्ययः, इकारश्चोकारस्य ॥

ओदनः—'उन्देर्नलोपश्च' इति युचि नलोपः ॥

उद्रम्—'स्फायितञ्चि' इत्यादिना रक् ॥

उदकम्—उदकमिति कृन्नन्तो निपातितः ॥

उदधिः । क्षीरोदः—'उदकस्योदस्संज्ञायाम्' इति पूर्वपदस्योत्तरपदस्य चोदकशब्दस्य उदभावः ॥

उदपेषम् । उदवासः । उदवाहनः। उदधिर्घटः—'पेषंवासवाहनधिषु च' इति 'पेषमादावुत्तरपदे उदकशब्दस्योदादेशः । असंज्ञार्थं वचनम् ॥

उदपात्रम्, उदकपात्रम्—'एकहलादौ पूरयितव्येऽन्यतरस्याम्' इति वा उदभावः । इह पूरयितव्यः पूरणीयः, तद्वाचिन्यसहाये हलादौ उत्तरपदे उदकस्योद इति सूत्रार्थः ॥

उदमन्थः—'मन्थौदनसक्तुबिन्दुवज्रभारहारवीवधगाहेषु च' इति मन्थादिषूत्तरपदेषूदकस्योदभावः । **उदौदन** इत्यादि चोदाहार्यम् ॥

उदन्वान् घटः । उदन्वान्नाम ऋषिः । 'उदन्वानुदधौ च' इति मतुप्युदकस्योदन्भावः । उदधौ संज्ञायां च निपात्यते । उदधिग्रहणं असंज्ञार्थम् । उदन्यति, पिपासतीत्यर्थः । 'अशनायोदन्य' इति क्यच्युदकस्योदन्भावः पिपासायाम् ॥

उदक्या—'उदकस्योदः संज्ञायाम्' इति दिगादिपाठाद्यत् ॥

अञ्जू व्यक्तिम्रक्षणकान्तिगतिषु ॥ २१ ॥

अनक्ति । अङ्क्तः । अञ्जन्ति । अनक्षि । अनज्मि। अङ्ग्धि । 'श्नान्नलोपः' श्नसोरल्लोपे ङिति, 'चोः कुः' झलि पदान्ते च, खरि चर्त्वम्॥

आनञ्ज । आनञ्जतुः । आनञ्जिथ, आनङ्क्थ । आनञ्जिव, आनञ्ज्व । ऊदित्त्वादिड्विकल्पः । क्रादिनियमः प्रतिषिद्धविषय इत्युक्तम् । 'अत आदेः' इत्यभ्यासादेर्दीर्घः 'तस्मान्नुट्' इति नुट् ॥

अङ्क्ता, अञ्जिता । अङ्क्ष्यति, अञ्जिष्यति ॥

अनक्तु, अङ्क्तात् । अङ्ग्धि । अनजानि । आनक् ॥ आङ्क्ताम् । आनक्त । आनजम् । आञ्ज्व । अञ्ज्यात्-अज्यात् । लिङौ ॥

आञ्जीत् । आञ्जिष्टाम् । 'अञ्जेः सिचि' इति नित्यमिट् ॥

अञ्जिजिषति—'स्मिपूङ्रञ्ज्वशां सनि' इति नित्यमिट् । 'नन्द्राः' इति नकारस्य न द्विर्वचनम् ॥

अञ्जयति । आञ्जिजत् ॥

अञ्जित्वा, अङ्क्त्वा, अक्त्वा—अनिट्पक्षे 'जान्तनशां विभाषा' इति पक्षे अनुनासिकलोपः । इट्पक्षे 'न क्त्वा सेट्' इत्यकित्त्वम् ॥

अक्तः । अक्तवान् । 'यस्य विभाषा' इत्यनिट्त्वम् ॥

आज्यम्—'आङ्पूर्वादञ्जेस्संज्ञायाम्' इति क्यप्यनुनासिकलोपः ॥

व्यङ्ग्यम्—ण्यति कुत्वम् ॥

अङ्गम्—भावे घञ् ॥

अञ्जिका—संज्ञायां ण्वुल्, लिपिविशेषः ॥

अञ्जनम्—ल्युट् ॥

काञ्जिकम्—अञ्जिरभिव्यक्तिः केन जलेन अञ्जिरस्येति बहुव्रीहौ कप् ॥

अञ्जलिः—'ऋतन्यञ्जि' इत्यादिना अलिच् ॥

द्वे अञ्जली प्रमाणमस्य द्व्यञ्जलम् । त्र्यञ्जलम्—'द्वित्रिभ्यामञ्जलेः' इति समासान्तोऽच् द्विगौ 'अध्यर्धपूर्वाद्विगोः' इत्यार्हीयस्य ठको लुक् । अद्विगौ—द्व्यञ्जलिः ॥

तञ्चू सङ्कोचने ॥ २२ ॥

तनक्ति, तङ्क्तः, तञ्चन्ति । तनक्षि । ततञ्च । ततञ्चतुः । ततञ्चिथ, ततङ्थ । ततञ्चिव, ततञ्च्व—ऊदित्त्वादिड्विकल्पः । क्रादिनियमः प्रतिषेधविषय इयुक्तम् ॥

तङ्क्ता, तञ्चिता । तङ्क्ष्यति, तञ्चिष्यति ॥

तनक्तु, तङ्क्तात् । तङ्ग्धि । तनचानि ॥

अतनक् । अतङ्क्ताम् । अतञ्चन् । अतनक् । अतनचम् । अतञ्च्व ॥

तञ्च्यात् । आशिषि—तच्यात् । अतञ्चीत्, अताङ्क्षीत् ॥

तितञ्चिषति; तितङ्क्षति ॥

तातच्यते । तातङ्क्ति । तञ्चयति । अततञ्चत् ॥

आतञ्चनम्—ल्युट् ॥

आतङ्कः—घञ् ॥

तङ्क्त्वा ; तक्त्वा—इट्पक्षे 'न क्त्वा सेट्' इत्यकित्त्वान्नलोपाभावः॥

तक्तः—'यस्य विभाषा' इत्यनिट्त्वम् । अयं प्रथमान्तोऽपि तृतीयान्तमध्ये उदित्त्वसङ्गात् एकवर्गीयत्वाच्च पठितः । आत्रेयादयस्तु तृतीयान्तमेव पठन्ति ॥

तक्रम्—'स्फायितञ्चि' इत्यादिना रक् । बाहूलकाच्चकारस्य ककारः ॥

ओ विजी भयचलनयोः ॥ २३ ॥

विनक्ति । विङ्क्तः । विञ्जन्ति । विनक्षि । विनज्मि । विञ्ज्वः ॥

विवेज । विविजतुः । विविजिथ । विविजिव—'विज इट्' इति इडादिप्रत्ययस्य पित्त्वेऽपि ङित्त्वान्न गुणः ॥

विजिता । विजिष्यति । विनक्तु, विङ्क्तात् । विङ्ग्धि । विनजानि ॥

अविनक् । अविङ्क्ताम् । अविनक् । अविनजम् ॥

विञ्ज्यात् । विञ्ज्याताम् । आशिषि—विज्यात् । विज्यास्ताम् ॥

अविजीत् । अविजिष्टाम् ॥

विविजिषति । वेविज्यते । वेविजीति, वेवेक्ति ॥

वेजयति । अवीविजत् ॥

विजित्वा—'न क्त्वा सेट्' इत्यकित्त्वेऽपि 'विजइट्' इति ङित्त्वान्न गुणः ॥

विग्नः । विग्नवान्—ईदित्त्वादनिट्त्वम् । ओदित्त्वान्निष्ठानत्वम् ॥

वेगितमिति ण्यन्तात्तारकादित्वादितजित्युक्तम् ॥

वेवेक्ति वेविक्ते इत्यादि श्लौ गतम् । विजते इति शे ॥

वृजी वर्जने ॥ २४ ॥

वृणक्ति । वृङ्क्तः । वृञ्जन्ति । ववर्ज । ववर्जिथ । ववृजिव । वर्जिता । वर्जिष्यति । वृणक्तु, वृङ्क्तात् । वृङ्ग्धि । वृणजानि । अवृणक् । अवृङ्क्ताम् । अवृञ्जन् । वृञ्ज्यात् । वृज्यात् । लिङौ । अवर्जीत् । अवर्जिष्टाम् ॥

विवर्जिषति । वरीवृज्यते । वरिवृजीति, वरीवर्क्तीत्यादि ॥

वर्जयति । अववर्जत्, अवीवृजत् ॥

वर्जित्वा—'न क्त्वा सेट्' इत्यकित्त्वाद्गुणः ॥

वृक्तः—ईदित्त्वादनिट्त्वम् ॥

प्रवर्ग्यम्—ण्यति कुत्वम् । अत्र वृचि वरणे इति दुर्गादयः पठन्ति तस्यापि वृजिवद्रूपादिकं नेयम् ॥

पृची संपर्के ॥ २५ ॥

पृणक्ति । पृङ्क्तः । पृञ्चन्ति ॥

पपर्च । पपृचतुः । पपर्चिथ इत्यादि वृजिवत् ॥

संपर्की—'संपृच' इत्यादिना घिनुण् ॥

तृहादय उदात्ता उदात्तेतः ॥

वृत् ॥

रुधादयो वृत्ता इत्यर्थः । धातुपारायणे तु गणपरिसमाप्तिर्नेष्यते तेन लुनाति पुनातीति सिध्यतीति ॥

इति श्रीपूर्वदक्षिणपश्चिमसमुद्राधीश्वरकम्पराजसुतसङ्गममहाराजमन्त्रिणा मायणसुतेन माधवसहोदरेण सायणार्येण विरचितायां माधवीयायां धातुवृत्तौ रुधादयस्संपूर्णाः.

अथ तनादिः.

तनु विस्तारे ॥ १ ॥

तनोति । तनुतः । तन्वन्ति । तनोषि । तनोमि । तन्वः, तनुवः । तन्मः, तनुमः । 'तनादिकृञ्भ्य उः' इत्युप्रत्ययः शपोऽपवादः । तस्य पिति 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' इति गुणः । अन्यत्राजादौ यणादेशः । वकारमकारादौ 'लोपश्चास्यान्यतरस्याम्वोः' इति पक्षे लोपः ॥

ततान । तेनतुः । तेनुः । तेनिथ । तेनथुः । तेन । ततान, ततन । तेनिव । किति लिटि 'थलि च सेटि' इत्येत्वाभ्यासलोपौ ॥

तनिता । तनिष्यति । तनोतु, तनुतात् । तनुताम् । तन्वन्तु । तनु । तनवानि—'उतश्च प्रत्ययात्' इति हेर्लुक् ॥

अतनोत् । अतनुताम् । अतन्वन् । अतनोः । अतनवम् । अतनुव, अतन्व ॥

तनुयात् । तनुयाताम् । तनुयाः । तनुयाम् । आशिषि—तन्यात् । तन्यास्ताम् ॥

अतानीत्, अतनीत् । अतानिष्टाम्, अतनिष्टाम् । 'अतो हलादेः' इति वा वृद्धिः ॥

तनुते । तन्वाते । तनुषे । तन्वे । तनुवहे, तन्वहे ॥ तेने । तेनिषे । तेनिवहे ॥

तनिता । तनिष्यते ॥

तनुताम् । तन्वाताम् । तनुष्व । तनवै ॥

अतनुत । अतन्वाताम् । अतन्वत । अतनुथाः । अतन्व ॥

तन्वीत । तन्वीयाताम् । तन्वीथाः । तन्वीय ॥

आशिषि—**तनिषीष्ट । तनिषीयास्ताम् ॥**

अतत, अतनिष्ट । अतनिषाताम् । अतथाः, अतनिष्ठाः । अतनिषाथाम् । अतनिध्वम् । 'तनादिभ्यस्तथासोः' इति तथासोः पक्षे सिचो लुक् । थासासाहचर्यादात्मनेपदस्य तशब्दस्येह ग्रहणात् **अतनिष्ट** यूयमित्यत्र लुक् न भवति ॥

तितनिषति, तितंसति—'तनिपतिदरिद्राणाम्' इतीड्विकल्पः 'तनोतेर्विभाषा' इति झलि सनि वा दीर्घः । एवं तङ्यपि त्रैरूप्यम् ॥

तंतन्यते—'नुगतः' इत्यभ्यासस्य नुक् । **तन्तन्ति । तन्तान्तः ।** 'अनुनासिकस्य' इति दीर्घः । लुकि 'अनुदात्तोपदेश' इत्यादिना अनुनासिकलोपः 'तनोत्यादीनाम्' इति गणनिर्देशान्न भवति ॥

तानयति । अतीतनत् ॥

तायते, तन्यते—'तनोतेर्यकि' इति वाऽऽत्वम् ॥

अवतनोतीत्य**वतानः । प्रतानः ।** 'तनोतेर्ण उपसंख्यानम्' इति णः ॥

तनित्वा, तत्वा—‘उदितो वा’ इतीड्विकल्पः। अनिटि ‘अनुदात्तोपदेश’ इत्यनुनासिकलोपः॥

ततम्—‘यस्य विभाषा’ इत्यनिट्त्वम्। पूर्ववदनुनासिकलोपः॥

सततम्, सन्ततम्—‘समोवाहिततयोः’ इति पक्षे तलोपः॥

ष्यञि—**सातत्यम्**, इति नित्यं मलोप इष्यते॥

वितत्य—‘वा ल्यपि’ इत्यस्य व्यवस्थितविभाषात्वान्नित्यमनुनासिकलोपः॥

तन्तिः—‘न क्तिचि दीर्घश्च’ इति दीर्घानुनासिकलोपयोर्निषेधः॥

ततिः—क्तिनि नलोपः, ‘तितुत्र’ इतीण्निषेधः॥

परीतत्—‘गमः क्वौ’ इत्यत्र ‘गमादीनाम्’ इति वचनात् अनुनासिकलोपे तुक्, ‘नहिवृति’ इत्यादिना पूर्वपदस्य दीर्घः॥

तन्तुः—‘सितनिगमि’ इति तुन्॥

तन्त्रम्—ष्ट्रन्॥

तातः—‘दुतनिभ्यां दीर्घश्च’ इति क्तप्रत्ययेऽनुनासिकलोपे पूर्वस्य दीर्घः॥

तनुः—‘भृमृशि’ इत्यादिना उप्रत्ययः। गुणवचनत्वेन ‘वोतो गुणवचनात्’ इति वा ङीषि—**तन्वी**। तनुशब्दः स्त्रीजातिवचनोऽपि। ततः ‘ऊङुतः’ इत्यूङि **तनूः**। तथाच प्रयुज्यते—‘ननु सुतनूमनुपालयानुयान्तीम्’ ‘वरतनु संप्रवदन्ति कुक्कुटाः’ इति। केवलस्य सिद्धत्वादप्रयोगः॥

तनूः शरीरम्—'कृषिचमितनि' इत्यूकारः ॥

तनुः । तनुषी—'अर्तिपॄवपियजितनि' इति उस्प्रत्ययः ॥

तितउः परिवपनम्—'तनोतेर्डउस्सन्वच्च' इति डउप्रत्यये डित्वाट्टिलोपः । सन्वद्भावाद्द्विर्वचनादि । सूत्रे डउ इति व्यक्तोच्चार-* णान्न सन्धिकार्यम् ॥

तनु श्रद्धोपकरणयोरिति युजादौ ॥

षणु दाने ॥ २ ॥

सनोति । सनुते इत्यादि तनोतिवत् । 'धात्वादेः षस्सः' । णत्वं तु निमित्तापायादपैति । विशेषस्तु 'जनसनखनां सञ्झलोः' इति झलादौ सनि क्ङिति च नित्यमात्वम्, 'ये विभाषा' इति यकारादौ क्ङिति विकल्पेनात्वं च ॥

सिषासति—'सनीवन्त' इत्यादिना इड्विकल्पः । इट्पक्षे सिसनिषति । अत्रषण्परत्वात्स्तौतिण्योरेवेति नियमात्प्रकृतेस्सस्य न षत्वम् ॥

सात्वा—उदित्त्वादिड्विकल्पः ; इटि—सनित्वा ॥

सातः । सातवान्—'यस्य विभाषा' इत्यनिट्त्वम् । क्वादावनुनासिकलोपं बाधित्वा 'जनसन' इत्यात्वं भवति ॥

असात । असाथाः इत्यत्र 'तनादिभ्यस्तथासोः' इति सिचो लुकि तथासोर्ङित्त्वमाश्रित्यात्वं भवति ॥

---

*व्यस्तोच्चार.

सायते, सन्नयते । सासायते, संसन्यते—इति यकि यङि च 'ये विभाषा' इति चात्वं वा भवति ॥

सन्यात्—इत्यत्र तु 'ये विभाषा' इत्यात्वं ये इत्यत्वतो निर्देशान्न भवतीति धातुपारायणे ॥

सातिः, सन्तिः, सतिः—'सनः क्तिचि लोपश्चास्यान्यतरस्याम्' इत्याकारः । पक्षे तदभावे नलोपविकल्पश्च । **सातिः**—'ऊतियूति' इत्यादिना क्तिनि निपात्यते ॥

क्षणु हिंसायाम् ॥ ३ ॥

क्षणोति । क्षणुते । चक्षाण । चक्षणे । क्षणिता । क्षणिष्यति । क्षणिष्यते । क्षणोतु, क्षणुतात् । क्षणुताम् । क्षण्वाताम् ॥ अक्षणोत्, अक्षणुत । क्षणुयात् । क्षण्वीत । क्षण्यात्, क्षणिषीष्ट ॥

अक्षणीत् । अक्षणिष्टाम्—'ह्म्यन्तक्षण' इति 'अतो हलादेः' इति वृद्धेर्निषेधः ॥

अक्षत, अक्षणिष्ट । अक्षथाः, अक्षणिष्ठाः—'तनादिभ्यः' इति वा सिचो लुक्, तथा तनोत्यादित्वादनुनासिकलोपः ॥

चिक्षणिषति । चंक्षण्यते ॥

क्षाणयति । अचिक्षणत् 'सन्वल्लघुनि' इतीत्वं अनेकहल्व्यवधानेऽपि भवति, 'अत्स्मृदृत्वर' इति स्मरत्यादीनामित्वापवादादत्वविधानात् ज्ञापनात् । अयमप्युपदेशे तवर्गीयो मतः, लक्षणवशाण्णत्वं,

तेन चङ्क्षन्तीत्यनुस्वारपरसवर्णौ भवतः। णत्वंत्वनुस्वारीभूतो णत्वमतिक्रामतीति तत्रतत्रोक्तत्वात् न भवति॥

क्षत्वा, क्षणित्वा—'उदितो वा' इति उदित्त्वादिड्विकल्पः। क्षतः—'यस्य विभाषा' इत्यनिट्त्वम्॥

क्षन्तिः—इत्यत्र 'न क्तिचि दीर्घश्च' इति दीर्घानुनासिकलोपयोः निषेधः॥

क्षिणु च ॥ ४ ॥

हिंसायामित्यर्थः। क्षिणोति। क्षिणुते॥

चिक्षेण। चिक्षिणे। क्षेणिता। क्षेणितासे। क्षेणिष्यति, क्षेणिष्यते। क्षिणोतु। क्षिणुताम्॥

अक्षिणोत्। अक्षिणुत। क्षिणुयात्। क्षिण्वीत। क्षिण्यात्। क्षिणिषीष्ट॥

अक्षेणीत्। अक्षित, अक्षेणिष्ट। अक्षिथाः, अक्षेणिष्ठाः। पूर्ववत्पाक्षिके सिज्लुक्यनुनासिकलोपः॥

चिक्षिणिषति, चिक्षेणिषति॥

क्षिणित्वा, क्षेणित्वा—'रलो व्युपधात्' इति कित्त्वविकल्पः।

क्त्वायामुदित्त्वादिडभावे तु क्षित्वा—तनोत्यादित्वादनुनासिकलोपः॥

चेक्षिण्यते। चेक्षेण्ति। अयमपि तवर्गीयोपदेशः णत्वं तु लाक्षणिकमितीह क्षणिवदनुस्वारीभूतो णत्वमतिक्रामति॥

क्षितः—'यस्यविभाषा' इत्यनिट्त्वम् । क्षितिः—'तितुत्र' इत्यनिट्त्वम् । अत्र पिद्वचनेषु विकरणापेक्षो गुणः 'संज्ञापूर्वको विधिरनित्यः' इति न भवतीत्यात्रेयमैत्रेयौ । तथाचापिशलिः शब्विकरणे धातुगुणमभिधाय 'करोतेश्च मिदेश्च' इत्यसुसूत्रयत् । 'पुगन्तलघूपधस्य च' इत्यत्र रक्षितेन चोक्तम् । एवञ्च 'पञ्चबाणः क्षिणोति' इति सिद्ध इति । शाब्दिकाभरणे तु गुण एवोदाहृतः । शाकटायनक्षीरस्वामिभ्यामयं धातुर्न पठ्यते । अत एवात्रेयामैत्रेयाभ्यामपि स्वादौ छान्दसेषु पठितस्य क्षेर्धातोर्भाषायामपि प्रयोगाङ्गीकारेण क्षिणोतीति साधितम् । शाकटायनः पुनस्तत्रापि छान्दसत्वमेवाह, इहापि क्षिणुं न पपाठेति । तन्मते भाषायां क्षिणोतिप्रयोगोऽसाधुरेव ॥

ऋणु गतौ ॥ ५ ॥

अयमपि तवर्गीयान्तोपदेशः । लाक्षणिकं तु णत्वम् ॥

अर्णोति । अर्णुतः । अर्ण्वन्ति । अर्णोषि । अर्णोमि । अर्णुते । अर्ण्वाते । अर्णुषे । अर्ण्वे ॥

आनर्ण । आनृणतुः । आनर्णिथ । आनृण । आनृणिव । आनृणे । आनृणिषे । आनृणिवहे । क्षिणोतिवत् लिट्प्रक्रिया ॥

अर्णिता । अर्णिष्यति, अर्णिष्यते ॥

अर्णोतु । अर्णुहि—गुणे कृते संयोगपूर्वत्वात् उकारस्य 'उत-

श्च प्रत्ययात्' इति हेर्लुक् न भवति । **आर्णोत् । आर्णुताम् । आर्णुत । आर्णुताम्** ॥

अर्णुयात् । अर्णुवीत—सर्वत्र विकरणापेक्षो गुणः ॥

आशिषि—**ऋण्यात्, अर्णिषीष्ट** ॥

आर्णीत् । आर्णिष्टाम् । आर्णिष्ट, आर्त । आर्णिष्ठाः, आर्थाः । तनादित्वात्सिचो वा लुकि अनुनासिकलोपः ॥

अर्णिनिषति—गुणे कृते 'नन्द्राः' इति रेफवर्ज्यस्य द्विर्वचनम् ॥

अत्रात्रेयः नान्तोपदेशत्वेऽपि द्विर्वचने कर्तव्ये णत्वस्य नासिद्धत्वम् । 'पूर्वत्रासिद्धीयमद्विर्वचने' इति न्यायात् तेन प्रकृत्यभ्यासयोः द्वयोरपि णकाराविति । धातुपारायणे तु णत्वस्यासिद्धत्वादणत्वस्य द्विर्वचने परस्य व्यवधानाण्णत्वाभावो दर्शितः । प्राणिणिषतीत्यादावनितेः साभ्यासस्य णत्वविधानाल्लिङ्गात् णत्वे 'पूर्वत्रासिद्धीयमद्विर्वचने' इत्यस्यानित्यत्वज्ञापनात् अप्रवृत्तेः ऊर्णोऽनूयत इतिवत् णत्वस्यासिद्धत्वैव भाव्यमिति पारायणिकपक्षो ज्यायान्। अत एव पारायणिकविरोधाण्णोपदेशपक्षो दुष्टः ॥

अर्णयति । आर्णयत् । मा भवानर्णिनत्, मा भवान्‌ऋणिनत्—उरृद्वा । पूर्ववत्परस्य णत्वं न भवति ॥

ऋत्वा, अर्णित्वा—उदित्त्वादिड्विकल्पः । अनिटि 'अनुदात्तोपदेश' इत्यनुनासिकलोपः ॥

ऋतः । ऋतवान् । ऋतिः । स्वर्णम्—पचाद्यचि गुणः, उपसर्गस्य यण् । 'तन्वादीनां छन्दस्युपसंख्यानम्' इत्युपसर्गस्योवङि

सुवर्णम्—संज्ञाशब्दत्वाद्भाषायामप्यस्य प्रयोग इत्यात्रेयमैत्रेयौ । शोभनो वर्णोऽस्यत्यपि शक्यते व्युत्पादयितुम् ॥

द्वाभ्यां सुवर्णाभ्यां क्रीतं **द्विसुवर्णम्, द्विसौवर्णिकम्**—'सुवर्णशतमानयोरुपसंख्यानम्' इत्यार्हीयस्य ठञः पक्षे लुक् । लुगभावे 'परिमाणान्तस्य' इत्युत्तरपदवृद्धिः ॥

अर्णः—असुन् ॥

अर्णवः—'अर्णसो लोपश्च' इति मत्वर्थीये वप्रत्यये सलोपः । अत्रात्रेयमैत्रेयादिभिः शब्विकरणे गुणः 'करोतेश्च मिदेश्च' इत्यापिशलिस्मरणात् विकरणापेक्षो गुणोऽन्यस्य न भवतीति ऋणोतीत्यादि दर्शितम् । तथा च क्षीरस्वाम्यपि—ऋणिप्रभृतीन् प्रस्तुत्य सार्वधातुके संदिग्धगुण इति । सार्वधातुक इति सार्वधातुकपरे प्रत्यय इत्यर्थः । चन्द्रस्तु—गुणाभावं न सहते । यदाह अर्णोतीत्यादि उदाहृत्य धातोर्लघुरूपान्त्यस्य गुणो नेष्यत इत्यन्यः । तस्याभिप्रायो मृग्य इति । अत एव काश्यपादयः—'करोतेश्च मिदेश्च' इति सूत्रमन्यथाव्याख्यन्-करोतेस्संबन्धिनि विकरणे धातोर्गुणो भवति अर्णोतीति । अत्र वर्धमानः—करोतेस्संबन्धिनि गुण इति व्याख्यानं न्याय्यमिति । मुनित्रयाविरोधात् अस्य न्याय्यत्वम् ॥

तृणु अदने ॥ ६ ॥

तर्णोति । **तर्णुते** । **ततर्णेत्यादि** पूर्ववत् ॥

तृणम्—घञर्थे कः ॥

तृण्या—'पाशादिभ्यो यः' इति समूहे यः ॥

कत्तृणम्—तृणजातिविशेषः । 'तृणे च जातौ' इति कोः कद्भावस्तत्पुरुषे । स्वाभाविकमस्य धातोर्णत्वमिति केचित् । तेषां यङ्लुकि **तरीतृण्ढि** इति भाव्यम् । अन्येषामनुस्वारीभूतो णत्वमतिक्रामतीति **तरीतृन्धि** इति ॥

घृणु दीप्तौ ॥ ७ ॥

घर्णोति । **घर्णुते** । **जघर्णे**त्यादि पूर्ववत् । **घृणा**—भिदादेराकृतिगणत्वादङ् । शिवस्वामी त्वकारोपधं पपाठ ॥

तनादयः उदात्तास्स्वरितेतः ॥

वनु याचने ॥ ८ ॥

दन्त्योष्ठ्यादिः । **वनुते** । **वन्वाते** । **वनुषे** । **वन्वे** ॥

ववने । **ववनिषे**—वादित्वादेत्वाभ्यासलोपनिषेधः ॥

वनिता । **वनिष्यते** । **वनुताम्** । **अवनुत** । **वन्वीत** । आशिषि—**वनिषीष्ट** ॥

अवनिष्ट, अवत । **अवनिष्ठाः, अवथाः** ॥

विवनिषते । **वंवन्यते** । **वंवन्ति**—'ग्लास्नावनुवमां च' इत्यनुपसृष्टानां इत्वविकल्पे 'वनु च नोच्यते' इति घटादिकस्यास्य च ग्रह इत्येके । अन्ये त्वनन्तरस्य विधिरिति न्यायेन घटादिकस्य वनतेरेवेति । तेन वानयति प्रवानयतीत्येव भवति ॥

वनित्वा, वत्वा—उदित्वादिड्भावपक्षे तनोत्यादित्वादनुनासिकलोपः ॥

वतः । **क्तवान्**—'यस्य विभाषा' इत्यनिट्त्वम् ॥

वन्तिः—'न क्तिचि दीर्घश्च' इत्यनुनासिकलोपस्य दीर्घस्य च निषेधः ॥

वनी याच्ञा तामिच्छतीति क्यजन्ताण्वुल्—वनीयकः अर्थिपर्यायः । अन्ये तु वनीपक इति पकारान्तं पठन्ति । तेषां वनीं पातीति वनीपः, ततस्संज्ञायां कन् । चान्द्रास्त्वमुं परस्मैपदिनमाहुः । तन्मते—वनोति । ववानेत्यादि ॥

मनु अवबोधने ॥ ९ ॥

मनुते । मेने इत्यादि वनुवत् । उदात्तावनुदात्तेतौ ॥

डु कृञ् करणे ॥ १० ॥

करोति । कुरुतः । कुर्वन्ति । करोषि । करोमि । कुर्वः । कुर्मः ।

कुरुते । कुर्वाते । कुर्वते । कुरुषे । कुर्वे । कुर्वहे ॥
'अत उत्सार्वधातुके' इति क्ङित्सार्वधातुकपरस्य उप्रत्ययान्तस्य करोतेरकारस्योकारः । तपरकरणाल्लघूपधगुणो न भवति । नित्यं करोतेरिति वकारमकारादौ नित्यमुकारस्य लोपः । कृतेऽस्मिन् 'हलि च' इति दीर्घो 'न भकुर्छुराम्' इति निषिध्यते । न चादिति तपरत्वेनैव विकारनिवृत्त्यर्थेन गुणवद्दीर्घोऽपि न भविष्यतीति मन्तव्यम् । अस्मिन् हि विकरणनिवृत्त्यर्थे प्रसक्ते दीर्घस्य पूर्वत्रासिद्धत्वात् । न चोकारलोपस्य स्थानिवद्भावेन हल्परत्वाभावः 'दीर्घविधिं प्रति न-स्थानिवत्' इति 'पूर्वत्रासिद्धे न स्थानिवत्' इति वा स्थानिवत्त्वस्य निषेधात् ॥

चकार । चक्रतुः । चकर्थ । चकृव । क्रादिसूत्रोपात्तत्वाल्लिटीडभावः ॥

चक्रे । चक्राते । चकृषे । चकृवहे । अजादावन्तरङ्गत्वात्पूर्वं यण्यनच्कत्वाद्द्विर्वचनाप्रसङ्गो नाशङ्क्यः 'द्विर्वचनेऽचि' इति यणादेशस्य स्थानिवत्त्वात् ॥

कर्ता । करिष्यति, करिष्यते—'ऋद्धनोस्स्ये' इतीट् ॥

करोतु, कुरुतात् । कुरुताम् । कुरु । करवाणि । कुरुताम् । कुरुष्व । करवै । 'अत उत्सार्वधातुके' इत्यस्मिन्कर्तव्ये 'उतश्च प्रत्ययात्' इत्यस्य हिलुकः 'असिद्धवदत्र' इत्यसिद्धत्वात् सार्वधातुकपरत्वेनोत्वं भवति ॥

अकरोत् । अकरोः । अकरवम् । अकुरुत । अकुरुथाः । अकुर्वि ॥

कुर्यात् । कुर्याः । कुर्याम्—'ये च' इति यकारादौ करोतेरुप्रत्ययस्य नित्यं लोपः ॥

कुर्वीत । कुर्वीथाः । कुर्वीय—यणादेशः । आशिषि—

क्रियात् । क्रियास्ताम्—'रिङ्शयग्लिङ्क्षु' इति रिङादेशोऽन्त्यस्य, रीङि प्रकृते रिङ्विधानसामर्थ्यात् 'अकृत्सार्वधातुकयोः' इति दीर्घो न भवति ॥

कृषीष्ट । कृषीयास्ताम् । रिङादेशो यकारादौ इति सीयुटि न भवति । 'उश्च' इति लिङ्सिचोरात्मनेपदे कित्त्वान्न गुणः ॥

अकार्षीत् । **अकार्ष्टाम्** । सिचि वृद्धिः ॥

अकृत । **अकृषाताम्** । **अकृथाः** । **अकृषि** । 'ह्रस्वादङ्गात्' इति सिचो लोपः । 'तनादिभ्यस्तथासोः' इति विकल्पितो लुक्तु न भवति ; तनादित्वादेवास्योप्रत्यये सिद्धे पृथग्विधानादन्यत्तनादिकार्यं न भवतीति ज्ञापनात् । यद्वा—अस्तु विकल्पः तथाऽपि यतो 'ह्रस्वादङ्गात्' इति लुगभावे लोपो भविष्यति । न च विकल्पेनास्य बाधा ; पूर्वत्रासिद्धत्वाल्लोपस्य । न च विकल्पविधानसामर्थ्यादसिद्धत्वाभावः; तस्यान्यत्र आतत आतनिष्टेत्यादौ चरितार्थत्वात् । एवंच विकरणविधौ कृञ उपादानं प्रपञ्चार्थं भवति ॥

कर्मणि—**क्रियते** । **अकारि**—'रिङ्शयग्लिङ्क्षु' इति रिङादेशो यकि । अत्रात्रेयः—कथं क्रियात पुरुषकार इत्युपादाय 'व्यत्ययो बहुलम्' इति कर्मण्यपि परस्मैपदसिद्धिः । तथाच गुरुटीकायां 'कृताः पुरोडाशाः करिष्यन्निर्वापाः' इति । अत्र कर्मण्येव लृटि शतृप्रत्ययो दृश्यते । प्रयोगमुखे तु तिङन्तप्रतिरूपको निपात इत्युक्तमित्याह ॥

कर्मकर्तरि **क्रियते कटस्स्वयमेव** । **अकृत कटस्स्वयमेव, अकारि कटस्स्वयमेव** । 'अचः कर्मकर्तरि' इति तशब्दे च्लेर्वा चिण् ॥

चिकीर्षति ; चिकीर्षते—'इको झलि' इति कित्त्वान्न गुणः । 'अज्झनगमां' इति दीर्घः । 'ऋत इद्धातोः' इतीत्वे रपरे 'हलि च' इति दीर्घः ॥

चेक्रीयते । 'रीङृतः' इति रीङ् **चरिकर्तीत्यादि** ॥

कारयति कटं देवदत्तं यज्ञदत्तः, देवदत्तेनेति वा—'हृक्रो-

रन्यतरस्याम्' इति वा प्रयोज्यः कर्म ॥

संस्करोति अलङ्करोतीत्यर्थः । तत्र **संस्कुर्वन्ति** समुद्यन्तीत्यर्थः । **समस्करोत्** । **संचस्कार** । **सञ्चस्करतुः** । **सञ्चस्करिथ** । **सञ्चस्करिव** । 'सुट्कात्पूर्वः' 'अड्भ्यासव्यवायेऽपि' इत्यधिकारे 'संपर्युपेभ्यः करोतौ भूषणे समवाये च' इति कात्पूर्वः सुट् । समवायः समुदायः । 'समः सुटि' ति समो मकारस्य रुः, तस्य 'खरवसानयोः' इति विसर्जनीये 'विसर्जनीयस्य सः' इति सत्वम् । 'वा शरि' इति विसर्जनीयो न भवति, व्यवस्थितविभाषाविज्ञानात् । वार्तिके तु 'संपुम्कानां सो वक्तव्यः' इति रोरपवादः स एव विहितः । भाष्ये तु 'समस्सुटि' इति द्विसकारनिर्देशात् सूत्रेणैव सविधिस्सिद्ध इत्युक्तम् । 'अत्रानुनासिकः पूर्वस्य तु वा' इति पक्षे रोः पूर्वस्य अनुनासिकः । अत्र ग्रहणं रुप्रकरणोपलक्षणार्थम् । अनुनासिकाभावे 'अनुनासिकात्परोऽनुस्वारः' इत्यनुस्वार आगमः । क्रादिसूत्रे 'कृञोऽसुटः' इति वचनात् ससुट्कः क्राद्यन्यो भवतीति लिटीडागमः भारद्वाजनियमोऽप्यसुट एवेष्यत इति वृत्त्यादौ स्थितत्वात् थलि नेड्विकल्पः । सुट्कात्पूर्वग्रहणं सुटोऽभक्तत्वज्ञापनार्थमिति व्यवस्थितत्वात्संस्क्रियते इत्यादौ ऋकारान्तत्वेऽपि संयोगादित्वाभावात् 'गुणोऽर्तिसंयोगाद्योः' इति गुणो न भवति ॥

तथा **संस्कृषीष्ट समस्कृषाताम्** इत्यादौ 'लिङ्सिचोरात्मनेपदेषु' 'ऋतश्च संयोगादेः' इतीण्न भवति । 'ऋतश्च संयोगादेर्गुणः' इत्यत्र संयोगोपधग्रहणं कर्तव्यम्, कृञर्थमित्युक्तत्वात् संयोगवत्त्वाभावेऽपि ऋकारस्संयोगपूर्व इति **संचस्करतु**रित्यादौ किति लिटि गुणो भवति । एवमु**पस्करोति** । परिपूर्वत्वे 'परिनिविभ्यः' इत्यादिना

सुटः षत्वं भवति--**परिष्करोतीत्यादि** । अड्व्यवाये तु 'सिवादीनां वाऽड्व्यवायेऽपि' इति विकल्पो भवति—**पर्यष्करोत्, पर्यस्करोदित्यादि**॥

परिचस्कारेत्यादौ 'स्थादिष्वभ्यासेन' इति न षत्वम् । तत्र यतः प्राक्सितादित्यनुवर्तते । संपूर्वस्य क्वचिदभूषणेऽपि सुट् इष्यते 'त इषुं समस्कुर्वत' इति । सूत्रे च दृश्यते 'संस्कृतं भक्षाः' इति । उपात्कृञः 'उपात्प्रतियत्नवैकृतवाक्याध्याहारेषु च' इत्येतेष्वपि कात्पूर्वः सुड्भवति । प्रतियत्नः सतो गुणान्तराधानहेतुरिह साराधिक्याय वृद्धस्य वा तादवस्थ्याय । विकृतमेव वैकृतं प्रज्ञादित्वात्स्वार्थे अण् । गम्यमानार्थस्य वाक्यैकदेशस्य स्वरूपेणोपादानं वाक्याध्याहारः । एधोदकस्योपस्कुरुते—'कृञः प्रतियत्ने' इति कर्मणि शेषे षष्ठी गन्धनादिसूत्रेण प्रतियत्ने तङपि । उपस्करोत्यन्नं विकरोतीत्यर्थः । उपस्करोति वाक्यैकदेशं अध्याहरतीत्यर्थः । उपस्कृतं भुङ्क्ते उपस्कृतं जल्पतीति वृत्त्युदाहरणं हरदत्तेन क्रियाविशेषणं व्याख्यातम् । **उपस्कुरुते दोषम् । श्येनो वर्तिकामवकुरुते । राजानं प्रकुरुते । परदारान्प्रकुरुते । एधोदकस्योपस्कुरुते । गाथाः प्रकुरुते । शतं प्रकुरुते** । सूचयति । भत्सर्यति । सेवते । सहसा प्रवर्तते । गुणान्तराधानायेहते । प्रकर्षेण कथयति । विनियुङ्क्ते इति क्रमेणार्थाः । 'गन्धनावक्षेपणसेवनसाहसिक्यप्रतियत्नप्रकथनोपयोगेषु कृञः' इत्येतेषु वर्तमानात्कृञोऽकर्त्रभिप्रायेऽपि तङ् । तमधिकुरुते—'अधेः प्रसहने' इति तङ् । प्रसहनमभिभवः अपराजयो वा । अपराजयश्च पराभिभवे शक्तस्य क्षमयैव यस्तदभावः सः । तथा च भारविः—'भवादृशाश्चेदधिकुर्वते परान्' इति । क्षमया न पराजयन्ते क्षमन्त इत्यर्थः ॥

क्रोष्टा विकुरुते स्वरान्—'वेश्शब्दकर्मणः' इति तङ् । अत्र कर्मेति कारकं गृह्यते न क्रिया । अत्र सुधाकरः—वेश्शब्दकर्मणश्चेदनुवाकं श्लोकं वा विकरोतीत्यत्रापि प्रसङ्गः । नेह शब्दविषयो व्यापारः यस्य शब्दो निर्वर्त्यः । तत्र हि विकरोति विनाशयतीत्यर्थो न निर्वर्तयतीति । विकुरुते सैन्धवः । साधु दान्तश्शोभनं वल्गतीत्यर्थः । "अकर्मकाच्च" इति विपूर्वात्तङ् । यदा संवल्गनायां वृत्तेस्सौकर्यातिशयात् वल्गन वचनः तदा "कर्तुः कर्मवद्भावे यक्चिणोः प्रतिषेधः" इत्यादिना आत्मनेपदाकर्मकान्न यक्चिणाविति विकुरुते सैन्धवस्स्वयमेव व्यकृत सैन्धवस्स्वयमेवेति भवतः । अत्रात्मनेपदाकर्मकेत्यादिना आत्मनेपदविधावर्थान्तरवृत्त्या अकर्मकाणामन्तर्भावितण्यर्थानां सकर्मकाणां सौकर्यातिशयविवक्षया पुनरकर्मकाणां कर्मकर्तृविवक्षया ग्रहणमिति येषां दर्शनं तेषां "विकारहेतौ सति विक्रियन्ते" इत्यत्र न यक्चिण्प्रतिषेधप्रसङ्गः । यतोऽत्र स्वत एव सकर्मकस्य कर्माविवक्षायां कर्मकर्तृत्वम् । येषां चात्मनेपदाकर्मकेति धातूपलक्षणं तेषां विकरोतिरप्यर्थान्तरवृत्त्या क्वचिदात्मनेपदनिमित्तं दृष्ट इति 'विकारहेतौ सति विक्रियन्ते' इत्यत्रापि कर्मकर्तरि यक्चिण्प्रतिषेधेन भाव्यम् ॥

संस्कुरुते कन्या स्वयमेव । समस्कुरुत कन्या स्वयमेवेत्यत्र भूषाकर्मकत्वान्न यक्चिणौ ॥

पदं मिथ्या कारयते—स्वरादिदुष्टमसकृदुच्चारयतीत्यर्थः । 'मिथ्योपपदात्कृञोऽभ्यास' इति ण्यन्तात्तङ् । गन्धनादिसूत्रचतुष्कमेव चाकर्त्रभिप्रायार्थम् ॥

अनुकरोति; पराकरोति—'अनुपराभ्यां कृञः' इति परस्मैपदम् । इदं च कर्त्रभिप्राये गन्धनादौ च प्राप्तस्य तङोऽपवादः । अनेन च कृञस्तन्निमित्तत्वमेव निषिद्ध्यत इति अनुचिकीर्षति पराचिकीर्षतीत्यत्र 'पूर्ववत्सनः' इति तङ्न भवति । आत्रेयः—'संज्ञापूर्वको विधिरनित्यः' इति 'मातस्सर्वान् पराकृथाः' इत्यत्र परस्मैपदाभावमाह ॥

कृत्यम्, कार्यम्—'विभाषा कृवृषोः' इति क्यब्ण्यतौ । वासरूपेण तव्यदादयोऽपि—**कर्तव्यम्, करणीयम्** ॥

विद्या यशस्करी । श्रद्धाकरः आस्तिकः । प्रैषकरो भृत्यः—'कृञो हेतुताच्छील्यानुलोम्येषु' इति कर्मण्युपपदे टप्रत्ययः । हेतुरैकान्तिकं कार्यकारणम् । ताच्छील्यं तत्स्वभावता । आनुलोम्यमनुकूलता । टित्वात् स्त्रियां ङीप् ॥

शङ्करा नाम परिव्राजिका तच्छीला चेत्यत्र ताच्छीलिकं परमपि टप्रत्ययं 'शमिधातोस्संज्ञायाम्' इत्यच्प्रत्ययः तत्र धात्वधिकारेऽपि पुनर्धातुग्रहणाद्बाधते । तथा च वार्तिकम्—'शमिसंज्ञायां धातुग्रहणं कृञो हेत्वादिषु टप्रतिषेधार्थम्' इति ॥

अयं च टप्रत्ययः 'नशब्दश्लोककलहगाथावैरचाटुसूत्रमन्त्रपदेषु' इति निषेधाच्छब्दादिपूपपदेषु न भवतीत्यणेव **शब्दकर** इत्यादि ॥

दिवाऽह्नि प्राणिनश्चेष्टायुक्तान्करोतीति **दिवाकरः**—'दिवाविभानिशाप्रभाभास्करान्तानन्तादिबहुनान्दीकिंलिपिलिबिबलिभक्तिकर्तृचित्रक्षेत्रसंख्याजङ्घाबाह्वहर्यत्तद्धनुररुष्षु' इति दिवादिपूपपदेषु कृञष्टः । अहेत्वाद्यर्थ आरम्भः । तत्र दिवाशब्दस्य अधिकरणशक्तिप्रधा-

नत्वात् कर्मत्वं न भवति । तत्र सुपीति संबध्यते । अन्येषु कर्मणीति । विभां करोतीति **विभाकरः, प्रभाकर** इत्यादीन्युदाहरणीयानि । **भास्कर** इत्यत्र अत्रैव सूत्रे भास्कर इति करोतौ परे सकारस्य निर्देशात्सत्वम् । ' अतः कृकमि ' इति तु सत्वं तपरनिर्देशान्न भवति । कर एव कारः प्रज्ञादिः । अत्रान्तकरस्य नञ्समासेनैव अनन्तकरेति सिद्धे अनन्तग्रहणं कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वरार्थम् । अन्यथा ' तत्पुरुषे तुल्य ' इत्याद्युदात्तत्वं स्यात् । बहुशब्दो वैपुल्यवचनः । अन्यस्य सङ्ख्यात्वादेव ग्रहस्सिद्धः । अत्रेष्टिः—' कियत्तद्बहुषु कृञोऽज्विधानम् ' इति । प्रयोजनं किंकरेत्यादौ स्त्रियां टाप् ॥

किङ्करी इति पुंयोगे ङीष् हेत्वादौ वा पूर्वसूत्रेण टप्रत्यये । **तस्कर** इत्यत्र ' तद्बृहतोः करपत्योश्चोरदेवतयोः' इति सुट्तलोपौ ॥

धनुष्कर इत्यत्र—' नित्यं समासेऽनुत्तरपदस्थस्य ' इति विसर्जनीयस्य नित्यं षत्वम् ॥

कर्मकरः—' कर्मणि भृतौ ' इति कर्मशब्दे उपपदे भृतौ गम्यमानायां टप्रत्ययः । भृतिर्वेतनम् । अन्यत्र **कर्मकारः** ॥

स्तम्बकरिः व्रीहिः । **शकृत्करिः** वत्सः—'स्तम्बशकृतोरिन्' इतीन् । 'व्रीहिवत्सयोरिति वक्तव्यम्' इत्युक्तत्वादन्यत्र **स्तम्बकारः** । **शकृत्कारः** इति ॥

मेघङ्करः । **ऋतिङ्करः** । **भयङ्करः**—' मेघर्तिभयेषु कृञः ' इति मेघादिषु कर्मसूपपदेषु खच् । खित्त्वान्मुम् उपपदविधौ ' भयाढ्यादिग्रहणं तदन्तं प्रयोजयति ' इत्युक्तत्वात् अभयशब्देऽप्युपपदे खश्भवति—**अभयङ्कर** इति ॥

क्षेमङ्करः, क्षेमकारः—'क्षेमप्रियमद्रेऽण्च' इति क्षेमादिपूपपदेषु खजणौ। वेति खचो विकल्पेनैव कर्मण्यणि सिद्धे अण्ग्रहणं हेत्वादिषु टप्रतिषेधार्थम्। एवं प्रियमद्रयोरप्युदाहार्यम् ॥

अनाढ्यः आढ्यः क्रियते येन तत् **आढ्यंकरणम्**—'आढ्यसुभगस्थूलपलितनग्नान्धप्रियेषु च्व्यर्थेष्वच्वौ कृञः करणे ख्युन्' इत्याढ्यादिषु अभूततद्भावविषयेष्वच्व्यन्तेषु कर्मसूपपदेषु करणे कारके ख्युन्। स्त्रियां **आढ्यंकरणी**—'टिड्ढाणञ्' इत्यादिना ङीप्। एवं **सुभगंकरण**मित्यादि। खित्त्वान्मुम्। 'उपपदविधौ भयाढ्यादिग्रहणं तदन्तविधिं प्रयोजयति' इत्युक्तत्वात् अनाढ्यादिष्वप्युपपदेषु ख्युन् भवति—**अनाढ्यंकरण**मित्यादि ॥

सुकृत्—शोभनं कृतवानित्यर्थः। 'सुकर्मपापमन्त्रपुण्येषु कृञः' इति स्वादिषु कर्मसूपपदेषु भूते क्विप्। एवं **कर्मकृ**दित्यादि ॥

राजानं कृतवान् **राजकृत्वा**—'राजनि युधि कृञः' इति राजनि कर्मण्युपपदे भूते क्वनिप् तुगागमः। 'वनोरच' इति ङीब्रेफौ स्त्रियां—**राजकृत्वरी** ॥

सहकृत्वा—'सहे च' इति भूते क्वनिप् ॥

अलंकरिष्णुः—'अलंकृञ्निराकृञ्' इति ताच्छीलिक इष्णुच् ॥

चक्रिः—'भाषायां धाञ्कृञ्' इति किकिनोरन्यतरः, लिड्वद्भावाद्द्विर्वचनम् ॥

चक्रम्—'घञर्थे कः,' 'कृञादीनां के द्वे' इति द्वित्वं च ॥

चक्रीवान्नाम राजा—'आसन्दीवदष्ठीवच्चक्रीवत्' इति मतुपि चक्रस्य चक्रिभावो निपातनात् ॥

क्रिया, कृतिः—'कृञश्शच' इति शक्तिनौ। 'कृञः' इति योगविभागात्क्यप् तुगागमः **कृत्या** इति। शस्य भावविषयत्वात् सार्वधातुकत्वाच्च यकि विकरणे 'रिङ्शयग्लिङ्क्षु' इति रिङादेशः।

ईषदाढ्यंकरो देवदत्तः। **दुराढ्यंकरः**—'कर्तृकर्मणोश्च भूकृञोः' इति करोतेः कर्तृकर्मवाचिनि चकारादीषदादिषु चोपपदेषु खल्प्रत्ययः। 'कर्तृकर्मणोश्च्व्यर्थयोः' इति वचनात् अभूततद्भावविषयोऽयं प्रत्ययः। तदयमर्थः—अनाढ्यः अनायासेन दुःखेन सुखेन वा आढ्यः क्रियते इति॥

चोरंकारमाक्रोशति—'कर्मण्याक्रोशे कृञः खमुञ्' इति कर्मण्युपपदे आक्रोशे गम्यमाने खमुञ्। अत्र करोतिः स्वभावत उच्चारणाक्रिय इति चोरशब्दोऽपि स्वरूपपरः। तदयमर्थः—चोरशब्दमुच्चार्य आक्रोशतीति। अस्य धातुसंबन्धमात्रे विधानेऽपि णमुलन्तार्थानुरोधादाक्रोशार्थस्यैव अनुप्रयोगः॥

स्वादुङ्कारं भुङ्क्ते—'स्वादुमि णमुल्' इति णमुल्। स्वादुमीत्यर्थग्रहणात्—**संपन्नंकारं भुङ्क्ते, लवणंकारं भुङ्क्ते** इत्यत्रापि णमुल् भवति। अत एव स्वादुमीति निर्देशात् उपपदस्य मान्तत्वम्। ननु प्रकृतः खमुञ् विधीयतां खित्वान्मान्तत्वं भविष्यति, किं निपातनेन। एवं सति लिङ्गविशिष्टपरिभाषया 'ओतो गुणवचनात्' इति ङीषन्तस्य स्वाद्वीशब्दस्योपपदत्वं मा भूदिति निपातनम्। भाविप्रत्ययविषये हि मान्तत्वे उकारान्तत्वाभावात् ङीषो नास्ति प्रसङ्गः। किंच—च्व्यन्तस्य स्वाद्वादेर्मान्तत्वार्थम्। तस्य ह्यव्ययत्वात् खित्वनिबन्धनो मुम्नास्ति। अत्र णमुलिवषये वासरूपविधिना क्त्वाऽपि भवति—**स्वादुंकृत्वा भुङ्क्ते** इत्यादि॥

अन्यथाकारं भुङ्क्ते—'अन्यथैवंकथमित्थं सुसिद्धाप्रयोगश्चेत्'

इति अन्यथादिषूपपदेषु णमुल् । सिद्धशब्दः प्राप्तिवचनः प्राप्त-प्रयोगश्चेत्करोतिरित्यर्थः । प्राप्ताप्रयोगत्वं च निरर्थकत्वात् । तेनान्यथेति यावानर्थस्तावानिवान्यथाकारमिति । एवमेवंकारमि-त्यादि । अत्रापि वासरूपविधिना क्त्वाऽपि भवति । तेन **अन्यथाकृत्वा चोदितम्** । **अन्यथाकृत्वा परिहारः** इत्यादि भवति ॥

यथाकारमहं भोक्ष्ये तथाकारं भोक्ष्ये किं तवानेन—'यथातथयो रसूयाप्रतिवचने' इति कृञः सिद्धाप्रयोगाद्यथातथयोरुपपदयोरसूयाप्र-तिवचने गम्यमाने णमुल् । यत्र प्रश्ने प्रतिवचनमसूयया भवति तदसू-याप्रतिवचनम् ॥

अकृतकारं करोति । अकृतं करोतीत्यर्थः—'समूलाकृतजीवेषु हन्कृञ्ग्रहः' इति णमुल् । कषादित्वाद्यथाविध्यनुप्रयोगः ॥

ब्राह्मण पुत्रस्ते जातः किं तर्हि वृषल? नीचैःकारमाचक्षे । नीचैः कृत्य, नीचैःकृत्वेति वा—'अव्ययेऽयथाभिप्रेताख्याने कृञः' इति क्त्वा-णमुलौ यथाऽभिप्रेतं न भवति तथाऽऽख्याने गम्यमाने । अत्र हि पुत्रज-न्मप्रियमुच्चैराख्येयं गोपनीयवत्केनचिन्नीचैराख्यायते । 'तृतीयाप्र-भृतीन्यन्यतरस्याम्' 'क्त्वा च' इति समासविकल्पः ॥

तिर्यक्कृत्य गतः, तिर्यक्कृत्वा, तिर्यक्कारम्, इति वा । समाप्य गत इत्यर्थः—'तिर्यच्यपवर्गे' इति क्त्वाणमुलौ । अपवर्गस्समाप्तिः पूर्ववत्समासविकल्पः ॥

मुखतःकृत्य, मुखतःकृत्वा, मुखतःकारं गच्छति—'स्वाङ्गे त-स्प्रत्यये कृभ्वोः' इति क्त्वाणमुलौ । पूर्ववदत्रापि समासविकल्पः ॥

नानाकृत्य, नानाकृत्वा, नानाकारम् । विनाकृत्य, विना-कृत्वा, विनाकारम् । द्विधाकृत्य, द्विधाकृत्वा, द्विधाकारम् ।

द्वेधाकृत्य, द्वेधाकृत्वा, द्वेधाकारम् । एवं **द्वैधंकृत्येति**—' नाधार्थप्रत्यये च्व्यर्थे ' इति क्त्वाणमुलौ । पूर्ववदत्रापि समासविकल्पः । सूत्रार्थो भवतावुक्तः ॥

कृतः । **कृतवान्** । कृतं गृह्णाति **कृतयति**—' मुण्डमिश्र ' इत्यादिना णिच् स्वभावाद्गृह्णात्यर्थे प्रत्ययः ॥

कृतमनेन **कृती**—' इष्टादिभ्यश्च ' इतीनिः ॥

कृतं च तदपकृतं च **कृतापकृतम्**—'कृतापकृतादीनामुपसंख्यानम्' इति समासः ॥

कृत्रिमम्—' ड्वितः क्त्रिः ' ' क्त्रेर्मम्नित्यम् ' इति मप् ॥

कडति माद्यतीति **कडः**—अच् । कडंकरोतीति **कडंकरः**, माषमुद्गादिकाष्ठम् । तदर्हतीति **कडंकर्यः**, **कडंकरीयः**—' कडङ्करदक्षिणाच्छ च ' इति अर्हतीत्यर्थे यच्छौ । अत्रैव निर्देशादचि मुमागमः ॥

कर्म—मनिन् । कर्मशीलमस्य **कार्मः**—'छत्रादिभ्योऽणः ' इति णः । ' कार्मस्ताच्छील्ये ' इति निपातनाट्टिलोपः । ' नस्तद्धिते ' इति सिद्धे टिलोपे निपातनं णेऽपि क्वचिदण्कृतं कार्यं भवतीति ज्ञापनार्थम्। तेन 'तापसी चौरी' इत्यत्र णेऽप्यण्कृतो ङीब्भवतीति पूर्वत्रोक्तम् ॥

कर्मणे प्रभवतीति **कार्मुकम्**—' कर्मण उकञ् ' इति ' तस्मै प्रभवति ' इति विषये उकञ् ॥

सर्वकर्म व्याप्नोति **सर्वकर्मीणः**—' तत्सर्वादेः ' इत्यादिना खः ॥

कर्मणि घटते **कर्मठः**—' कर्मणि घटोऽठच् ' इत्यठच् ॥

कर्मी—व्रीह्यादित्वादिनिः ॥

कार्मणम्—तद्युक्तात्कर्मणोऽण्, इति व्याहृतार्थवाग्युक्तात्कर्मणः स्वार्थे अण्। 'अन्' इति प्रकृतिभावः॥

कारुः—'कृपावाजि' इत्युण्॥

क्रतुः—'कृञः क्रतुः' इति क्रतुप्रत्ययः॥

कार्पासः—'कृञः पासण्' इति पासण्॥

कृकम्—'कृदाधारार्चिकलिभ्यः कन्' इति कन्। बाहुलकात्क-लोपगुणयोरभावः॥

ऊरीकृत्य । शुक्लीकृत्य । पटपटाकृत्य—'ऊर्यादिच्विडा-चश्च' इति कृभ्वस्तियोगे ऊर्यादीनां गतिसंज्ञा। तथा च वृत्तिः—'च्विडाचोः कृभ्वस्तियोगे विधानात् ऊर्यादीनामपि तैरेव योगे गति-संज्ञा' इति। वार्तिकं च—कृभ्वस्तियोग इति वक्तव्यमिति। गतिसंज्ञाप्रयोजनं समासादि। ऊर्यादीनां प्रयोगोऽप्यर्थस्वभावात् कृभ्वस्तियोगे एवेति कैयटपमदञ्जर्योः। कथं तर्हि भवति 'आविश्चक्षुषो भवद्रसाविव रागः' 'अभवद्युगपद्विलोलजिह्वायुगलीढोभयसृक्कभागमाविः' इति। सुतन्त्राः कवय इति हरदत्तः। अत्राप्याविस्दुश्शब्दौ मुक्त्वाऽन्येषां ऊर्यादी-नामर्थस्वभावात् करोतियोग एव प्रयोगः। अत एव वृत्तिकृता गणवृत्तिकृताऽन्यैश्च शाकटायनीयादिभिः करोतियोग एवोदाहरणं दर्शितम्। श्रच्छब्दस्य दधातिनैव योगे इत्येके। श्रौषट् वौषट् वषट् स्वाहा स्वधेत्येषां पञ्चानां चादिषु पाठादक्रियायोगेऽपि प्रयोगः। अन्येऽप्यूर्यादय उदाहार्याः॥

कारिकाकृत्य—क्रियां कृत्वेत्यर्थः । 'कारिकाशब्दस्योपसंख्यानम्' इति गतित्वम् । 'धात्वर्थनिर्देशे ण्वुल्' इति ण्वुलन्तः कारिकाशब्दः इति न्यासे ॥

खाट्कृत्य—'अनुकरणं चानितिपरम्' इति गतिसंज्ञा । अनुकरणस्य इतिपरत्वे तु **खाडिति कृत्वा** ॥

सत्कृत्य, असत्कृत्य—'आदरानादरयोस्सदसती' इति गतिसंज्ञा । प्रीतिपूर्वकप्रत्युत्थानादित्वरा आदरः । अवश्यकर्तव्यं प्रत्युत्थानादिकं प्रत्युपेक्षाऽनादरः । अन्यत्र—**सत्कृत्वा** । **असत्कृत्वा** । शोभनमशोभनं च कृत्वेत्यर्थः ॥

अलंकृत्य—'भूषणेऽलम्' इति गतित्वम् । भूषणादन्यत्र—**अलं कृत्वा** । करणेनालमित्यर्थः । अनुकरणमित्यादयस्त्रयो योगाः स्वभावात्कृञ्विषयाः ॥

पुरस्कृत्य—पूर्वदेशे कृत्वेत्यर्थः । 'पुरोऽव्ययम्' इति गतिसंज्ञा । 'पूर्वाधरावराणामसिपुरधवश्चैषाम्' इति सप्तम्यन्तात्स्वार्थे सिप्रत्ययः पुरादेशश्च । 'तद्धितश्चासर्वविभक्तिः' इत्यव्ययत्वम् । 'नमस्पुरसोर्गत्योः' इति विसर्जनीयस्य सत्वम् । अव्ययादन्यत्र **पुरःकृत्वा गतः** । **अस्तंकृत्य**—'अस्तं च' इति गतिसंज्ञा । चकारोऽव्ययमित्यनुकर्षणार्थः । तेनात्रैव निर्देशात् अस्तंशब्दो मकारान्तोऽव्ययमस्तीति ज्ञायते । अस्य त्वदर्शनमर्थः । अन्यत्र—अस्तंगतः । क्षिप्तं कृत्वेत्यर्थः ।

द्वाविमौ योगौ करोत्यविषयावपि दृश्येते । यथा—'तुरासाहं पुरोधाय' 'अस्तंगत्य सविता पुनरुदेति' । **अदः कृत्य**—'अदोऽनुपदेशे' इति गतित्वम् । उपदेशः परार्थो वाक्यप्रयोगः । ततोऽन्योऽनुपदेशः । स्वयमेव बुद्ध्या परामर्श इति यावत् । परस्य कथने तु-**अदःकृत्वा गतः** इति । सूत्रे अद इति द्वितीयान्तानुकरणेनामुनाकृत्वेत्यर्थेऽदः-कृत्वेत्येव भवतीत्यात्रेयः । **तिरस्कृत्य**—'विभाषा कृञि' इति तिरसो वा गतित्वम् । अन्तर्धौ 'तिरसोऽन्यतरस्याम्' इति विसर्जनीयस्य वा सत्वम् । अन्यदा तु 'कुप्वोः ≍क≍पौ च' इति जिह्वामूलीयविसर्जनीयौ द्रष्टव्यौ । अगतित्वे 'तिरसोऽन्यतरस्याम्' इति सत्वं गतेरितीह न भवतीत्यात्रेयः । केचित्तु तत्र गतिग्रहणं नानुवर्तयन्ति, तेन तिरस्कृत्येत्यत्रापि सत्वम् । अत एव पराभवेऽपि तिरस्कार इति । अयं पक्षो भाष्यवृत्तिन्यासपदमञ्जर्यादौ न दृश्यते। **उपाजेकृत्य, उपाजेकृत्वा—अन्वाजेकृत्वा, अन्वाजेकृत्य**—इति 'उपाजेऽन्वाजे' इति वा कृञि गतित्वम् । उपाजेऽन्वाजेशब्दौ विभक्तिप्रतिरूपकौ निपातौ दुर्बलस्य सामर्थ्याधाने वर्तेते । **साक्षात्कृत्वा, साक्षात्कृत्य**—'साक्षात्प्रभृतीनि च' इति कृञि वा गतित्वम्। अत्र वार्तिकं 'साक्षात्प्रभृतिषु च्व्यर्थग्रहणम्, तत्र च्विप्रत्ययप्रतिषेधः' इति । तेन च्व्यन्तस्योर्यादित्वात् नित्यं गतित्वम् । अस्य च प्रयोजनमकारान्तेषु **लवणीकृत्येत्यादौ** । अत्र लवणमुष्णमुदकं शीतमार्द्रमिति पञ्च पठ्यन्ते । एषामत्रैव निपातनात् गतित्वसन्नियोगेन मान्तत्वम् । अत्राग्नौवशेप्रभृतयः केचिदेजन्ताः पठ्यन्ते । ते विभक्तिप्रतिरूपका निपाताः । प्रादुस्आविस्शब्दाविह पठ्येते । तयोरूर्यादित्वान्नित्ये प्राप्ते विकल्पार्थः पाठः । ऊर्यादिपाठस्तु कृभ्वस्तियोगे नित्यार्थः । अत्र नमःशब्दः पठ्यते । स यदा गतिसंज्ञ-

कः तदा उपसर्गवद्वृत्त्या कृञः प्रणामवचनत्वं द्योतयतीति प्रणामापेक्षया कर्मणि देवादौ ‘नमस्स्वस्ति’ इत्येतद्बाधित्वा ‘उपपदविभक्तेः कारकविभक्तिर्बलीयसी’ इति नमस्यति देवानितिवत् नमस्करोति देवानिति द्वितीयैव। अगतित्वे तु करोतिक्रियाकर्मभावापन्नं विशेष्यभूतं प्रणाममाचष्टे इति देवादावकर्म-णि ‘नमस्स्वस्ति’ इति चतुर्थी। तथा चभाट्टिः—‘नमश्चकार देवेभ्यः’ ‘रावणाय नमस्कुर्याः’ इति। ‘स्वयंभुवे नमस्कृत्य’ इत्यत्र तु नमसो गतित्वेन कृञो विशेषकत्वात्प्राप्तां कारकविभक्तिं द्वितीयां ‘क्रियार्थोपपदस्य’ इति चतुर्थी बाधते। तदत्रायमर्थो वाच्यः—स्वयंभुवं प्रीणयितुं प्रणम्य इति। वर्धमानस्तु-श्राद्धाय निगृह्णत इतिवत्क्रियाग्रहणं कर्तव्यमिति चतुर्थीमाह॥

उरसिकृत्य, उरसिकृत्वा। मनसिकृत्वा, मनसिकृत्य— बुद्धौ कृत्वेत्यर्थः। ‘अनत्याधान उरसिमनसी’ इति उरसिमनसिशब्दयोर्वा गतित्वम्। अत्याधानमुपश्लेषः, तदभावोऽनत्याधानम्। अत्याधाने तु—**उरसि कृत्वा पाणिं शेते** इति। सप्तम्यन्तप्रतिरूपकावेतौ॥

मद्ध्येकृत्य; मद्ध्येकृत्वा। पदेकृत्य, पदेकृत्वा। निवचनेकृत्य-निवचनेकृत्वा—‘मध्येपदे निवचने च’ इति वा गतित्वम्। अनत्याधाने मध्येपदेशब्दौ विभक्तिप्रतिरूपकौ। निवचनं वचनाभावः। सतृणमितिवदव्ययीभावः। उच्चारणसामर्थ्यात्सप्तम्या लुङ्न भवतीति न्यासे। हरदत्तस्तु—निपातनादेकारान्तत्वम्। न पुनरेषा सप्तमी, वाचं नियम्येति व्याख्यानात्। निपातनं चाविशेषेण। न तु संज्ञासंनियुक्तम्

निवचनेकृत्येत्युदाहृतत्वादित्याहुरिति । अत्याधाने तु—**पदे कृत्वा शिरश्शेते** ॥

हस्तेकृत्य ; पाणौकृत्य—'नित्यं हस्ते पाणावुपयमने' इति नित्यं गतिसंज्ञा । निपातनादलुगिति न्यासे । सप्तम्यन्तप्रतिरूपकाविति हरदत्तादयः । उपयमनं दारकर्मेति वृत्तौ । हरदत्तस्तु—अन्ये तु स्वीकरणमात्रमिच्छन्ति हस्तेकृत्यमहास्त्राणीतीति । आत्रेयस्तु—उपयमनं नामापरित्यागलक्षणं स्वीकरणम् । तथा च भट्टिः—हस्तेकृत्य त्वमाश्वासीरिति ॥

प्राध्वं कृत्य शकटं गतः । बन्धनेनानुकूलं कृत्वा गत इत्यर्थः । 'प्राध्वंबन्धने' इति गतित्वम् । प्राध्वंशब्दस्य मान्तस्याव्ययस्यानुकूल्यार्थत्वाद्बन्धन इत्येतदर्थद्वारेण विशेषणम्—बन्धने सति यदानुकूल्यमिति । अबन्धने तु-**प्राध्वं कृत्वा** शकटं गतः । विनाऽपि बन्धनेनानुकूलं कृत्वेत्यर्थः ॥

जीविकामिव कृत्वा **जीविकाकृत्य** । उपनिषदमिव कृत्वा **उपनिषत्कृत्य**—'जीविकोपनिषदावौपम्ये' इति गतित्वम् । इति शब्दप्रयोगे जीविकोपनिषदौ स्वार्थे वर्तेते नौपम्ये इत्यगतित्वान्न समासः ॥

मामधिकृत्वा ईश्वरो भवेति मां विनियुज्येत्यर्थः । यथा 'स्वरितेनाधिकारः' 'ग्रामेऽधिकृतः' इत्यनयोः प्रयोगयोः विनियोगो ह्यर्थः । 'विभाषा कृञि' इति अधेरैश्वर्ये गम्यमाने कर्मप्रवचनीयसंज्ञा । अस्याश्च फलमाकडारादिति गतिसंज्ञाबाधः । द्वितीया त्वधिकृञो

विनियोगार्थत्वात् कर्मणीत्येव सिद्धा । अगतित्वे तु प्रादिसमासस्य 'कर्मप्रवचनीयानां प्रतिषेधः' इति निषेधाद्वाक्यमेव भवति । कर्मप्रवचनीयत्वाभावे तु गतित्वात्समासे मामधिकृत्येति भवति ॥

अनुदात्त उभयतोभाषः ॥

इति श्रीपूर्वदक्षिणपश्चिमसमुद्राधीश्वरकम्पराजसुतसङ्गमहाराजमन्त्रिणा
मायणसुतेन माधवसहोदरेण सायणार्येण विरचितायां
माधवीयायां धातुवृत्तौ उविकरणाः
तनादयस्संपूर्णाः.

अथ क्र्यादयः

डु क्रीञ् द्रव्यविनिमये ॥ १ ॥

क्रीणाति । क्रीणीतः । क्रीणान्ति । क्रीणासि । क्रीणामि । क्रीणीवः । क्रीणीते । क्रीणाते । क्रीणते । क्रीणीषे । क्रीणीथे । क्रीणे । क्रीणीवहे । इत्यादि । 'क्र्यादिभ्यः श्ना ' इति शपोऽपवादश्श्ना । ' श्नाभ्यस्तयोरातः ' इति क्ङिति सार्वधातुके आकारलोपः । हलादौ तु ' ईहल्यघोः ' इतीत्वम् । झिझयोः परत्वान्नित्यत्वादन्तरङ्गत्वादीत्वात्पूर्वं अन्तादेशाद्भावयोराल्लोपः ॥

चिक्राय । चिक्रियतुः । चिक्रेथ, चिक्रयिथ । चिक्रियथुः । चिक्रिय । चिक्राय । चिक्रय । चिक्रिये । चिक्रियाते । चिक्रियिषे । चिक्रियिढ्वे, चिक्रियिध्वे । चिक्रिये । चिक्रियिवहे—क्रादिनियमादिट् । थलितु, भारद्वाजनियमाद्विकल्पः । अगुणवृद्धिविषये इयङ् । ' एरनेकाचः ' इति यण् तु संयोगपूर्वत्वान्नभवति ॥

क्रेता । क्रेष्यति । क्रेष्यते ॥

क्रीणातु । क्रीणीतात् । क्रीणीताम् । क्रीणन्तु । क्रीणीहि । क्रीणानि । क्रीणाव । क्रीणीताम् । क्रीणाताम् । क्रीणताम् । क्रीणीष्व । क्रीणै । क्रीणावहै—तातङस्स्वतो ङित्त्वाद्धेश्नापित्त्वेन ङित्त्वादीत्वम् । उत्तमे त्वाटि पित्त्वेन ङित्त्वाभावादीत्वाभावः ॥

अक्रीणात् । अक्रीणीताम् । अक्रीणाः । अक्रीणीतम् । अक्रीणीत । अक्रीणाम् । अक्रीणीव । अक्रीणीत । अक्रीणाताम् । अक्रीणत । अक्रीणीथाः । अक्रीणाथाम् । अक्रीणीध्वम् । अक्रीणि । अक्रीणीवहि ॥

क्रीणीयात् । क्रीणीयाताम् । क्रीणीयुः । क्रीणीयाः । क्रीणीयाम् । क्रीणीयाव । यासुटो ङित्त्वात्पिद्वचनेष्वपीत्वम् ॥

क्रीणीत । क्रीणीयाताम् । क्रीणीथाः । क्रीणीय । क्रीणीवहि । सीयुटि सलोप आल्लोपः ॥

आशिषि—क्रीयात् । क्रीयास्ताम् । क्रेषीष्ट । क्रेषीयास्तामित्यादि । अक्रैषीत् । अक्रैष्टाम् । अक्रैषुः । अक्रैषीः । अक्रैषम् । सिचि वृद्धिः । अक्रेष्ट । अक्रेषाताम् । अक्रेष्ठाः । अक्रेषि ॥

चिक्रीषति । चिक्रीषते ॥

चेक्रीयते । चेक्रेति ॥

क्रापयति । अचिक्रपत्—'क्रीङ्जीनां णौ' इत्यात्वे पुक् ॥

शतेन परिक्रीणीते । शताय परिक्रीणीते—'परिव्यवेभ्यः क्रियः' इत्यकर्त्रभिप्रायेऽपि तङ् । एवं व्यवाभ्यामपि । इह पर्यादय उपसर्गा गृह्यन्ते इति—बहु विक्रीणाति वनामित्यादौ न भवति । 'परिक्रयणे संप्रदानमन्यतरस्याम्' इति परिपूर्वस्य क्रीणातेः साधकतमस्य पक्षे संप्रदानत्वम् । परिक्रयणं वेतनादिना नियतकालं स्वीकरणम् ॥

कृत्रिमम्—'ड्वितः क्त्रिः' 'क्त्रेर्मम्नित्यम्' ॥

क्रीतः । **क्रीतवान्** । अश्वेन क्रीता **अश्वक्रीती** । धनेन क्रीता **धनक्रीती**—'कर्तृकरणे कृता बहुलम्' इति तृतीयासमासः । स च 'गतिकारकोपपदानां कृद्भिस्सह समासवचनं प्राक्सुबुत्पत्तेः' इति क्रीतशब्देनेति 'क्रीतात्करणपूर्वात्' इति अदन्तात्क्रीतान्तात्प्रातिपदिकाद्विधीयमानो ङीष् भवति ॥

सा हि तस्य धनक्रीता प्राणेभ्योऽपि गरीयसी ॥

इत्यत्र तु बहुलग्रहणाट्टाबन्तेन समास इत्यनदन्तत्वात् ङीषभावो वाच्यः । अन्तवद्भावेन टाबन्तोऽपि कृदन्त एवेति कृदन्तलक्षणसमासलाभः ॥

क्रयः—'एरच्' ॥

अवक्रियते व्यवह्रियते अनेनेति **अवक्रयः** । आयस्थानेषु वणिगादिभिर्दीयमानः स्वामिग्राह्यो भागः यस्य पिण्डक इति प्रसिद्धिः । 'पुंसि संज्ञायाम्' इति घः ॥

क्रयार्थं प्रसारितं **क्रय्यम्**—'अचो यत्' इति यति 'क्रय्यस्तदर्थे' इत्ययादेशः । अत्र तच्छब्देन क्रयः परामृश्यते ॥ अन्यत्र गुणेन क्रेयः ॥

क्रायकः—ण्वुल् ॥

क्रयिकः—'क्रिय इकन्' इतीकन् ॥

प्रीञ् तर्पणे कान्तौ च ॥ २ ॥

कान्तिः कामनेति पुरुषकारे । **प्रीणाति** । **प्रीणीते** इत्यादि क्रीणातिवत् ॥

प्रीणयति । अपिप्रीणत्—'धूञ्प्रीञोर्नुग्वक्तव्यः' इति नुक् ॥

प्रीणातीति **प्रियः**—'इगुपधज्ञाप्रीकिरः कः' ॥

प्रेष्ठ इत्यादि दिवादावुक्तम् ॥

श्रीञ् पाके ॥ ३ ॥

श्रीणाति । श्रीणीते इत्यादि क्रीणातिवत् ॥

श्राययति । अशिश्रयत् । वृद्धचायौ ॥

मीञ् हिंसायाम् ॥ ४ ॥

मीनाति । मीनीतः । मीनासि । मीनामि । मीनीवः ॥ मीनीते । मीनीषे । मीने । मीनीवहे ॥

ममौ । मिम्यतुः । ममाथ । ममिथ । मिम्यथुः । मिम्य । ममौ । मिम्यिव । मिम्यिम—'मीनातिमिनोतिदीङां ल्यपि च' इत्येज्विषये आत्वम्, ल्यपि च । अन्यत्र 'एरनेकाचः' इति यण् ॥

मिम्ये । मिम्यिषे । माता । मास्यति । मास्यते । मीनातु । मीनीताम् । अमीनात् । अमीनीत । मीनीयात् । मीनीत ॥

आशिषि—**मीयात् ।** यासुटः कित्त्वादनेज्विषयान्नात्वम् ॥

मासीष्ट । अमासीत् । अमासिष्टाम् । अमास्त । अमासाताम् । आत्वे—'यमरमनमातां सक्च' इति सगिटौ ॥

सनि **मित्सति, मित्सते**—'सनिमीमा' इत्यच इस् । 'सस्यार्धधातुके' इति तत्वम् । 'अत्र लोपः' इत्यभ्यासलोपः ॥

मेमीयते । मेमेति 'मीनाति' इति श्तिपा निर्देशान्नात्वम् ॥

मापयति—आत्वे पुक् । **अमीमपत्** ॥

प्रमीणाति—'हिनुमीना' इत्युपसर्गस्थान्निमित्तात्परस्य मीनाशब्दे नकारस्य णत्वम् । **प्रमीणीतः । प्रमीणन्ति** इत्यादौ परनिमित्तकस्येत्वस्याल्लोपस्य च पूर्वविधौ स्थानिवत्त्वात् एकदेशविकृतस्यानन्यत्वाद्वा णत्वम् ॥

मीत्वा । मीतः । मीतवान् । प्रमाय—'मीनाति' इति ल्यप्यात्वम् ॥

ईषत्प्रमयः । मयः—'निमिमीलियां खल्चोः' इत्यात्वनिषेधः ॥

षिञ् बन्धने ॥ ५ ॥

सिनाति । सिनीते । इत्यादि क्रीणातिवत् ॥

सिषाय । सेष्यतीत्यादि—'आदेशप्रत्यययोः' इति षत्वम् ॥

सिष्यतुः इत्यादौ 'एरनेकाचः' इति यण् ॥

सिसीषति इत्यत्र 'स्तौतिण्योरेव' इत्यषत्वम् 'अज्झनगमां सनि' इति दीर्घः ॥

सितः । सितवान् ॥

स्कुञ् आप्रवणे ॥ ६ ॥

सौत्रोऽयमित्याचार्याः, इति स्वामी । 'स्तन्भु स्तुन्भु स्कन्भु स्कुन्भु स्कुञ्भ्यः श्नुश्च' इत्यत्र वृत्तिकारः—आद्याश्चत्वारो धातवः सौत्राः

स्कुञ् आप्रवणे क्र्यादिः, इति । स्कुनाति । स्कुनीतः । स्कुनासि । स्कुनीते । स्कुनीषे । स्कुने । स्कुनीवहे । स्तन्भ्वादिसूत्रेण पक्षे श्नुरपि—स्कुनोति । स्कुनुतः । स्कुनोषि । स्कुनोमि । स्कुनुते । स्कुन्वाते । स्कुनुषे । स्कुन्वे । स्कुनुवहे, स्कुन्वहे ॥

चुस्काव । चुस्कुवतुः । चुस्कविथ, चुस्कोथ । चुस्कुव । चुस्कुविव ॥

चुस्कुवे । चुस्कुविषे । चुस्कुविवहे—'शर्पूर्वाः खयः' इति खयः शेषः ॥

स्कोता । स्कोष्यति, स्कोष्यते ॥

स्कुनातु । स्कुनीताम् । स्कुनन्तु । स्कुनीहि । स्कुनाव । स्कुनीताम् । स्कुनाताम् । स्कुनीष्व । स्कुनीध्वम् । स्कुनै । स्कुनावहै । स्कुनामहै । स्कुनोतु । स्कुनुताम् । स्कुन्वाताम् । स्कुन्वताम् । स्कुनुष्व । स्कुनवै ॥

अस्कुनात् । अस्कुनीताम् । अस्कुनाम् । अस्कुनीत । अस्कुनाताम् । अस्कुनीथाः । अस्कुनि । अस्कुनीवहि । अस्कुनोत । अस्कुनुताम् । अस्कुनोः । अस्कुनवम् । अस्कुनुत । अस्कुन्वाताम् । अस्कुनुथाः । अस्कुन्वि ॥

स्कुनीयात् । स्कुनीयाः । स्कुनीयाम् । स्कुनीत । स्कुनीयाताम् । स्कुनीथाः । स्कुनीय । स्कुनुयात् । स्कुन्वीत । स्कुन्वीथाः । स्कुन्वीय ॥

आशिषि—स्कूयात् । स्कूयास्ताम् । स्कोषीष्ट । स्कोषीय ॥

अस्कौषीत् । अस्कौष्टाम् । अस्कोष्ट । अस्कोषाताम् ॥

चुस्कूषति, चुस्कूषते ॥

चोस्कूयते । चोस्कोति ॥

स्कावयति । अचुस्कवत् ॥

स्कुत्वा । स्कुतः, स्कुतवान् ॥

युञ् बन्धने ॥ ७ ॥

युनाति । युनीते । इत्यादि स्कुनातिवत् ॥

युयूषति इत्यत्र 'सनीवन्त' इत्यादौ युग्रहणेन ऊर्णुञ्साहचर्यान्निरनुबन्धकत्वाच्च मिश्रणार्थत्वादादिकस्य ग्रहणादिड्विकल्पो न भवति ॥

क्र्यादयोऽनुदात्ता उभयतो भाषाः ॥

अथ सेट आह—

क्नूञ् शब्दे ॥ ८ ॥

एतदादयो धूञन्ता उभयतो भाषाः । क्नूनाति । क्नूनीतः । क्नूनन्ति । क्नूनीते । क्नूनाते इत्यादि स्कुञ् वत् ॥

चुक्नाव । चुक्नुवतुः । चुक्नुवे । चुक्नुवाते ॥

आर्धधातुके त्विडस्य भवति—क्नुविता । क्नुविष्यति, क्नुविष्यते ॥

क्नविषीष्ट । अक्नावीत् । अक्नाविष्ठाः ॥

सनि तूगन्तत्वात् 'सनिग्रहगुहोश्च' इतीण्निषेधः—चुक्नूषति, चुक्नूषते इत्यादि ॥

द्रूञ् हिंसायाम् ॥ ९ ॥

द्रूणाति । द्रूणीते इत्यादि क्नूञ्वत् ॥

पूञ् पवने ॥ १० ॥

पवनं पूतीकरणं सकर्मकोयम् । तथाच 'पुनात्येवाग्निं, पुनीते आत्मानं' 'कर्षकेण वलजं पुपूषत' इत्यादौ सकर्मकत्वं दृश्यते । पुनाति । पुनीतः । पुनासि । पुनामि । पुनीवः । पुनीते । पुनाते पुनीषे । पुने । पुनीवहे 'प्वादीनां ह्रस्वः' इति शितिपरे ह्रस्वः ॥

पुपाव । पुपुवतुः । पुपविथ । पुपुविव । पुपुवे । पुपुवाते । पुपुविषे । पुपुवे ॥

पविता । पविष्यति पविष्यते ॥

पुनातु, पुनीताम् । पुनीष्व । पुनै ॥ अपुनात् । अपुनीताम् । अपुनाम् । अपुनीव ॥

अपुनीत । अपुनाताम् । अपुनीथाः । अपुनि । अपुनीवहि ॥

पुनीयात् । पुनीयाम् ॥

पुनीत । पुनीयाताम् । पुनीथाः । पुनीय ॥

आशिषि—**पूयात् । पूयास्ताम् । पविषीष्ट ॥**

अपावीत् । अपाविष्टाम् ॥ अपविष्ट ॥

पुपूषति । पुपूषते—उगन्तात्वादनिट्त्वम् ॥

पोपूयते । पोपोति ॥

पावयति । अपीपवत्—'ओः पुयणज्यपरे' इत्यभ्यासस्येत्वम् । 'दीर्घो लघोः' इति दीर्घः ॥

पूत्वा । पूतः । पूना यवाः, विनष्टा इत्यर्थः—'पूञो विनाशे' इति निष्ठानत्वम् ॥

शेषाः कृतः पवतिवत् ॥

लूञ् छेदने ॥ ११ ॥

लुनाति । लुनीते । इत्यादि पुनातिवत् ॥

लवित्रम्—'अर्तिलू' इतीत्रः ॥ **लूत्वा । लूनः**—'ल्वादिभ्यः' इति निष्ठानत्वम् । **लूनिः**—'ऋल्वादिभ्यः क्तिन्निष्ठावत्' इति नत्वम् ॥

लवकः—'प्रसृल्वस्समभिहारे' इति वुन् ॥

अभिलावः—'निरभ्योः पूल्वोः' इति घञ् अपोपवादः ॥

लोत्रम्—करणे ष्ट्रन् ॥

लोतः—'हसिमृग्रिण्वामिदमिलूपूधुर्विभ्यस्तन्' उभयत्र 'तितुत्र' इतीण्निषेधः ॥

स्तॄञ् आच्छादने ॥ १२ ॥

स्तृणाति । स्तृणासि । स्तृणीते । स्तृणीषे । स्तृणे ॥

तस्तार । तस्तरतुः । तस्तरिथ । तस्तरिव । तस्तरे । तस्तरीषे । तस्तरीवहे—'ऋच्छत्यॄताम्' इति गुणः । वृद्धिविषयेतु पूर्वविप्रतिषेधेनवृद्धिः । कृते वा गुणे वृद्धिरित्युक्तम् ॥

स्तरिता, स्तरीता । स्तरिष्यति, स्तरीष्यति । स्तरिष्यते, स्तरीष्यते । अलिटि 'वृतो वा' इति दीर्घविकल्पः ॥

स्तृणातु । स्तृणीहि । स्तृणानि । स्तृणीताम् । स्तृणीष्व । स्तृणै ॥

अस्तृणात् । अस्तृणीताम् । अस्तृणाः । अस्तृणाम् । अस्तृणीत । अस्तृणीयाताम् ॥

स्तृणीयात् । स्तृणीयाताम् । स्तृणीत । स्तृणीथाः । स्तृणीय।

आशिषि—**स्तीर्यात् । स्तीर्यास्ताम् । स्तरिषीष्ट । स्तीर्षीष्ट**—'लिङ्सिचो रात्मनेपदेषु' इतीड्विकल्पः । 'उश्च' इति कित्वं । इट्पक्षे—'वृतः' इत्यस्य 'न लिङि' इति निषेधः ॥

अस्तारीत् । अस्तरिष्टाम्—'सिचि च परस्मैपदेषु' इतीटो न दीर्घः। **अस्तीर्ष्ट । अस्तरीष्ट । अस्तरिष्ट**—लिङ्वदिड्विकल्पः । इटः 'वृतः' इति वा दीर्घः । अनिटि 'उश्च' इति कित्वम् ॥

तिस्तीर्षति । तिस्तरीषति । तिस्तरिषति 'इट् सनि वा' इति वेट् । इटः पूर्ववद्दीर्घः ॥

तास्तीर्यते । तास्तरीति । तास्तर्ति—'ऋतश्च' इति रिगादयः तपरकरणान्न भवन्ति । उरदत्वे 'दीर्घोकितः' इति दीर्घः ॥

स्तारयति । अतस्तरत् । 'अत्स्मृदृत्वर' इत्यभ्यासस्यात्वम् ॥

मणिप्रस्तारः—'प्रेस्त्रोऽयज्ञे' इति घञ् । यज्ञविषयेतु अपि प्रस्तरः ॥

विस्तारः—'प्रथने वावशब्दे' इति घञ् । शब्दविषये तु विस्तरः॥

विष्टारः पङ्क्तिच्छन्दः—'छन्दोनाम्नि च' इत्यपोपवादो घञ् ॥

अवस्तारः—'अवे तॄस्त्रोर्घञ्' इति करणाधिकरणयोर्घञ् ॥

स्तीर्णः । स्तीर्णिः—'ऋल्वादिभ्यः' इति निष्ठानत्वम् ॥

कॄञ् हिंसायाम् ॥ १३ ॥

कृणाति । कृणीते ॥ चकार । चकरतुः । चकरुः इत्यादि स्तॄञ्वत् ॥

वॄञ् वरणे ॥ १४ ॥

वृणाति । वृणीते ॥

ववार । ववरे ॥

वरिता, वरीता । वरिष्यति, वरीष्यति । वरिष्यते, वरीष्यते। वृणातु । वृणीताम् । अवृणात् । अवृणीत । वृणीयात् । वृणीत॥

आशिषि–वूर्यात्—'उदोष्ठ्यपूर्वस्य' इत्यगुणवृद्धिविषये उत्वे रपरत्वे 'हलि च' इति दीर्घः । वरिषीष्ट, वूर्षीष्ट—'लिङ्सिचोरात्मनपदेषु' इतीडभावपक्षे 'उश्च' इति कित्त्वादुत्वादि । इट्पक्षे पूर्ववत् 'न लिङि' इत्यदीर्घत्वम् ॥

अवारीत् । **अवारिष्टाम्** । पूर्ववत् 'वृतः' इति दीर्घस्य 'सिचि च परस्मैपदेषु' इति निषेधः । **अवरिष्ट, अवरीष्ट, अवूर्ष्ट**—'लिङ्सिचोः' इतीड्विकल्पे 'वृतः' इति वा दीर्घः । अनिटि 'उश्च' इति किल्वादुत्वादि ॥

वुवूर्षति । **विवरिषति** । **विवरीषति**—'इट्सनि वा' इतीड्विकल्पे 'वृतः' इति दीर्घविकल्पः । अनिट्त्वे 'इको झल्' इति सनः कित्त्वे उत्वादि ॥

वोवूर्यते । **वावर्ति**—'ऋतश्च' इति तपरनिर्देशान्नारिगादीत्युक्तम् ॥

वारयति । **अवीवरत्** ॥

वूर्णः । **वूर्णवान्** । **वूर्णिः** ॥

धूञ् कंपने ॥ १५ ॥

धुनाति । **धुनीते** ॥

दुधाव । **दुधुवतुः** । **दुधुवुः** । **दुधविथ** । **दुधुविव दुधुवे** । **दुधुविषे** । **दुधुविढ्वे, दुधुविध्वे** । **दुधुविवहे**—'स्वरत्यादिसूत्रेण प्राप्तमार्धधातुकनिबन्धनमिड्विकल्पं पुरस्तात्प्रतिषेधकांडारंभसामर्थ्यात् 'श्रुचकःकिति' इति निषेधो बाधते । तमपि क्रादिनियमो बाधते इति नित्यमिडित्यादि तत्रतत्रोक्तम् ॥

धोता, धविता । **धोष्यति, धविष्यति** । **धोष्यते, धविष्यते**—'स्वरति' इत्यादिना इड्विकल्पः ॥

धुनातु ; **धुनीतात्** । **धुनीताम्** । **अधुनात्** । **अधुनी-**

त । धुनीयात् । धुनीत । आशिषि—धूयात् ; धविषीष्ट, धोषीष्ट ॥

अधावीत् । अधोष्ट ; अधविष्ट—‘स्तुसुधूञ्भ्यः’ इति परस्मैपदे नित्यं सिच इट् ॥

दुधूषति । दुधूषते—‘सनिग्रह गुहोश्च’ इति निषेधः पूर्ववत्प्रतिषेधकाण्डारंभसामर्थ्यात्स्वरत्यादि विकल्पं बाधते ॥

दोधूयते । दोधोति ॥

धूनयति । अदूधुनत्—‘धूञ्प्रीञोः नुक्’ इति नुक् ॥

धूत्वा—‘श्रुचकः किति’ इतीण्निषेधः ॥

धुतम्—‘यस्य विभाषा’ इत्यनिट्त्वम् ॥

धुनोति दुनुते इति स्वादौ । धुवतीति कुटादौ ॥

क्नूञादय उदात्ता उभयतोभाषाः ॥

शॄ हिंसायाम् ॥ १६ ॥

इतो गृणात्यन्ता उदात्ता उदात्तेतः । शृणाति । शृणासि । शृणामि । शशार । शश्रतुः ; शशरतुः । शश्रुः, शशरुः । शशरिथ । शश्र । शशरिव—‘असंयोगाल्लिट्कित्’ इत्यपितो लिटः कित्त्वे ‘शॄदॄप्रां ह्रस्वो वा’ इति ह्रस्वपक्षे यणादेशः । अन्यदा ‘ऋच्छत्यॄताम्’ इति गुणः । अपितो लिटः कित्वेन ‘श्रुचकः किति’ इति प्राप्तस्येण्निषेधस्य क्रादिनियमेन बाधः ॥

शरिता ; शरीता । शरिष्यति ; शरीष्यति ॥

शृणातु ; शृणीतात् । शृणीहि । शृणानि ॥

अशृणात् । अशृणीताम् । अशृणाः । अशृणाम् । अशृणीव । शृणीयात् । शृणीयताम् ॥ आशिषि—**शीर्यात् । शीर्यास्ताम्**—'ऋत इद्धातोः' इतीत्वे रपरत्वादि ॥

अशारीत् । अशारिष्टाम्—'वॄतः' इति दीर्घस्य 'सिचि परस्मैपदेषु' इति निषेधः ॥

शिशरिषति ; शिशीर्षति—'इट्सनि वा' इति पाक्षिकस्येटो 'वॄतः' इति दीर्घः । अनिटि 'इकोझल्' इति सनः कित्वादित्वादि ॥

शेशीर्यते । शाशर्ति ॥

शारयति । अशीशरत् ॥

शारः—वायुः वर्णश्च ॥

नीशारः प्रावरणम्—नेः 'उपसर्गस्य घञि' इति दीर्घः । 'शॄवायुवर्णनिवृतेषु' इति घञ् ॥ निव्रियत इति निवृत्तं प्रावारः ॥

शारुकः—'लषपत' इत्यादिना उकञ् ॥

शरारुः—'शॄवन्द्योरारुः' ॥

किंशारुः सस्यशूकं—'किंजरयोः शृणः' किंशब्दे उपपदे उण् ॥

शरुः—आयुधम्—'शॄस्वृ' इत्यादिनोप्रत्ययः ॥

शरीरम्—'कॄशॄ' इत्यादिना ईरन् ॥

शरत्—'शॄदॄभसोऽदिः' इत्यदिप्रत्ययः ॥

शरदिजः—'प्रावृट्शरत्काल' इत्यलुक् ॥

शरदि भवं श्राद्धं **शारदिकम्**—'श्राद्धे शरदः' इति ठञ् ऋत्वणोपवादः ॥

शारदो रोगः । शारदिको रोगः—'विभाषा रोगातपयोः' इति ठञ् । अन्यथा ऋत्वण् । एवमुपतापोपि ॥

शारदका दर्भाः । शारदका मुद्गाः—'संज्ञायां शरदो वुञ्' इति वुञ् । 'तत्र जातः' इति विषये दर्भविशेषस्य मुद्गविशेषस्य चेयं संज्ञा ॥

परा शृणातीति **परशुः**—'आङ्परयोः खनिशॄभ्यां डिच्च' इत्युप्रत्ययः डित्त्वाट्टिलोपः । बाहुलकादुपसर्गस्य ह्रस्वः ॥

परशवे हितम्, **परशव्यम्**—'उगवादिभ्यः' इति यत् ॥

परशव्यस्य विकारः **पारशवः**—'कंसीयपरशव्ययोर्यञञौ लुक्च' इति अञ् यतो लुक् ॥

आशरः—पचाद्यचि ॥

पराशृणाति पापानीति **पराशरः**—अच् ॥

पाराशर्यः—गर्गादित्वादपत्ये यञ् ॥

पाराशर्येण प्रोक्तं भिक्षुसूत्रमधीयानाः **पाराशरिणः** भिक्षवः–

'पाराशर्यशिलालिभ्यां भिक्षुनटसूत्रयोः' इति तेनप्रोक्तमित्यस्मिन्नर्थे-णिनिः । तदन्तात् 'छन्दो ब्राह्मणानि' इति अध्येतृवेदित्रोरणः प्रोक्ताल्लुगिति लुक् । सूत्रस्यापि छन्दस्त्वं तत्रेष्यते । णिनावल्लोपयलोपौ ॥

पॄ पालनपूरणयोः ॥ १७ ॥

पृणाति । पपार । पप्रतुः । परिता ; परीता । परिष्यति, परीष्यति ॥ पृणातु । अपृणात् ॥ आशिषि—**पूर्यात्**—'उदोष्ठ्यपूर्वस्य' इत्युत्वम् ॥

अपारीत् । अपारिष्टाम् ॥

पिपरिषति, पुपूर्षति—'इट्सनि वा' इतीडभावे 'इकोझल्' इति कित्त्वादुत्वादि ॥

पोपूर्यते । पापर्ति ॥

पारयति । अपीपरत् ॥

पूर्तः । पूर्तवान्—'न ध्याख्या' इति नत्वनिषेधः । 'उदोष्ठ्यपूर्वस्य' इति उत्वे निष्ठानत्वनिषेधवर्जं प्रक्रिया कृणातिवत् ॥

पिपर्तीति श्लौ । पारयति इति णिचि ॥

स्पॄ हिंसायाम् ॥ १८ ॥

स्पृणाति । पस्पार । इत्यादि पृणातिवत् । 'शॄदॄप्राम्'

इति ह्रस्वस्त्वस्य न भवति । निष्ठानत्वं तु भवति—**स्पूर्णः**, **स्पूर्णवान्**—इति ॥

वॄ वरणे ॥ १९ ॥

वृणाति । **ववार** इत्यादि । वॄञ्वत् । तेनैव वृणातीत्यादिसिद्धावपि पुनरस्योपादाने प्रयोजनं दैव उक्तम्—

सिद्धे पदद्वये वॄञो ञित्वाद्यतो न च फले तत्कर्त्रभिप्राये परस्मैपदसिद्धये ॥ इति ॥*

अत्र चाद्यं पवर्गतृतीयादिं बहव इच्छन्तीति पुरुषकारे । तत्राद्यशब्देनाञित्पृणातिरुच्यते । स्वामिशाकटायनावप्येवं पठित्वा हरणार्थमाहतुः ॥

भॄ भर्त्सने ॥ २० ॥

भरणेऽप्येके । **भृणाति** । **बभारे**त्यादि वॄञ्वत् ॥

भरः—' ऋदोरप् ' ॥

भरेण निर्वृत्तं **भरिमम्**—' भावप्रत्ययान्तादिमब्वक्तव्यः ' इतीमप् ॥

मॄ हिंसायाम् ॥ २१ ॥

मृणाति । **ममारे**त्यादि वॄञ्वत् ॥

---

*.........पुनरस्योपादाने न प्रयोजनम् । नैतद्युक्तम् । वॄञो ञित्वात्सिद्धेऽपि पदद्वये यदञितो वचस्तत्कर्त्रभिप्राये क्रियाफले परस्मैपदसिद्धये इति ॥ पाठान्तरम्

म्रियते इति तुदादौ ॥

दॄ विदारणे ॥ २२ ॥

दृणाति । ददार । दद्रतुः, ददरतुः । ददरुः, दद्रुः इत्यादि शृणातिवत् । विशेषस्तु 'अस्तमृद्द' इत्यादिना अभ्यासस्य णौ चङ्यत्वं **अददरत्** इति । अयं घटादिपाठात् मित् भये—दरयति । अन्यत्र—दारयति ॥

दरः—अप् । **दरी**—गौरादित्वान्ङीष् ॥

पुरन्दरः—'पूःसर्वयोर्दारिसहोः' इति खच् ॥

भगन्दरः—'भगे च दारेः' इति वक्तव्यात्खच् । 'खचि ह्रस्वः' इत्युत्तरपदस्य ह्रस्वः ॥

दाराः—'दारजारौ कर्तरि णिलुक्च' इति घञ् णिलुक्च ॥

दरत्—'शॄदॄभसोऽदिः' इत्यदिप्रत्ययः ॥

दृषत्—'दृणातेः षुग्घ्रस्वश्च' इति षुगागमो धातोः ह्रस्वः अदिश्च प्रत्ययः ॥

द्रियते इति तुदादौ ॥

जॄ वयोहानौ ॥ २३ ॥

श्नाविषये **जृणातीत्यादि** । अन्यत्र जीर्यतिवत् । यथा तु भाष्यवृत्तिन्यासपदमञ्जर्यादि तथाऽयं धातुर्नेति प्रतीयते इति जीर्यतावुपपादितम् । आत्रेयमैत्रेयदैवपुरुषकारादिदर्शनादिहास्माभिर्लिखितम् ॥

धॄ इत्येक इतीति मैत्रेयः । धॄणातीत्यादि पूर्ववत् ॥

नॄ नये ॥ २४ ॥

नॄणाति । ननारेत्यादि ॥

नीर्णम् । नीर्णवान् ॥

नरः—पचाद्यच् ॥

ना—'नयतेर्डिच्च' इति नयतेः ऋन्प्रत्ययः स च डित् ॥

नारी—'नृनरयोर्वृद्धिश्च' इति शार्ङ्गरवादिपाठात् ङीन् वृद्धिश्च ॥

कॄ हिंसायाम् ॥ २५ ॥

कॄणाति—इत्यादि कॄञ्वत् । तेनैव सिद्धे पुनः पाठः कर्त्रभिप्राये क्रियाफलेऽपि वृणातिवत्परस्मैपदार्थः ॥

मॄ इत्येके इति मैत्रेयः । एवंवदतोऽस्य पूर्वं मॄणातेः पाठोऽनभिमतः इति प्रतीयते ॥

ऋ गतौ ॥ २६ ॥

ऋणाति । ऋणासि । ऋणामि ॥

अराञ्चकार—'इजादेश्च गुरुमतः' इत्याम् ॥

अरिता, अरीता । अरिष्यति, अरीष्यति ॥

ऋणातु । ऋणीताम् । ऋणीहि । ऋणानि । ऋणीव ॥

आर्णात् । **आर्णीताम्** । **आर्णाः** । **आर्णाम्, आर्णिव** ॥

ऋणीयात् । **ऋणीयाताम्** ॥ आशिषि–**ईर्यात्** । **ईर्यास्ताम्** । इत्वरपरत्वादि ॥

आरीत् । **आरिष्टाम्** इत्यादि—'सिचि च परस्मैपदेषु' इतीटो न दीर्घः ॥

अरिरिषति, अरिरीषति, ईर्षिषति—'इट्सनि वा' इतीड्विकल्पः । इटि गुणः । पूर्ववद्वा दीर्घः । अनिटि सनः कित्वादित्त्वादि । 'नन्द्राः' इति रेफवर्जस्यात्र द्विर्वचनम् ॥

आरयति । **माभवानरिरत्** ॥

ईर्त्वा । **समीर्णः** । **समीर्णवान्**—'उद्योष्ठ्यपूर्वस्य' इत्यत्र प्रत्यासत्त्या अङ्गावयव एवौष्ठ्यो गृह्यत इत्युत्वमत्र न भवति ॥

ऋच्छतीति शपि । इयर्तीति श्लौ ॥

गॄ शब्दे ॥ २७ ॥

गृणाति । **जगारे**त्यादि पूर्ववत्—'अवाद्ग्रः' इति तङस्य न भवति । तथाच भाष्यम्–नचावपूर्वस्य गृणातेः प्रयोगोऽस्तीति । 'समः प्रतिज्ञाने' इत्यत्र पूर्वसूत्रगृहीतस्य अनुवृत्तिरिति संगृणातीत्यत्र तङ्न भवति ॥

होत्रे अनुगृणाति प्रतिगृणाति—'अनुप्रति गृणश्च' इत्यनुपूर्वस्य प्रतिपूर्वस्य च गृणातेः कारकं पूर्वस्याः क्रियायाः कर्तृ-

भूतं संप्रदानमिति होतुस्संप्रदानत्वम् । होता चात्र क्रियायाः शंसने कर्ता भवति । अनुगरः प्रतिगर इति हि शंसितुः प्रोत्साहनमुच्यते । तदयमस्य वाक्यस्यार्थः—प्रथमं शंसितारं होतारमन्यः प्रोत्साहयतीति ॥

जेगिल्यते । जागर्ति । जागीर्तः—'लुपसद' इत्यादावकारविकरणैस्साहचर्यात्तौदादिकस्यैव ग्रहणमिति क्रियासमभिहार एवास्य यङ् । इत्वरपरत्वयोः पूर्वत्रासिद्धमिति पूर्वं 'ग्रो यङि' इति लत्वे रेफाभावान्न 'हलि च' इति दीर्घः । लत्वे हि गिलतिगृणात्योः द्वयोरपि ग्रहणमुक्तम् ॥

तृणातिप्रभृतय उदात्ता उदात्तेतः ॥

ज्या वयोहानौ ॥ २८ ॥

एतदादयो बध्नात्यन्ता अनुदात्ता उदात्तेतः ॥

जिनाति । जिनीतः । जिनासि । जिनामि । जिनीवः—'ग्रहिज्या' इत्यादिना संप्रसारणे परपूर्वत्वे 'हलः' इति दीर्घे प्वादित्वाद्ध्रस्वः ॥

जिज्यौ । जिज्यतुः । जिज्यिथ; जिज्याथ । जिज्यिव—क्रादिनियमादिट् । थलि भारद्वाजनियमाद्विकल्पः । किति परत्वात्पूर्वं संप्रसारणाद्द्विर्वचनम् । अकिति 'लिट्यभ्यासस्योभयेषाम्' इत्यभ्यासस्य संप्रसारणम् ॥

ज्याता । ज्यास्यति । जिनातु । जिनीताम् । जिनीहि । जिनानि । जिनाव ॥

अजिनात् । अजिनीताम् । अजिनाः । अजिनाम् । अजिनीव ॥

जिनीयात् । जिनीयाताम् । जिनीयाः । जिनीयाम् ॥

आशिषि—जीयात् । जीयास्ताम् ॥

अज्यासीत् । अज्यासिष्टाम्—'यमरमनमाताम्' इति सगिटौ॥

जिज्यासति । जेजीयते । जाज्याति । ज्यापयति । अजिज्यपत् ॥

जित्वा । जीनः—'ल्वादिभ्यः' इति निष्ठानत्वम् । 'हल' इति दीर्घः ॥

प्रज्याय—'ज्यश्च' इति ल्यपि संप्रसारणनिषेधः ॥

ज्यानिः—'ग्लाम्लाज्याहाभ्यो निः' इति निः ॥

री गतिरेषणयोः ॥ २९ ॥

रेषणं वृकशब्दः । रिणाति । रिणीतः । रिणासि । रिणामि॥

रिराय । रिर्यतुः । रिरयिथ, रिरेथ, । रिर्यिव । क्रादि-नियमादिट् । थलि भारद्वाजनियमाद्विकल्पः । 'अजादौ 'एरनेकाचः' इति यणोसिद्धत्वात् 'हलि च' 'उपधायां च' इति दीर्घत्वं न भवति॥

रिणातु । रिणीहि । रिणानि । अरीणात् । अरीणीताम् । अरीणाः । अरीणाम् । रीणीयात् । रीणीयाताम् । आशिषि—रीयात् । रीयास्ताम् ॥

अरैषीत् । अरैष्टाम् ॥

रिरीषति । रिरीयते ॥

रेपयति । अरीरिपत्—'अर्तिह्री' इत्यादिना पुक् । शेषं लीयतिवत् ॥

ली श्लेषणे ॥ ३० ॥

लिनाति । लिनातु । अलीनात् । लिनीयात् ॥

लिलौ । लिलाय । लिल्यतुः । लिलयिथ; लिलेथ । लिलियिव—'विभाषा लीयतेः' इत्येज्विषये ल्यपि चात्वविकल्पः। किति लिटचेज्विषयत्वाभावात् नात्वं धातोः ॥

लाता; लेता । इत्यादि सर्वं लीयतिवज्ज्ञेयम् ॥

व्ली वरणे ॥ ३१ ॥

व्लिनाति । व्लिनीतः । व्लिनासि । व्लिनामि ॥

विव्लाय । विव्लियतुः । विव्लेथ; विव्लियिथ । विव्लियिव ॥

व्लेता । व्लेष्यति । व्लिनातु । व्लिनीहि । व्लिनानि । अव्लीनात् । व्लिनीयात् ॥

व्लीयात् । अव्लैषीत् । अव्लैष्टाम् ॥

विव्लीषति । वेव्लीयते ॥

व्लेपयति—'अर्तिह्री' इत्यादिना पुक् । अविव्लिपत् ॥

व्लित्वा । व्लीनः—व्लादित्वान्निष्ठानत्वम् ॥

'प्रहान्यं व्लीनाति । नैनं दक्षिणा व्लीनाति'* इत्यादौ दीर्घश्छान्दसः ॥

प्ली गतौ ॥ ३२ ॥

ओष्ठ्यादिः । **प्लिनातीत्यादि** ब्लिनातिवत् । केचिदमुं दन्त्योष्ठ्यादिं पठन्तो ब्ली वरणे इत्यमुं न पेठुः । मैत्रेयस्तु वरणार्थं पठित्वा अमुं न पपाठ ॥

वृत् ॥

ल्वादिपरिसमाप्त्यर्थोऽयम् । अन्ये तु—प्वादीनामपि परिसमाप्त्यर्थोऽयमिति । तत्रानन्तर्यात् 'ज्ञा जनोर्जा' इति दीर्घनिर्देशाच्च ल्वादिपरिसमप्त्यर्थमेव युक्तम् । 'ज' इति ह्रस्वान्तादेशेऽपि जायते जानातीत्यादौ 'अतो दीर्घो यञि' इति दीर्घे सिद्धे प्वादित्वाज्ज्ञानातीत्यत्र ह्रस्वो मा भूदिति हि दीर्घत्वं पठन्ति । उक्तं चैवं हरदत्तादिभिरपि ॥

व्री वरणे ॥ ३३ ॥

व्रीणाति । **व्रीणीतः** । **व्रीणासि** । **व्रीणामि** ॥

विव्राय । **विव्रियतुः** । **विव्रेथ** । **विव्रियिव** ॥

व्रेता । **व्रेष्यति** । **व्रीणातु** । **व्रीणीतात्** । **व्रीणीहि** । **व्रीणानि** ॥

अव्रीणात् । **अव्रीणीताम्** । **अव्रीणाः** । **अव्रीणाम्** ॥

व्रीणीयात् । आशिषि—**व्रीयात्** । **अव्रैषीत्** । **अव्रैष्टाम्** ॥

* तै. ब्रा. ३-११-८, २-२-५.

विव्रीषति । विव्रीयते । वेव्रेति । व्राययति । अवि-व्रयत् । स्वामिकाश्यपादयो 'आर्तिह्री' इति पठन्तो वेपयतीति पुकं प्रतिपन्नाः ॥

व्रीत्वा । व्रीतः ॥

भ्री भये ॥ ३४ ॥

भरण इत्येके । भ्रीणातीत्यादि व्रीवत् ॥

क्षीष् हिंसायाम् ॥ ३५ ॥

क्षीणाति । चिक्षाय । इत्यादि व्रीवत् ॥

षित्वादङ्—क्षीयः ॥

क्षीतः । क्षीतवान् । 'क्षियोदीर्घात्' इति निष्ठानत्वं ह्रस्वान्तस्य 'निष्ठायामण्यदर्थे' इति कृतदीर्घस्य ॥

क्षयतीति क्षये शपि । क्षियतीति–निवासगत्योः शे । क्षिणोतीत्यादि तनोत्यादौ हिंसायाम् ॥

ज्ञा अवबोधने ॥ ३६ ॥

जानाति । जानीतः । जानन्ति । जानासि । जानामि । जानीवः—'ज्ञा जनोर्जा' इति शित्प्रत्यये जादेशः दीर्घनिर्देशसामर्थ्यात् प्वादीनामिति ह्रस्वो नेति प्ली गतावित्यत्रोक्तम् ॥

जज्ञौ । जज्ञतुः । जज्ञाथ, जज्ञिथ । जज्ञिव—क्रादिनियमादिट् । थलि भारद्वाजनियमाद्विकल्पः ॥

ज्ञाता । ज्ञास्यति । जानातु । जानीहि । जानानि ॥ अजानात् । अजानीताम् । अजानाम् ॥

जानीयात् । आशिषि—**ज्ञायात् । ज्ञायास्ताम् । ज्ञेयात् । ज्ञेयास्ताम्**—'वाऽन्यस्य संयोगादेः' इत्येत्वविकल्पः ॥

अज्ञासीत् । अज्ञासिष्टाम् ॥

शतमपजानीते ; अपलपतीत्यर्थः—'अपह्नवे ज्ञः' इति तङ् । सोपसर्गश्चायमपह्नवे वर्तते ॥

सर्पिषो जानीते, सर्पिषोपायभूतेन प्रवर्तत इत्यर्थः—'अकर्मकाच्च' इति तङ् । 'ज्ञोऽविदर्थस्य करणे' इत्यज्ञानार्थस्य करणे शेषत्वेन विवक्षिते षष्ठी ॥

मात्रा संजानीते, मातरं संजानीते, शतं प्रतिजानीते–'संप्रतिभ्यामनाध्याने' इति तङ् । संपूर्वत्वे 'संज्ञोऽन्यतरस्यां कर्मणि' इति पक्षे तृतीया । आध्यानमुत्कण्ठापूर्वकं स्मरणं ततोऽन्यदनाध्यानम् । आध्याने तु—**मातुस्संज्ञानाति** । 'अधीगर्थ' इति कर्मणि शेषे षष्ठी । अशेषे तु—'संज्ञः' इति द्वितीयातृतीये भवतः—**मातरं संजानाति ; मात्रा सञ्ज्ञानाति** । कृद्योगे तु **मातुः संज्ञानम्** इति कृद्योगलक्षणा षष्ठी परत्वाद्भवति ॥

धर्मं **जानीते**—'अनुपसर्गाज्ज्ञः' इति कर्त्रभिप्राये तङ् । **स्वयं जानाति, जानीते** इति वा—'विभाषोपपदेन प्रतीयमाने' इति कर्त्रभिप्रायत्वे उपपदेन द्योत्ये तङ्विकल्पः ॥

धर्मं जिज्ञासते—'ज्ञाश्रुस्मृदृशां सनः' इति तङ् । सकर्मकार्थमिदम् । अकर्मके तु 'पूर्ववत्सनः' इति तङ्सिद्धः ॥

अनुजिज्ञासति पुत्रम्—'नानोर्ज्ञः' इति तङ्निषेधः । अयं च मद्ध्येऽपवादन्यायेन—'ज्ञाश्रुस्मृदृशाम्' इत्यस्यापवादः । तेन **औषधस्यानु जिज्ञासते** इत्यत्र—'पूर्ववत्सनः' इत्यकर्मकत्वनिबन्धनस्तङ् भवति । औषधेन प्रवर्तितुमिच्छतीत्यर्थः ॥

जाज्ञायते । जाज्ञाति । ज्ञापयति । अजिज्ञपत् । मारणादौ **ज्ञपयति**—घटादित्वान्मित्वम् । प्रपञ्चो घटादावेवावगन्तव्यः ॥

जानातीति **ज्ञः**—'इगुपधज्ञा' इति कः । 'श्याद्व्यध' इति णापवादः । आल्लोपः ॥

पन्थानं प्रजानातीति **पथिप्रज्ञः**—'प्रेदात् ज्ञः' इत्यणोऽपवादः कः॥

प्रज्ञः—'आतश्चोपसर्गे' इत्यङ् ॥

पाणिन्युपज्ञमकालं व्याकरणम् । उपज्ञायते इत्युपज्ञा प्रथमज्ञानम् । पूर्ववदङ् । कालपरिभाषाशून्यं व्याकरणं पाणिनिना प्रथमं ज्ञातमित्यर्थः । 'उपज्ञोपक्रमं तदाद्याचिख्यासायाम्' इत्युपज्ञोपक्रमान्तस्य तत्पुरुषस्य नपुंसकत्वम् । तच्छब्देन उपज्ञोपक्रमयोरर्थः परामृश्यते । तेन यद्युपज्ञेयस्य उपक्रम्यस्य च आदिराख्यातुमिष्यते इत्यर्थः । अत्र च कालपरिभाषाशून्यस्य व्याकरणस्य पाणिनिरादिराख्यातुमिष्यते ॥

ज्ञप्तः । ज्ञपितः—'वादान्त' इति पक्षे णेर्लुक्यनिट्त्वम् ॥

बन्ध बन्धने ॥ ३७ ॥

बध्नाति । **बध्नासि** । **बध्नामि** । किङिति 'अनिदिताम्' इति न लोपः ॥

बबन्ध । **बबन्धतुः** । **बबन्धिथ** । **बबन्ध** । **बबन्धिव**—क्रादिनियमादिट् । थलि भारद्वाजनियमाद्विकल्पः । संयोगान्तत्वाल्लिटः कित्वाभावान्नलोपो न भवति ॥

बन्धा—झषस्तथोरिति धत्वम् । 'झलां जश्झशि' इति पूर्वस्य दत्वम् । तस्य 'झरो झरि' इति वा लोपः ॥

भंत्स्यति—'एकाचः' इति भष्भावः । 'खरि च' इति चर्त्वं तकारः ॥

बध्नातु । **बध्नीताम्** । **बधान**—'हलश्नश्शानज्झौ' इति शानजादेशे हेर्लुक् । **बध्नाव** ॥

अबध्नात् । **अबध्नीताम्** । **अबध्नाः** । **अबध्नीतम्** ॥

बध्नीयात् । आशिषि—**बध्यात्** ॥

अभांत्सीत् । **अबान्धाम्** । **अभांत्सुः**—'वदव्रज' इति वृद्धिः । 'पूर्वत्रासिद्धम्' इति भष्भावात्पूर्वं झलि सिचो लोपः । कृते तस्मिन् प्रत्ययलक्षणेन सादिप्रत्ययमाश्रित्य भष्भावो न भवति; प्रत्ययलक्षणे सिज्लोपस्यासिद्धत्वात् ॥

बिभंत्सति । **बाबध्यते** । **बाबन्धि** । **बन्धयति** । **अबबन्धत्** ॥

चक्रबन्धं बद्धः ; चक्रे बद्ध इत्यर्थः । **अट्टालिकाबन्धं बद्धः** । बन्धविशेषस्य संज्ञैषा । 'अधिकरणे बन्धः' 'संज्ञायाम्' इति च सूत्राभ्यां णमुल्, कषादित्वाद्यथाविद्ध्यनुप्रयोगः ॥

बद्धः—निष्ठा । चक्रे बद्धः **चक्रबद्धः** । दृषदि बद्धः **दृषद्बद्धः**—'सप्तमी' इति योगविभागात्समासः । 'तत्पुरुषे कृति बहुलम्' इत्यलुकः 'नेन्सिद्धबध्नातिषु च' इति निषेधः । चक्रे बन्धः **चक्रबन्धः**। दृषदि बन्धो **दृषद्बन्धः**—'सिद्धशुष्कपक्वबन्धैश्च' इति सप्तमीतत्पुरुषे 'बन्धे च विभाषा' इति हलन्तात्परस्यास्सप्तम्या घञन्ते बन्धशब्दे उपपदे विभाषा अलुक् । पचाद्यजन्ते तु—'नेन् सिद्धबध्नातिषु' इति निषेधो भवति—**चक्रबन्ध** इति । इयं च विभाषा येननाप्राप्तन्यायेन 'नेन् सिद्ध' इति प्रतिषेधं बाधते । परत्वादमूर्धमस्तकादित्येतम् । तेन स्वाङ्गपूर्वपदबन्धान्ते बहुव्रीहावपि लुग्विकल्पो भवति—हस्ते बन्धोऽस्य **हस्तबन्धः** । **हस्ते बन्धः** इति ॥

बधिरः—'इषिमदि' इत्यादिना किरच् ॥

ब्रध्नः—आदित्यः । **बुध्नः**—मूलम् । 'बन्धेर्ब्रधिबुधी च' इति ब्रधिबुधी चादेशौ ॥

बन्धुः—'शृस्तृ' इत्यादिना उप्रत्ययः ॥

कौमुदगन्धीबन्धुः—'बन्धुनि बहुव्रीहौ' इति ष्यङः संप्रसारणे 'हलः' इति दीर्घः ॥

बन्धुरः—'मन्दिवाशि' इति बाहुलकादस्याप्युरच् ॥

अजन्तमध्येऽस्य पाठोऽनिङ्परस्मैपद्यनुरोधात् । ज्यादयोऽनुदात्ताः परस्मैभाषाः ॥

वृङ् संभक्तौ ॥ ३८ ॥

उदात्त आत्मनेपदी

वृणीते । वृणाते । वृणीषे । वृणे । वृणीवहे ॥

वव्रे । ववृषे । ववृढ्वे । वव्रे । ववृवहे । वरिता, वरीता । वरिष्यते, वरीष्यते । वृणीताम् । वृणाताम् । वृणीष्व । अवृणीत । अवृणाताम् । अवृणीथाः । अवृणि । वृणीत । वृणीयाताम् । इत्यादि ॥

वृणोतिवत्प्रक्रियाप्रपञ्चस्ततएवावगतव्यः ॥

वर्या—'अवद्यपण्यवर्या' इति स्त्रियां यति निपात्यते । पुंसि ण्यति—**वार्या** ऋत्विजः इति भवति । वर्येति निपातनमस्येति स्थितम् ॥

वरेण्यः—'वृङ एण्यः' इत्येण्यः ॥

श्रन्थ विमोचनप्रतिहर्षयोः ॥ ३९ ॥

एतदादयः खच्यन्ता उदात्ता उदात्तेतः । विष्णातिस्त्वनिट् ॥ क्लिश्नातिस्तु विकल्पितेट् । इष्णातिश्च वार्तिकमतेन तादौ । **श्रथ्नाति । श्रथ्नासि । श्रथ्नामि । श्रथ्नीव**—'अनिदिताम्' इति नलोपः क्ङिति ॥

शश्राथ । श्रेथतुः । शश्रन्थिथ, श्रेथिथ । श्रेथिव—'श्रन्थिग्रन्थि' इत्यादिना लिटः कित्त्वात् 'अनिदिताम्' इति

नलोपः । अत्र हरदत्तः—'एत्वाभ्यासलोपावत्र वक्तव्यौ' इति । अन्यथा 'असिद्धवदत्र' इति नलोपस्यासिद्धत्वादत एकहल्मध्यगत्वाभावात् न तौ स्याताम् । ये तु श्रन्थ्यादीनां कित्त्वविकल्पमिच्छन्ति तेषां **शश्रन्थतु**रित्याद्यपि । इदं च कित्त्वं पिद्वचनेष्वपीति सुधाकरः। तन्मते—**शश्राथ श्रेथिव शश्रथ शश्राथ** इति च भवति ॥

श्रन्थिता । श्रन्थिष्यते ॥

श्रथ्नातु । श्रथ्नीताम् । श्रथान—'हलश्नश्शानज्झौ' इति 'अतो हेः' इति हेर्लुक् ॥

अश्रथ्नात् । अश्रथ्नीताम् । अश्रथ्नाः । अश्रथ्नाम् ॥

श्रथ्नीयात् । श्रथ्नीयाताम् । आशिषि—**श्रथ्यात् । श्रथ्यास्ताम्** । कित्त्वादनुनासिकलोपः ॥

अश्रन्थीत् । अश्रन्थिष्टाम् ॥

शिश्रन्थिषति । शाश्रथ्यते । शाश्रन्थि ॥

श्रन्थयति । अशश्रन्थत् ॥

कर्मकर्तरि—'णिश्रन्थि' इत्यादिना यक्चिणोर्निषेधात्—**श्रथ्नीते मेखला स्वयमेव । अश्रन्थिष्ट मेखला स्वयमेव** इति भवति ॥

श्रन्थना—'ण्यासश्रन्थो युच्' ॥

प्रश्रथः । हिमश्रथः—'अवोदैधौद्मप्रश्रथहिमश्रथाः' इति निपातनात् घञि नलोपो वृद्ध्यभावश्च ॥

श्रथित्वा, श्रन्थित्वा—'नोपधात्थफान्ताद्वा' इति कित्त्वविकल्पः ॥

श्रन्थते इति शैथिल्ये शपि ॥

मन्थ विलोडने ॥ ४० ॥

अयं द्विकर्मकः । **मथ्नाति** । **ममन्थ** । **ममन्थतुः** इत्यादि श्रथ्नातिवत् ॥ अस्य लिटः कित्त्वं नास्ति । कर्मकर्तरि च यक्चिणौ **मथ्यते** । **अमन्थि** । इति ॥

मथतीति विलोडने । मन्थतीति हिंसासंक्लेशनयोः शपि ॥

ग्रन्थ संदर्भे ॥ ४१ ॥

ग्रथ्नाति इत्यादि सर्वं श्रन्थिवत् । अत्रापि केचित् श्रथ्नातिं पठन्ति । पुनःपाठोऽर्थभेदात् । तथा च ' णिश्रन्थि ' इत्यत्र न्यासे श्रन्थ ग्रन्थसंदर्भे इति चुरादावित्युक्त्वा क्र्यादावपीत्युक्तम् । ' अवोदैधौद्मप्रश्रथहिमश्रथाः ' इत्यत्र तु श्रन्थि विमोचनप्रतिहर्षयोः इति । एवमुभयत्र पदमञ्जर्यामपि । पुरुषकारेऽपि—श्रन्थ विमोचनप्रतिहर्षयोः । अन्ये तु श्रन्थ ग्रन्थसंदर्भे इति क्र्यादौ पठन्ति । तथाच सन्दर्भग्रन्थनक्रियायां श्रन्थिग्रन्थी धातू वर्तेते इति क्षीरस्वामीत्युक्तम् ॥

ग्रन्थिः—इन्प्रत्ययः ॥

कुन्थ संश्लेषणे ॥ ४२ ॥

संक्लेश इत्येके । तथा च दैवम्—

कुथ्नाति कुन्थेत्संक्लेशे इति ॥

कुथ्नाति । **चुकुन्थ** इत्यादि मन्थिवत् ॥

कुथेति दुर्गः । तन्मते **कुथ्नाति** । **चुकोथ** । **कोथितेत्यादि** ॥

कुन्थतीति शपि । कुथ्यतीति पूतीभावे श्यनि ॥

मृद क्षोदे ॥ ४३ ॥

मृद्नाति । मृद्नासि । मृद्नामि । ममर्द । ममृदतुः । ममर्दिथ । ममृद । ममृदिव ॥ मर्दिता । मर्दिष्यति । मृद्नातु । मृदान—हलश्नश्शानच्—मृदानि ॥

अमृद्नात् । **मृद्नीयात्** । आशिषि—**मृद्यात्** । **अमर्दीत्** ॥

मिमर्दिषति । **मरीमृद्यते** । **मरीमर्दीतीत्यादि** ॥

मर्दयति अमीमृदत् । **अममर्दत्**—उरृद्वा ॥

मृत्—क्विप् ॥

मृत्तिका—'मृदस्तिकन्' इति स्वार्थे तिकन् ॥

मृत्सा । **मृत्स्ना**—'सस्नौ प्रशंसायाम्' इति सस्नौ प्रत्ययौ।

मर्दनम् । **मृद्यम्**—'ऋदुपधात्' इति क्यप् ॥

मृदित्वा—'मृडमृद' इति सेटः क्त्वः कित्त्वम् ॥

मृड च ॥ ४४ ॥

मृड सुखे चेति केचित् । मृड सुखने इत्यपरे । मृड्णाति ॥

मृडित्वा—इत्यादि मृद्नातिवत् ॥ श्नः 'ष्टुना ष्टुः' इति ष्टुत्वं णकारः । मृडतीति शे ॥

गुध रोषे ॥ ४५ ॥

गुध्नाति । जुगोध । गुधितेत्यादि मृदिवत् ॥

गुधितः । गुधितवान्—'उदुपधात्' इति निष्ठायां कित्त्वविकल्पो व्यवस्थितविभाषया शब्विकरणानामेवेत्युक्तम् ॥

गुध्यतीति परिवेष्टने दिवादौ ॥

कुष निष्कर्षे ॥ ४६ ॥

निष्कर्षो बहिर्निस्सारणम् । कुष्णाति । कुष्णासि । कुष्णामि । कुष्णीवः—'रषाभ्याम्' इति णत्वम् । चुकोष । चुकोषिथ । चुकोषिव । निष्कोषिता । निष्कोष्ठा । निष्कोषिष्यति, निष्कोक्ष्यति । कुष्णातु । कुषाण । अकुष्णात् । कुष्णीयात् । आशिषि—कुष्यात् ॥

निरकोषीत्, निरकुक्षत्—'निरः कुषः' इति वलाद्यार्धधातुके इड्विकल्पः । अनिष्पूर्वत्वे तु नित्यमिडेव । लुङ्यनिट्पक्षे 'शल इगुपधात्' इति क्सः ॥

निश्चुकुषिषति, निश्चुकोषिषति । निश्चुकुक्षति । पूर्ववदिड्विकल्पः । इटि 'रलो व्युपधात्' इति कित्त्वविकल्पः ॥

कुष्यति पादस्स्वयमेव—'कुषिरञ्जोः प्राचाम्' इति श्यन्परस्मैपदे सार्वधातुके। अन्यत्र कोषिष्यते पादस्स्वयमेव। अकोषि पादस्स्वयमेवेत्यादि ॥

निष्कुषितम्—'इण्निष्ठायाम्' इति नित्यमिट् ॥

कुष्टः—'कुषिहनि' इत्यादिनाक्थन् ॥

कोष्ठम्—'उपिकुषी' इत्यादिना थन् ॥

कुक्षिः—'व्युषिशुषिकुषिभ्यः क्सिः' इति क्सिप्रत्ययः। सर्वत्र 'तितुत्र' इतीण्निषेधः ॥

कौक्षेयकः—'कुलकुक्षिग्रीवाभ्यः श्वास्यलङ्कारेषु' इत्यसावभिधेये शैषिको ढकञ्। अन्यत्र कौक्षेयः—'दृतिकुक्षि' इत्यादिना भवार्थे ढञ् ॥

क्षुभ सञ्चलने ॥ ४७ ॥

क्षुभ्नाति। क्षुभ्नीतः ॥

चुक्षोभ। चुक्षुभतुः। चुक्षोभिथ। चुक्षोभिव ॥

क्षोभिता। क्षोभिष्यति ॥

क्षुभ्नातु। क्षुभान। क्षुभ्नानि ॥

अक्षुभ्नात्। क्षुभीयात्। आशिषि—क्षुभ्यात् ॥

चुक्षुभिषतीत्यादि क्षुभ्यातिवत् ॥

क्षोभत इति भ्वादौ । अक्षुभदिति क्षुभ्यतेः पुषादिपाठात् । 'क्षुभ्नादिषु च' इति णत्वनिषेधो यत्रैतद्रूपं तत्रैवेति क्षोभण इत्यत्र रूपान्तरे न भवति । क्षुभ्नीतः क्षुभन्तीत्यादौ एकदेशविकृतस्यानन्यत्वात् स्थानिवद्भावाद्वा भवत्येव ॥

णभ तुभ हिंसायाम् ॥ ४८-४९ ॥

नभ्नाति । तुभ्नातीत्यादि पूर्ववत् ॥

लुङि—**अनाभीत् । अनभीत्**—'अतो हलादेः' इति वा वृद्धिः ॥

प्रणिनभ्नाति, प्रनिनभ्नाति—'शेषे विभाषा' इति णत्वविकल्पः ॥

नभ्यति तुभ्यतीति पुषादौ । नभते तोभते इति शपि ॥

क्लिशू विबाधने ॥ ५० ॥

क्लिश्नाति । क्लिश्नीतः । क्लिश्नासि । क्लिश्नामि—'शात्' इति श्चुत्वप्रतिषेधः ॥

चिक्लेश । चिक्लिशतुः । चिक्लेशिथ । चिक्लिशिव । चिक्लिशिम ॥

ऊदित्वात् स्वरत्यादिनेड्विकल्पः—**क्लेष्टा । क्लेशिता । क्लेक्ष्यति । क्लेशिष्यति** । अनिटि 'व्रश्च' इत्यादिना षत्वे यथायोगं ष्टुत्वकत्वे ॥

क्लिश्नातु । क्लिशान । क्लिश्नानि । अक्लिश्नात्--क्लिश्नीयात् । आशिषि--क्लिश्यात् । अक्लेशीत् । अक्लेशिष्टाम्—अनिट्पक्षे क्से अक्लिक्षत् ॥

चिक्लेशिषति । चिक्लिक्षति ॥

चेक्लिश्यते ॥

क्लेशयति । अचिक्लिशत् ॥

क्लिशित्वा, क्लिष्ट्वा ॥

क्लिष्टः, क्लिशितः—'क्लिशः क्त्वानिष्ठयोः' इतीड्विकल्पः । क्त्वायां तूदित्त्वाद्वा सेटः क्त्वः 'रलो व्युपधात्' इति निषेधं बाधित्वा 'मृडमृद' इत्यादिना नित्यं कित्त्वम् ॥

क्लिष्टं च तदक्लिशितं च क्लिष्टाक्लिशितम्--'क्तेन नञ्विशिष्टेनानञ्' इति कर्मधारयः ॥

क्लिश्यते इति दिवादौ ॥

अश भोजने ॥ ५१ ॥

अश्नाति । अश्नीतः । अश्नासि ॥ आश । आशिथ । आशिव ॥ अशिता । अशिष्यति ॥ अश्नातु । अशान । आश्नात् । आश्नाताम् । आश्नाम् ॥ अश्नीयात् । आशिषि–अश्यात् ॥ आशीत् । आशिष्टाम् ॥

आशिशिषति ॥

आशाश्यते । आष्टि—'सूचिसूत्रि' इत्यादिना यङ् ॥

आशयति—‘निगरण’ इति नित्यं परस्मैपदम् । **मा भवानशिशत्.**

न भुक्तवान् **अनाश्वान्**—‘उपेयिवाननाश्वान्’ इति नञ्पूर्वादशेः भाषायां भूतसामान्ये लिटः क्वसुः अनिट्त्वं च निपात्यते । इदमेवादेशवचनं भूतसामान्ये लिटः कल्पकम् । सचादेशविषयः । इदं च निपातनमुत्तरत्रानुवृत्तेः लुङ्लङ्लृङ्विषयेऽपि भवति—अस्य चोपपादनं स्वादौ कृतमित्यत एवावगन्तव्यम् ॥

अशनायति, बुभुक्षत इत्यर्थः—‘अशनायोदन्यधनाया’ इत्यादिना बुभुक्षायमित्वापवाद आत्वम् ॥

अश्नीत पिबत इति यस्यां क्रियायां सातत्येनोच्यते सा **अश्नीतपिबता**—मयूरव्यंसकादौ ‘आख्यातमाख्यातेन क्रियासातत्ये’ इति पाठात्समासे टाप् ॥

उ ध्रस उञ्छे ॥ ५२ ॥

ध्रस्नाति । दध्रास । दध्रसिथ । ध्रसिता । ध्रसिष्यति । ध्रस्नातु । ध्रसान । अध्रस्नात् ॥ ध्रस्नीयात् । आशिषि—**ध्रस्यात् ॥ अध्रसीत् , अध्रासीत् ॥**

दिध्रसिषति ॥

दाध्रस्यते । दाध्रस्ते ॥

ध्रासयति । अदिध्रसत् ॥

ध्रसित्वा । ध्रस्त्वा—उदित्त्वादिड्विकल्पः ॥

ध्रस्तम्—'यस्य विभाषा' इत्यनिट्त्वम् ॥

अयं चुरादौ ॥ अत्र क्षीरस्वामी उकारं धात्ववयवमाह । तन्मते **उध्रस्नाति । उध्रसाञ्चकार । औध्रस्नात्** इत्याद्युदाहार्यम् । अनवयवत्वे क्रस्वादिवत् ध्रसु इति ब्रूयादिति तस्याशयः । स एव भूवादौ यदाह—

दरिद्राजागृदीधीङामनेकाच्त्वं चिरेर्जिरेः ।
अदन्तौर्णोतिवेवीङां स्मर्यते णेस्तथोलडेः ॥ *

इति तदुदाहरणप्रदर्शनमात्रपरं न परिगणनपरमिति ॥

इष आभीक्ष्ण्ये ॥ ५३ ॥

पौनःपुन्यं भृशार्थो वा आभीक्ष्ण्यम्, तद्विषयायां क्रियायामित्यर्थः । सा च यथायोग्यम् । तथा च श्रूयते—"पुर इष्णासि पुरुहूत" † इति । अत्र भाष्यम्—'आसुरीणां पुरां हननादिरर्थो गम्यते' इति । **इष्णाति । इष्णीतः ॥ इयेष । ईषतुः । इयेषिथ । ईष । इयेष । ईषिव**—गुणविषये 'अभ्यासस्यासवर्णे' इतीयङ् । अन्यत्र सवर्णदीर्घः ॥

एषिता । एषिष्यति ॥ इष्णातु । इषाण । इष्णानि । ऐष्णात् । ऐष्णीताम् । ऐष्णाः । ऐष्णाम् । इष्णीयात् । अशिषि—**इष्यात् ॥ ऐषीत् । ऐषिष्टाम् ॥**

---

*दरिद्राजागृदेधीङोऽनेकाचश्च चिरिर्जिरिः ।
चकास्त्यूर्णोतिवेवीङस्स्मर्यन्ते णौ तथोलडि ॥
इति मुद्रितकोशे. † ऋक्सं. १—६३—२

एषिषिषति——परत्वाद्गुणे द्वितीयस्यैकाचो द्विर्वचनम् ॥

एषयति । मा भवानिषिषत् ॥ ओणेः ऋदित्करणात्कृते ह्रस्वे द्विर्वचनमिति तत्रतत्रोक्तम् ॥

इषित्वा । इषितः——'तीषसह' इतीड्विकल्पस्तौदादिकस्यैव न दैवादिकक्रैयादिकयोः । एतदर्थमेव तौदादिकमुदितं पठित्वा सूत्रेऽपि तमनुकुर्वन्तीति वृत्तौ स्थितम् । अनुदित्पाठिनां तौदादिकस्यैव ग्रहणे तु हरदत्तेनाकारमात्रविकरणेन सहिना साहचर्यमुक्तम् । एवं वर्धमानसम्मताकारतरङ्गिणीकारादयश्च तौदादिकस्यैव 'तीषसह' इत्यत्र ग्रहणमाहुः । काश्यपस्तु 'इषेस्तकारे श्यन्प्रत्ययात्प्रतिषेधः' इति वार्तिकप्रामाण्यादश्यन्विकरणयोः तौदादिकक्रैयादिकयोरपीड्विकल्पमाह । हरदत्तोपि——यथा तु वार्तिकं तथा क्रैयादिकस्याप्यत्र ग्रहणमिष्यते । एवं च तौदादिकस्योदित्त्वं वार्तिकविरुद्धम् । उक्तं च तत्र कैयटे पाठद्वयं प्रस्तुत्य तत्र वार्तिककारस्य मते त्रयो विषया निरनुबन्धकाः इति 'तीषसह' इत्यत्र पाठस्तौदादिकस्येषेरितीति ॥

विष विप्रयोगे ॥ ५४ ॥

अनिट्कारिकायां विषिग्रहणेन जौहोत्यादिकोऽयं च गृह्यत इति न्यासे।

विष्णाति ॥ विवेष । विवेषिथ । विविषिव——क्रादिनियमादिट् ॥

विष्णातु । विषाण । विष्णानि । अविष्णात् । विष्णीयात् । वेष्टेत्यादि इषिवत् ॥

प्रुष प्लुष स्नेहन सेवन सेचनेषु॥५५–५६॥

प्रुष्णाति । पुप्रोष । पुप्रोषिथ । पुप्रोषिव ॥ प्रोषिता । प्रोषिष्यति । प्रुष्णातु । प्रुषाण । प्रुष्णानि ॥ अप्रुष्णात् । प्रुष्णीयात् । आशिषि—प्रुष्यात् । अप्रोषीत् ॥

पुप्रुषिषति, पुप्रोषिषति ॥

पोप्रोष्यते । पोप्रोष्टि ॥

प्रोषयति । अपुप्रुषत् ॥

प्रुषित्वा, प्रोषित्वा । एवं प्लुष्णातीत्यादि ॥

प्रुष्टः । प्लुष्टः इति भौवादिकयोर्दाहार्थयोः । प्लुषिस्तु दिवादौ पुषादौ च ॥

पुष पुष्टौ ॥ ५७ ॥

पुष्णाति । पुष्णीतः ॥ पुपोष । पुपोषिथ । पोषिता इत्यादि प्रोषतिवत् ॥

पुष्यतीत्यनिट् पुषादौ । पुषतीति पूष वृद्धौ इत्यस्य शपि ॥

मुष स्तेये ॥ ५८ ॥

मुष्णातीत्यादि पूर्ववत् । अयं द्विकर्मक इत्युक्तम् । तन्निबन्धनानि च कार्याणि तत्रतत्रोक्तानीतीह न प्रतायन्ते ॥

मुषित्वा । मुमुषिषति—'रुदविदमुष' इति क्त्वासनोर्नित्यं कित्वम् । 'रलो व्युपधात्' इति विकल्पापवादः ॥

खच भूतप्रादुर्भावे ॥ ५९ ॥

भूतप्रादुर्भावोऽतिक्रान्तोत्पत्तिः । खच्ञाति—नस्य श्चुत्वेन ञकारः ॥

चखाच । चखचिथ । चखचिव ॥ खचिता । खचिष्यति । खच्ञातु । खचान । खच्ञानि । अखच्ञात् । अखच्ञीयात् । खच्यात् ॥

अखचीत्, अखाचीत्—'अतो हलादेः' इति वा वृद्धिः ॥

चिखचिषति ॥

चाखच्यते । चाखचीति । चाखक्ति ॥

खाचयति । अचीखचत् ॥

खचित्वा । खचितः ॥

खव इत्येके इति मैत्रेयः । स्वाम्यपि खच्ञातीत्युक्त्वा खौनातीति सभ्या इति ॥

खौनाति । खौनातु । खौनीहि—अनुनासिकादावूठ् । हौ तु श्नः शानचः पूर्वं परत्वादूठि पश्चाद्धलन्तत्वाभावान्न शानच् ॥

अखौनात् । खौनीयात् । आशिषि—खव्यात् । शेषं खचिवत् ॥ क्वचित् हेठ इति पठ्यते । हेठ्नातीत्यादि ॥

हेठ विबाधायामिति शपि ॥

श्रन्थादय उदात्ताः पिषिवर्जम् । क्लिशिस्तु विभाषितेट् । इषिरपि तकारादौ वार्तिकमतेन । सर्वे परस्मैपदिनः ॥

ग्रह उपादाने ॥ ६० ॥

उदात्तः स्वरितेत् । गृह्णाति । गृह्णीतः । गृह्णन्ति । गृह्णासि-गृह्णामि—'ग्रहिज्या' इत्यादिना संप्रसारणं क्ङितोः ॥

गृह्णीते । गृह्णाते । गृह्णीषे । गृह्णे । गृह्णीवहे ॥

जग्राह । जगृहतुः । जग्रहिथ । जगृहथुः । जगृह । जग्राह । जग्रह । जगृहिव । जगृहे । जगृहाते । जगृहिषे । जगृहिढ्वे । जगृहिध्वे । जागृहिवहे ॥

ग्रहीता । ग्रहीष्यति । ग्रहीष्यते । 'ग्रहोऽलिटि दीर्घः' इतीटो दीर्घः ॥

गृह्णातु । गृहाण । गृह्णानि । गृह्णीताम् । गृह्णाताम् । गृह्णीष्व । गृह्णै ॥ अगृह्णात् । अगृह्णन् । अगृह्णीत् । अगृह्णाताम् । अगृह्णीथाः ॥ गृह्णीयात् । गृह्णीयाम् । गृह्णीत । गृह्णीयाताम् । गृह्णीरन् । आशिषि—गृह्यात् । गृह्यास्ताम् । ग्रहीषीष्ट । ग्रहीषीयास्ताम् । अग्रहीत् । अग्रहीष्टाम्—'ह्यचन्त' इति न वृद्धिः । अग्रहिष्ट । अग्रहिषाताम् ॥

जिघृक्षति । जिघृक्षते । 'सनि ग्रहगुहोश्च' इतीण्निषेधः' 'रुदविदमुषग्रहि' इति सनः कित्त्वात्संप्रसारणम् । ढत्वभष्भावकत्वषत्वानि ॥

जरीगृह्यते । यङि संप्रसारणे द्विर्वचने 'रीगृत्वतः' इत्यभ्यासस्य रीक् ॥

जाग्राढि—यङो लुका लुप्तत्वान्न संप्रसारणम् । ढत्वधत्वष्टुत्वथलोपदीर्घाः । **जागृढः** । ढत्वादि दीर्घवर्जम् । तत्र हि पूर्वाणो ग्रहणम् । संप्रसारणं त्वपित्सार्वधातुकापेक्षम् । **जाग्रहीति** अझल्परत्वान्न ढत्वम् । **जाघृक्षि**—ढत्वभष्भावकत्वषत्वानि ॥

जागृढः । **जागृह्वः** ॥

जाग्रहाञ्चकार । **जाग्रहीता** । **जाग्रहीष्यति**—'ग्रहोऽलिटि' इत्यत्र गृह्णातेर्यद्विहितमार्धधातुकं तस्य य इट् इति विहितविशेषणत्वेऽपि द्विःप्रयोगरूपत्वाद्विर्वचनस्य द्विरुक्तोपि स एव ग्रहिरिति दीर्घो भवति । विहितविशेषणाङ्गीकारस्य प्रयोजनं जरिगृह्यशब्दाद्वलाद्यार्धधातुके इटयल्लोपयलोपयोः **जरिगृहिता** इत्यादौ दीर्घनिवृत्तिः । अत्र च न ग्रहेर्विहितमार्धधातुकं किं तर्हि यङन्तात् ॥

जाग्राढु । **जागृढाम्** । **जागृढि** । अत्र हेरपित्त्वात् ङित्वात्संप्रसारणादौ ढत्वादि ॥

अजाग्रट् । **अजागृढाम्** । **अजागृहुः** । **अजाग्रहम्** । **अजाग्रट्** । तिप्सिपोर्हल्ङ्यादिलोपे पदान्तत्वात् ढत्वभष्भावयोः जश्त्वचर्त्वे ॥

जागृह्यात् । **जागृह्यताम्** । **जागृह्यास्ताम्** ।

अजाग्रहीत् । **अजाग्रहीः** । 'स्यसिच्सीयुट्' इत्यादिना चिण्वदिटि **ग्राहिष्यते** इत्यादि । 'ग्रहोऽलिटि दीर्घः' प्रकृतस्येट इतीह न भवति ॥

प्रगृह्यं पदम्, यस्य प्रगृह्यसंज्ञा विधीयते ॥

गृह्यकाः शकुनयः—अस्वतन्त्रा इत्यर्थः ॥

ग्रामगृह्या चण्डालवाटिका—ग्रामाद्बहिर्भूतेत्यर्थः ॥

अर्जुनगृह्यः—अर्जुनपक्षच इत्यर्थः । 'पदास्वैरिबाह्यापक्ष्येषु च' इति क्यप् । 'बाह्या' इति स्त्रीलिङ्गनिर्देशो लिङ्गान्तरे मा भूदिति । तेन ग्रामग्राह्यश्चण्डाल इत्यत्र ण्यदेव भवति ॥

गृह्यका—इत्यत्रानुकम्पायां कन् ॥

पाणिगृहीती—'पाणिगृहीती' इति ङीष् ॥

ग्राही—'नन्दिग्रहि' इत्यादिना णिनिः ॥

ग्राहः । ग्रहः—'विभाषा ग्रहः' इति कर्तरि वा णः । अन्यदा अच् । व्यवस्थितविभाषाविज्ञानात् जलचरे **ग्राहः** ज्योतिषि **ग्रहः** ॥

गृह्णात्युपादत्ते धान्यादिकमिति **गृहं** गेहम्—'गेहे कः' इति ग्रहेर्धातोः गेहे कर्तरि के संप्रसारणम् । यदाऽयं तात्स्थ्याद्दारवचनः तदा स्वभावात् पुल्लिङ्गो बहुवचनान्तश्च ॥

शक्तिं गृह्णाति **शक्तिग्रहः** । अच्प्रकरणे–'शक्तिलाङ्गलाङ्कुशयष्टितोमरघटघटीधनुष्षु ग्रहेरुपसङ्ख्यानम्' इत्यच् । अणोऽपवादः । एवं **लाङ्गलग्रहः** इत्यादि ॥

सूत्रं धारयतीति **सूत्रग्रहः**–'सूत्रे च धार्यर्थे' इति धारयत्यर्थाद्ग्रहेरच् ॥

फलेग्रहिः–अवन्ध्यो वृक्षः इति नैघण्टुकाः । 'फलेग्रहिरात्मंभरिश्च' इतीन्प्रत्यये उपपदस्यैकारान्तत्वं निपात्यते । भट्टिकाव्ये तु फलग्राहिमात्रे प्रयुज्यते—"फलेग्रहीन् हंसि वनस्पतीनाम्" इति ॥

उद्ग्राहः । 'उदि ग्रहः' इति घञ् 'ग्रहवृदृनिश्चिगमश्च' इत्यपोपवादः ॥

सङ्ग्राहः मल्लस्य अङ्गुलिसन्निवेशस्य दार्ढ्यमित्यर्थः । ‘ समिमुष्टौ ’ इति घञ् अपोऽपवादः पूर्ववत् । मुष्टाविति । मुष्टिविषयश्चेद्धात्वर्थः इति सूत्रार्थः ॥

अवग्राहो हन्त ते वृषल भूयात् । एवं **निग्राहः** । ‘आक्रोशे वन्योर्ग्रहः ’ इति घञ् पूर्ववदपोऽपवादः । आक्रोशः शपनम् । अन्यत्र **अवग्रहः** पदस्य । **निग्रहः** चोरस्य–‘ग्रहवृदनिश्चि’ इत्यप् ॥

पात्रप्रग्राहेण चरति भिक्षुः–लिप्सुः पात्रं गृहीत्वा चरतीत्यर्थः । ‘प्रे लिप्सायाम् ’ इति घञ् लिप्सायां गम्यायाम् ॥

परिग्राहो वेद्याः—‘ परौयज्ञे ’ इति घञ् । अन्यत्र—**परिग्रहो** धनस्य । पूर्ववदप् ॥

अवग्रहो देवस्य, **अवग्राहः** इति वा । ‘ अवे ग्रहो वर्षप्रतिबन्धे ’ इति घञपौ वर्षस्य प्रतिबन्ध इत्यर्थः ॥

तुलाप्रग्राहः । **तुलाप्रग्रहः**—तुलासूत्रमित्यर्थः । ‘ प्रे वणिजाम् ’ इति वा घञ् । वणिजां इत्यनेन तुलासूत्रं लक्ष्यते तेषां तेन संबन्धात् न तु वणिजस्तन्त्रमिति वृत्त्यादौ स्थितम् ॥

प्रग्रहोऽश्वादेः, **प्रग्राहः** इति वा । ‘ रश्मौ च ’ इति वा घञ् । अश्वादीनां नियमनार्था रज्जुरिह रश्मिशब्देनोच्यते ॥

जीवग्राहं गृह्णाति—‘समूलाकृतजीवेषु हन् कृञ् ग्रहः’ इति जीवशब्दे कर्मण्युपपदे ग्रहेर्णमुल् । कषादित्वात् यथाविध्यनुप्रयोगः जीवन्तं गृह्णातीत्यर्थः ॥

हस्तग्राहं गृह्णाति । पाणिग्राहं गृह्णाति । हस्तेन गृह्णातीत्यर्थः । 'हस्ते वर्तिग्रहोः' इति करणवाचिनि हस्तार्थे उपपदे णमुल् । पूर्ववदनुप्रयोगः ॥

नामग्राहमाह्वयति, नाम गृहीत्वाऽऽह्वयतीत्यर्थः । 'नाम्न्या दिशिग्रहोः' इति कर्मणि नाम्न्युपपदे णमुल् । तृतीयाप्रभृतित्वात्समासविकल्पः । धातुसंबन्धाधिकारादनुप्रयोगः । वासरूपेण क्त्वाऽप्यभ्यनुज्ञायते इति **नाम गृहीत्वेति** भवति ॥

गृहू ग्रहणे इति शपि । कुत्सायां गर्हते इति शपि । शप्येव गर्हते इति ॥

इति पूर्वदक्षिणपश्चिमसमुद्राधीश्वरकम्पराजसुतसङ्गममहाराजमहामन्त्रिणा मायणसुतेन माधवसहोदरेण सायणाचार्येण विरचितायां माधवीयायां धातुवृत्तौ क्र्यादयस्संपूर्णाः ॥

अथ चुरादयः ॥

चुर स्तेये ॥ १ ॥

अकार उच्चारणार्थः । प्रयोजनान्तराभावादिति । न च तङर्थोऽनुदात्त इत्सचात् । 'सत्यापपाश' इत्यादिना चुरादिभ्यः स्वार्थे णिचो विधानात् अणिचः प्रयोगाभावात् । तथाच काश्यपः—कार्याभावादेकश्रुत्या च पठ्यत * इति । अत्राभरणे—'घुषिर् अविशब्दने' इति ज्ञापकादक्रियमाणेऽपि वाग्रहणे चुरादिभ्यो णिज्वेत्युक्तम् । 'अत एकहल्' इत्यत्र वृत्तौ 'जगणतुः जगणुः' इति प्रत्युदाहरणसंधानार्थमनित्यण्यन्ताश्चुरादयः इति न्यासकारेणाभिधानात् इदं ज्ञापकं सामान्यापेक्षं चेत्युक्त्वा 'आधृषाद्वा' इति गणकारवचनं चानुवाद इत्युक्तम् । ज्ञापकस्वरूपमस्माभिर्घुषतौ लिखितमिति नेह प्रदर्शितम् । तत्र ज्ञापकस्य सामान्यापेक्षत्वं कैयटविरुद्धम् । यदाह—'णेरणौ' इत्यत्र 'गणयति गणं' इति भाष्यव्याख्याने—नित्यत्वाण्णिचः केवलानां चुरादीनां प्रयोगाभावादिति । भाष्यविरुद्धं च । तथा हि । "किमर्थमविशब्दने इत्युच्यते । न विशब्दने घुषेर्णिचा भवितव्यम् । एवं तर्हि सिद्धे सति यदविशब्दनग्रहणं करोति तज्ज्ञापयत्याचार्यो विशब्दने घुषेर्विभाषाणिज्भवतीति । किमेतस्य ज्ञापने प्रयोजनं 'महीपालवचः श्रुत्वा जुघुषुः पुष्यमालवाः' † इत्येष

---

* श्रुत्या पठते इति पाठान्तरम्.

† क्षत्रमालवा इति मुद्रितधातुवृत्तिकोशपाठः पुष्यमाणवा इति मुद्रितभाष्यपाठः.

प्रयोग उपपन्नो भवति" इति विशिष्टविषयत्वेनाभिधानात् । 'ऋदुपधाच्चाक्लृपिचृतेः' इत्यत्र 'अनित्यण्यन्ताश्चुरादयः' इति सामान्येन यदुक्तं पदमञ्जर्यां तदपि मतान्तरापेक्षम् । न तु स्वमतम् । यद्वक्ष्यति—'घुषिर् अविशब्दने' इत्यत्र घुषिविषयमेव ज्ञापकमुक्त्वा "अन्ये त्वाहुः अनित्यण्यन्ताश्चुरादय इति सामान्येन ज्ञाप्यत इति" इति। याऽपि 'ऋदुपधाच्च' इत्यादौ 'अनित्यण्यन्ताश्चुरादयः' इति न्यासकृतः सामान्योक्तिः साऽपि येषां लिङ्गेन वचनेन वा णिज्विकल्पः तन्मात्रविषयैव । तथा च णेरणावित्यत्र तेनैवोक्तम्—'चौरादिकानामपि अनित्यण्यन्तत्वात् विभाषितणिचां केषांचिद्विद्यमानत्वात्' इति । "यस्मात् णेः प्राक्कर्म कर्ता वा विद्यते न चैतस्माण्णेः प्राक्कर्म कर्ता वा विद्यते" इति गणेर्नित्यण्यन्तत्वाभिधानं च विरुध्येत । तथा जगणतुरिति प्रत्युदाहरणे पदमञ्जर्यामपि—"चुरादित्वादत्र णिच्प्राप्नोति यदि नेष्यते अनित्यण्यन्ताश्चुरादयः" इति यदिना ह्यपरितोषः सूच्यते । अपरितोषश्च पूर्वोक्तो भाष्यविरोधः । तदेवं नित्ये णिचि—

"स्वरितेत्सचाद्ग्रहिः ऋचादौ लक्षिश्चैकश्चुरादिषु ॥

इति वचनात् लक्षेः स्वरितेत्त्वाल्लिङ्गादन्येभ्यश्चुरादिभ्यो 'णिचश्च' इति कर्त्रभिप्रायेऽपि तङ्ङित्युक्त्वा चन्द्रस्त्वत्राप्युभयपदित्वमास्थित । णिज्विकल्पं च" इत्याह स्वामी । एवं देवो नन्दी चाहतुः । मैत्रेयस्तु स्वरितेत्त्वमस्य नेच्छति । यदाह–'स्वरितेत्त्वमस्य कश्चित्प्रतिपद्यते' इति । 'णिचश्च' इत्यत्र हरदत्तोऽपि लक्षेः स्वरितेत्त्वं प्रस्तुत्याह—नात्राप्तभाषितमस्ति । पारायणेऽपि चुरादिणिच आत्मनेपदमुदाहृतमिति । एवं च लक्षञिति पठित्वा "ञित्करणादन्येभ्यश्चुरादिभ्यो 'णिचश्च' इति तङ्विकल्पो न भवति" इति श्रीभद्रवचनमपि प्रत्युक्तम् । प्रक्रियारत्ने पि "चिन्तेरिदित्त्वात् ज्ञापकाच्चुरादिणिचोऽनित्यत्वात् चट स्फुट भेदने इत्यादौ चट-

तीत्याद्यपि यथादृष्टं द्रष्टव्यं " इत्येकीयमतमुक्त्वा " तद्भाष्योक्तज्ञापकविरुद्धम् । एवं हि घुषिरविशब्दने इत्यण्यन्तस्य सम्भवात्तद्व्यावृत्त्यर्था अविशब्दनोक्तिः कथं ज्ञापिका स्यत् " इति तन्मतं दूषितम् । तस्माद्यत्र लिङ्गं वचनं चास्ति तत्र विकल्प इति सिद्धमिति । वचनं स्पष्टम् । लिङ्गमपि तत्रतत्र धातावुपदर्शयिष्यते । यत्तु जगणतुः जगणुः इति लिङ्गवचनयोरभावेऽप्यण्यन्तस्य प्रत्युदारणं 'अत एकहल् ' इत्यत्र वृत्तौ तत् " अनित्यण्यन्ताः " इति सामान्यवादिमतापेक्षया, न तु सिद्धान्तबुद्ध्या ।

चोरयति । चोरयतः । चोरयन्ति । चोरयसि । चोरयथः । चोरयथ । चोरयामि । चोरयावः । चोरयामः । चोरयते । चोरयेते । चोरयन्ते । चोरयसे । चोरयेथे । चोरयध्वे । चोरये । चोरयावहे । चोरयामहे ॥

चोरयांचकार । चोरयांचक्रे । चोरयामास । चोरयां बभूव । प्रत्ययान्तत्वादाम्प्रत्ययः । 'अयामन्त' इति णेरयादेशः ॥

चोरयिता । चोरयिष्यति । चोरयिष्यते । चोरयतु, चोरयताम् । अचोरयत् । अचोरयत । चोरयेत् । चोरयेत । चोर्यात्— 'णेरनिटि ' इति णिलोपः **। चोरयिषीष्ट । अचूचुरत् । अचूचुरत ।** 'णिश्रि' इत्यादिना चङ् ॥

शत्रादिकार्यं भवतिवत् नेयम् ॥

चुचोरयिषति । चुचोरयिषते—चिण्वदिटि तस्यासिद्धत्वात् "णेरनिटि " इति णिलोपे **चोरिष्यते ।** । **अचोरिषाताम्** । 'एकवचने चिण्' इति चिण्वद्भावः **अचोरि । चोरिषीष्ट । चोरिता** इति भवति ॥

चोरः—पचाद्यच् ॥

चौरः—प्रज्ञादित्वात् स्वार्थेऽण् ॥

चोरणा—'ण्यासश्रन्थः' इति युच् ॥

चुरा—छत्रादिपाठात् अकारप्रत्ययः गुणाभावश्च ॥

चुरा शीलमस्याः **चौरी**—'छत्रादिभ्यो णः' इति णेऽपि "णेऽपि क्वचिदण्कृतं" इति ङीप् । एतच्च करोतावुपपादितम् ॥

चिति स्मृत्याम् ॥ २ ॥

इदित्त्वान्नुम् । **चिन्तयति** इत्यादि ॥

चिन्ता—'चिन्तिपूजि' इत्यादिना अङ्प्रत्ययः । अत्र मैत्रेयःअकारे विधातव्ये अङो विधानं गुणाभावार्थम् । तत्सामर्थ्यात् कदाचित्[1] णिलोपो नास्तीति तत्र **चिन्तिया** इतीयङुदाहर्तव्यः । चिन्त स्मृत्यां इति सानुषङ्ग एव पठितव्ये इदित्पाठान्नलोपाभावार्थादस्य णिच् पाक्षिकः । नित्ये हि णिचि तस्य स्थानिवद्भावाद्व्यवधानान्न क्वापि कित्परत्वमिति चिन्तेत्यादौ नलोपाप्रसङ्गः । तेन **चिन्तति** । **चिचिन्त** । **चिन्तिता** इत्याद्यपि भवति । एवमन्यत्रापीदित्त्वं णिज्विकल्पार्थं द्रष्टव्यम्॥

चेततीति शपि संज्ञाने । चेतयते इत्याकुस्मयिः ॥

यत्रि संकोचने ॥ ३ ॥

यन्त्रयति ॥

यन्त्रणा । **यन्त्रितः** ॥

अत्रापि पूर्ववदिदित्करणात् **यन्त्रति** इत्याद्यपि भवति । अत्राभरणे—

---

[1] क्वचित्.

यन्तृ इति पठित्वा ऋकारो ‘नाग्लोपि’ इति विशेषणार्थ इत्युक्तम् । अयं पाठः चिरन्तनव्याख्यानेषु न दृश्यते । प्रत्युत यन्त्रणादिशब्दमस्मादेव मैत्रेयादयो व्युदपादयन् । अनेकविकरणविवरणे दैवे तद्व्याख्याने पुरुषकारे वा प्रयत्नार्थनिकारार्थवत्संकोचार्थो नोपादीयत इति तस्य मूलं मृग्यम् ॥

स्फुडि परिहासे ॥ ४ ॥

स्फुण्डयति । **स्फुण्डति** इत्यादि । स्फुटीति प्रथमान्तं केचित्पठन्ति । तस्यार्थः परिहास इति दुर्गः । तत्र स्फुण्टयति । स्फुण्टतीत्यादि ॥

लक्ष दर्शनाङ्कनयोः ॥ ५ ॥

लक्षयति इत्यादि ॥

लक्षयतीति **लक्ष्मीः**—‘लक्षेर्मुट् च’ इतीकारप्रत्ययो मुडागमश्च ॥

लक्ष्मीवान् **लक्ष्मणः**—‘लक्ष्म्या अच्च’ इति मत्वर्थीयो नकारप्रत्ययः, ईकारस्य चाकारः ॥

लक्ष्यम् । **लक्षणम्** । अचो यति ल्युटि च णेर्लोपः ॥

लक्ष्यमधीते वेद वा **लाक्ष्यिकः** । **लाक्षणीकोऽप्येवम्** । उक्थादौ—‘लक्ष्यलक्षण’ इति पाठाट्ठक् ॥

शम लक्ष आलोचने इत्याकुस्मीयोऽग्रे भविष्यति ॥

कुद्रि अनृतभाषणे ॥ ६ ॥

कुन्द्रयति । **अचुकुन्द्रत्** । **कुन्द्रतु** इत्यादि ॥

अत्र स्वामी—ऋदिदित्येके इति । तत्र कोदयति इत्यादि । ऋदित्फलं तु अचुकोदत् इत्यत्र ह्रस्वनिवृत्तिः ॥

लड उपसेवायाम् ॥ ७ ॥

लाडयति इत्यादि ॥

लडतीति विलासे शपि ॥

मिदि स्नेहने ॥ ८ ॥

मिन्दयति । मिन्दति इत्यादि ॥

अत्र क्षीरस्वाम्यनिदितं पठित्वा कैश्चिदिदित् पठ्यते इत्याह। तथा कौशिकोऽप्यनिदितं पपाठ ॥

स्नेहने मेदते मेद्यति इति शप्श्यनोः । ऋदितोपि शपि मेधाहिंसनयोः मेदते ॥

ओलडि उत्क्षेपणे ॥ ९ ॥

ओलण्डयति । ओलण्डति । ओलिलण्डयिषति । अजादित्वात् द्वितीयस्यैकाचो द्विर्वचनम् । अत्र स्वामिकाश्यपसंमताकाराः केचिदोदितं पठन्ति तेषां मते लण्डयति, लण्डतीति । अपरे तूकारादिं पठन्ति । तदोकारं धात्ववयवमुदाहरतां मैत्रेयादीनां इत्संज्ञकत्वमभिदधतामन्येषां च सर्वेषामनभिमतम् ॥

जल अपवारणे ॥ १० ॥

जालयति इत्यादि । नन्दिसंमताकारावाद्यन्तौ विपर्यस्य पठतो लज

इति । तन्मा भूदिति मैत्रेयो जालं इत्युदाजहार ॥

पीड अवगाहने ॥ ११ ॥

पीडयति । अपीपिडत्, अपिपीडत्—'भ्राजभास' इत्यादिना णौ चङ्युपधाह्रस्वविकल्पः ॥

पीडा—भिदादिपाठादङ् ॥

पाणावुपपीडं धारयति, पाण्युपपीडं धारयति, पाणिनोपपीडमिति वा—'सप्तम्यां चोपपीड' इति सप्तमीतृतीयान्तयोर्णमुल्, तृतीयाप्रभृतित्वात् समासविकल्पः ॥

धनुररिभिरसह्यं मुष्टिपीडं दधानः ॥

इति वदन् भट्टिकारः उपोपसर्गग्रहणमतन्त्रं मन्यते ॥

नट अवस्पन्दने ॥ १२ ॥

अवस्पन्दनं नाट्यम् । नाट्य इत्येव चन्द्रः । **चौरस्योन्नाटयति**—'जासिनिप्रहण' इति कर्मणि शेषे षष्ठी । अनेकार्थत्वाद्धिंसार्थत्वमुत्पूर्वस्य । जास्यादीनां विकृतनिर्देशात् णौ चङि ह्रस्वे नायं विधिरित्युक्तं न्यासे । तत्फलं **चोरमनीनटत्** इत्यत्र षष्ठ्यभावः । अयं पक्षो भ्वादौ दूषितः ॥

श्रथ प्रयत्ने ॥ १३ ॥

प्रस्थान* इति मैत्रेयः । प्रतिहर्षे† इति बहवः । **श्राथयति** ॥

क्रथिमपि केचिदत्र पठन्ति । स मैत्रेयादौ न दृश्यते । तथा क्रथ-

---

*प्रश्याने. †अतिहर्षे.

क्रथौ हिंसायां, क्राथयेत् । क्रथेते । क्रथेते इति घटादौ युजादौ च पठता देवेनापि न पठितः ॥

बध संयमने ॥ १४ ॥

बाधयति । बन्धेति चन्द्रः ॥

बध्नातीति बन्ध बन्धने इति क्रैयादिकस्य । बीभत्सते इति भौवादिकस्य, नित्यसनन्तस्य बधे वैरूप्ये ॥

पॄ पूरणे ॥ १५ ॥

पारयति । अत्र श्रीभट्टादयो दीर्घोच्चारणसामर्थ्यात् पक्षे णिज्नेति-तथा हि—दीर्घोच्चारणं परिता इत्यादौ 'अदन्तमृदन्तम्' इति इट्-सिद्धये । तणिचो विकल्पस्य कल्पकं भवति । ननु परिता इत्यादि पृणातिपिपर्त्योरन्यतरेणापि सिध्यति, किं विकल्पकल्पनया । सत्यं, परितेत्यादिसिद्ध्यति । परतीत्यादिसिद्धिस्तु प्रयोजनं भविष्यति ॥

ऊर्ज बलप्राणनयोः ॥ १६ ॥

प्राणनं जीवनम् । **ऊर्जयति** । **और्जिजत्** ॥

ऊर्जिजयिषति—'नन्द्राः' इति रेफवर्जस्य द्वितीयस्यैकाचो द्विर्वचनम् ॥

ऊर्क्—'भ्राजभास' इत्यादिना क्विप् । 'चोः कुः' इति कुत्वम् । णिलोपस्य 'पूर्वत्रासिद्धे न स्थानिवत्' इति स्थानिवत्त्वनिषेधात्पदान्तता । संयोगान्तलोपस्तु 'रात्सस्य' इति नियमान्न भवति ॥

पक्ष परिग्रहे ॥ १७ ॥

पक्षयति । अपपक्षत् ॥

वर्ण चूर्ण प्रेरणे ॥ १८—१९ ॥

एवं मैत्रेयः अन्ये तु वर्ण वर्णने । चूर्ण प्रेरणे इति । **वर्णयति । चूर्णयति ॥**

वर्णं गृह्णाति **वर्णयति** । चूर्णैं रवध्वंसयति **अवचूर्णयति**—'सत्यापपाश' इत्यादिना वर्णचूर्णाभ्यां प्रातिपदिकाभ्यां ग्रहणावध्वंसनयोः णिच् ॥

प्रथ प्रख्याने ॥ २० ॥

प्राथयति । **अपप्रथत्**—'अत्स्मृदृत्वरप्रथ' इत्यभ्यासस्याकारः । 'नान्ये मितोऽहेतौ' इति सम्भवद्धेतुमण्णिचां चुरादिणिचि मित्त्वाभावात् प्रथ प्रख्यान इति घटादिकत्वमस्य न भवति ॥

पृथ प्रक्षेपे ॥ २१ ॥

पार्थयति । अपपर्थत्, अपीपृथत्—उदृद्वा ॥

पथ इत्येक इति स्वामी—**पाथयति । अपीपथत् ॥**

षम्ब सम्बन्धने ॥ २२ ॥

सम्बयति । अससम्बत् ॥

शम्ब च इति मैत्रेयः । शम्ब इत्येके इति स्वामी । **शम्बयति । अशशम्बत् ॥**

शम्बरम्—बाहुलकादरः ॥

साम्ब इति केचिद्दन्त्यादिं दीर्घवन्तं च पठन्ति ॥

भक्ष अदने ॥ २३ ॥

भक्षयति पिण्डीं देवदत्तः । अतो हेतुमण्णिचि **भक्षयति पिण्डीं देवदत्तेन** इति । 'गतिबुद्धिप्रत्यवसानार्थ' इति प्रयोज्यस्य कर्मत्वं 'भक्षेरहिंसार्थस्य' इति वार्तिकेन निषिध्यते । अत्र हि 'आदिखाद्योः प्रतिषेधः' इत्यतः प्रतिषेधग्रहोऽनुवर्तते । 'गतिबुद्धि' इत्यादौ अणिग्रहणेन हेतुमण्णिचो निषेधः । हिंसायां तु—**भक्षयति यवान् बलीवर्दानिति** भवति । अत्र भक्षयतिः हिंसाङ्गे भक्षणे वर्तते । हिंसा च 'सर्वे भावाः सचेतनाः' इति दर्शनेन यवानां सचेतनत्वादस्ति । दर्शनान्तरे यवानां भक्षणे स्वामिनो हिंसा भवतीति तदपेक्षं भक्षणस्य हिंसात्वम् ॥

कुट्ट छेदनभर्त्सनयोः ॥ २४ ॥

एवं बहवः । छेदनपूरणयोरिति स्वामी । छेदन इत्येवं जिनेन्द्रदुर्गौ । **कुट्टयति** । **अचुकुट्टत्** ॥

कुट्टाकः—'जल्पभिक्षकुट्ट' इति षाकन् । षित्त्वात् स्त्रीयां **कुट्टाकी** ॥

कुट्टनं **कुट्टः**—'एरच्' ॥

कुट्टेन निर्वृत्तं **कुट्टिमम्**—'भावप्रत्ययान्तादिमब्वक्तव्यः' इति 'तेन निर्वृत्तम्' इति विषये इमप् ॥

पुट्ट चुट्ट अल्पीभावे ॥ २५ ॥

पुट्टयति । अपुपुट्टत् । चुट्टयति । अचुचुट्टत् ॥

अट्ट षुट्ट अनादरे ॥ २६ ॥

अट्टयति । आट्टिटत् । अट्टिर्दोपध एव लक्षणवशेन टकार इति 'नन्द्राः' इति दकारवर्जस्य द्वितीयस्यैकाचो द्विर्वचने पश्चात् ष्टुत्वम् ॥

सुट्टयति । असुषुट्टत् ॥

लुण्ट स्तेये ॥ २७ ॥

लुण्टयति । अलुलुण्टत् ॥

लुण्टतीति लुटि स्तेये इत्यस्य शपि । ननु लुण्टयतेरिदित्पाठेनापि लुण्टयति लुण्टतीति रूपद्वयं भविष्यति किं भ्वादिपाठेन । सत्यम् । सिद्ध्यतीदं रूपद्वयम्, लुण्टितेति ताच्छीलिकस्तृन्न स्यात् । 'जल्पभिक्षकुट्टलुण्ट' इति षाकना बाधात् । लुण्ठपाठे तु प्रतिपदोक्तत्वादस्यैव तत्र ग्रहणमिति भौवादिकात्तृनि लुण्टितेति भवतीत्युभयत्रापि पाठः कर्तव्यः । अत एव न्यासे कुट्टच्छेदे, लुण्टस्तेये, चौरादिकावेतौ इत्युक्तम्।

लुण्टाकः—'जल्पभिक्ष' इत्यादिना षाकन् । षित्त्वात् ङीषि—लुण्टाकी ॥

शठ श्वठ असंस्कारगत्योः ॥ २८ ॥

शाठयति । श्वाठयति । अशीशठत् । अशिश्वठत् ॥

इदित् द्वितीयः इति दुर्गः । मैत्रेयोपि श्वठीत्येके इति । श्वण्ठयति। अशश्वण्ठत् ॥

श्लाघायां शाठयते इत्याकुस्मीयः ॥

शठयति श्वठयति इति कथादौ । कैतवे शठतीति शपि गतम् ॥

तुजि पिजि हिंसाबलादाननिकेतनेषु ॥

तुञ्जयति । अतुतुञ्जत् । पिञ्जयति । अपिपिञ्जत् । इदित्करणात् तुञ्जति पिञ्जति इत्यपिभवतः ॥

तुजि हिंसायां, तुजि पालने च इति भूवादिपाठादेव हिंसायां तुञ्जतीति सिद्धौ इदित्त्वेन णिजनित्यत्वं, बलादाननिकेतनयोरपि तुञ्जतीति रूपसिद्ध्यै । एवं तर्हि अनेनैव सिद्धे भूवादिपाठः किमर्थ इति चेत्, पालने तुञ्जतीत्यर्थः ॥

तुञ्जयति पिञ्जयतीति भाषार्थावग्रे भविष्यतः । शाकटायनस्तु तुजपिजेति पपाठ ॥

पिज वर्णे इत्यदादौ । इह लजिलुजि इत्यपि क्वचित् दृश्येते । तौ मैत्रेयादिभिः न पठ्येते ॥

पिस गतौ ॥ ३० ॥

पेसयति । अपीपिसत् ॥

पेसतीति शपि ॥

षान्त्व सामप्रयोगे ॥ ३१ ॥

सान्त्वयति । अससान्त्वत् । सिषान्त्वयिषति ॥

श्वल्क वल्क परिभाषणे ॥ ३२ ॥

श्वल्कयति । अशश्वल्कत् । वल्कयति । अववल्कत् ॥

ष्णिह स्नेहने ॥ ३३ ॥

षोपदेशः । स्नेहयति । असिष्णिहत् ॥

स्निह्यतीति प्रीतौ दिवादिः । अत्र स्फिट स्नेहने इति क्वचित्कोशे दृश्यते । तद्धनपालशाकटायनमैत्रेयदेवादिभिः चिरन्तनैः व्याख्यातृभिः न लिख्यते ॥

स्मिट अनादरे ॥ ३४ ॥

स्मेटयति । असिस्मिटत् । स्मिङ् इत्येके इति मैत्रेयः । स्माययते "अवयवे कृतं लिङ्गं समुदायस्य विशेषकं" इति न्यायेन ण्यन्तस्य ङित्त्वादात्मनेपदम् । आत्वं "स्मयतेः" इति निर्देशाद्धेतुमण्णौ विधानाच्च नास्य भवति ॥

शाकटायनस्तु अटस्मिट गतौ इति टान्तप्रकरणे पपाठ ॥

स्मयते इति ईषद्धसने शपि ॥

श्लिष श्लेषणे ॥ ३५ ॥

श्लेषयति । अशिश्लिषत् ॥

श्लेषतीति दाहे शपि । श्लिष्यतीत्यालिङ्गने श्यनि ॥

पति गतौ ॥ ३६ ॥

पन्थयति । अपपन्थत् । पन्थति । अपपत्थत् । इदित्त्वाण्णिज्विकल्पः ॥

पथतीति पथे गतौ इत्यस्य शपि ॥

पिच्छ कुट्टने ॥ ३७ ॥

पिच्छयति । अपिपिच्छत् ॥

छदि संवरणे ॥ ३८ ॥

छन्दयति । अचछन्दत् । छन्दति । अच्छन्दीत् । शाकटायनस्तु आत्मनेपदिष्वप्यमुं पपाठ । स्वाम्यादयः छद इत्यनिदितं पठित्वा छादयति इत्युदाजह्रुः । तेषां छदयति इति रूपस्य छद अपवारणे इत्याधृषीयेणैव सिद्धत्वादिह पाठो व्यर्थस्स्यात् । इदितोऽभावे छन्दश्शब्दोपि न स्यादिति मैत्रेयाद्युक्त इदित्पाठ एव न्याय्यः। अत एव न्यासपदमञ्जर्यादौ 'छादेर्घे:' इत्यत्रोरश्छदादि छद अपवारणे इत्यस्मादेव व्युत्पादितम् ॥

श्रण दाने ॥ ३९ ॥

प्रायेणायं विपूर्वः । विश्राणयति । व्यशिश्रणत् ॥
घटादिपाठात् श्रणयति इत्यादि ॥

तड आघाते ॥ ४० ॥

ताडयति । अतीतडत् ॥

खड खडि कडि भेदने ॥ ४१–४३ ॥

खाडयति । अचीखडत् । खण्डयति । अचखण्डत् । खण्डति । अखण्डीत् । कण्डयति । अचकण्डत् । कण्डति । अकण्डीत् ॥

खण्डतीति मन्थने शपि । तथा कण्डते इति मदे । क्षीरस्वामी तु भूवादौ परस्मैभाषं कडतिमनिदितमपि कडीतीदितं पठित्वा कंडति दुर्ग इत्याह । अस्य निर्णयस्तत्र कृतः ॥

कुडि रक्षणे ॥ ४४ ॥

कुण्डयति । अचुकुण्डत् । कुण्डति । अकुण्डीत् ॥

कुण्डते इति वैकल्यदाहयोः शपि गतम् । वैकल्यार्थष्टान्त इति शाकटायनः । टान्त मेके इति स्वामी । इमावपि पाठभेदौ तत्रापि दर्शितौ ॥

गुडि वेष्टने ॥ ४५ ॥

गुण्डयति । गुण्डति । रक्षण इत्येके । प्रथमादिं द्वितीयान्तमेके पठन्ति—**अवकुण्ठयति । अवकुण्ठति** ॥

खुडि खण्डने ॥ ४६ ॥

खुण्डयति । खुण्डति ॥

वटि विभाजने ॥ ४७ ॥

वडीति शाकटायनः । वण्टयति । अत्र मैत्रेयो भौवादिकस्य विभाजनार्थस्य वटेर्हेतुमण्णौ वण्टयतीति सिद्धे चुरादौ पाठः कर्त्रभिप्रायेऽपि परस्मैपदार्थ इति । असौ हि 'णिचश्च' इति तङ् चुरादिण्यन्तस्य नेति मन्यते । अन्ये तु—' णिचश्च ' इति तत्रापीष्यत इति नेदं प्रयोजनम् ।

किन्तु चिन्तीत्यादिवत् इदित्त्वबलात् णिचो विकल्पे न विभाजनेऽप्यर्थे वण्टतीति सिद्धिरिति । ये तु भूवादावपि विभाजने इति पठन्ति तेषां तु नैवास्य चोद्यस्यावतारः ॥

मडि भूषायां हर्षे च ॥ ४८ ॥

मण्डयति । मण्डति । मण्डत इति वेष्टने शपि । मडि भूषायां इति भूवादौ पाठादेव मण्डतीति सिद्धेः अस्येदित्त्वं नुम्मात्रार्थं न तु णिज्विकल्पार्थमपि । तेन हर्षे मण्डतीति न भवति ॥

भडि कल्याणे ॥ ४९ ॥

भण्डयति । भण्डति ॥

परिभाषणे भण्डत इति शपि । परिहास इत्येके तत्र ॥

छर्द वमने ॥ ५० ॥

छर्दयति । अचच्छर्दत् ॥

पुस्त बुस्त आदरानादरयोः॥५१–५२॥

पुस्तयति ॥ पुस्तकम्—“ क्वुन् शिल्पिसंज्ञयोः ” इति क्वुन् ॥

बुस्तयति । बुस्तम् ॥

चुद सञ्चोदने ॥ ५३ ॥

सञ्चोदनं प्रश्नः प्रेरणा च । तत्र प्रश्ने द्विकर्मकत्वम्—देवदत्तमर्थं चोदयति इति ॥

चूडा—भिदादिपाठादङ् डत्वं दीर्घत्वं च ॥

चूडालः—'प्राणिस्थादातो लजन्यतरस्याम्' इति मत्वर्थे लच् ॥

चूडा नाम काचित् तस्या अपत्यं **चौडिः**—'बाह्वादिभ्यश्च' इतीञ् 'द्व्यचः' इति ढकोपवादः ॥

नक्क धक्क नाशने ॥ ५४–५५ ॥

अयं तवर्गीयादिः । णोपदेशपर्युदासे 'नृति नन्दि' इत्यादौ उपादानात् । नक्कयति । धक्कयति ॥

चक्क चुक्क व्यथने ॥ ५६–५७ ॥

चक्कयति । चुक्कयति । चिक्केत्यपि क्वचित्पठ्यते ॥

क्षल शौचकर्मणि ॥ ५८ ॥

क्षालयति । अचिक्षलत् ॥

तल प्रतिष्ठायाम् ॥ ५९ ॥

तालयति । अतीतलत् ॥

तालम्, तलम्—अच् । "संज्ञापूर्वको विधिरनित्यः" इति वृद्ध्यभावः । मैत्रेयस्तु "घुषिरविशब्दने इति ज्ञापकं सामान्यमिच्छन्ति" इत्युक्त्वा णिजभावे तलशब्दमाह ॥

तुल उन्माने ॥ ६० ॥

तोलयति । अतूतुलत् ॥

तुलेति णिचोऽनित्यत्वादिति मैत्रेयः । अन्ये तु—णिजभावे प्रमाणाभावात् 'तुल्यार्थैः' इत्यादौ तुलेति निपातनादाङि णिलुकि तुलेति ।

तुलयति । **अतुतुलदिति**—तुलाशब्दात् 'प्रातिपदिकात् धात्वर्थे बहुलमिष्ठवच्च' इति णिचि 'दीर्घो लघोः' इति णौ चङ्यभ्यासस्य दीर्घत्वं अग्लोपित्वान्न भवति ॥

तुला कृष्णस्य नास्ति—'तुल्यार्थैः' इति विधीयमाना तृतीया तत्रैव 'अतुलोपमाभ्याम्' इति वचनान्न भवति ॥

तुलया संमितं **तुल्यम्**—'नौ वयोधर्म' इति यत् । तुलया संमितमिति व्युत्पत्तिमात्रम् । रूढशब्दस्त्वयं सदृशपर्यायः ॥

तुल्यश्वेतः—'कृत्यतुल्याख्या अजात्या' इति समानाधिकरणसमासः । अयं च पूर्वनिपातनियमबाधनार्थः । तथा **तुल्यमहान्** इत्यत्र 'सन्महत्' इति महच्छब्दस्य प्राप्तपूर्वनिपातबाधनार्थश्च ॥

कृष्णस्य तुल्यः, कृष्णेन वा—'तुल्यार्थैः' इति षष्ठीतृतीये ॥

दुल उत्क्षेपे ॥ ६१ ॥

दोलयति । **अदूदुलत्** ॥

दोला—भिदादेराकृतिगणत्वादङ् ॥

दुलिः कमठी—'अच इः' इतीप्रत्ययः, 'बहुलमन्यत्रापि संज्ञाच्छन्दसोः' इति णिलुक् ॥

पुल महत्त्वे ॥ ६२ ॥

पोलयति ॥

पोलतीति शपि । पुलतीति शे इति भूवादौ स्वामी ॥

चुल समुच्छ्राये ॥ ६३ ॥

चोलयति ॥

चोलः । चोलस्यापत्यमपि चोलः--' द्व्यञ्मगध ' इत्यण् । तस्य ' कम्बोजादिभ्यो लुग्वचनं चोलाद्यर्थम् ' इति लुक् ॥

मूल रोहणे ॥ ६४ ॥

मूलयति ॥

मूलतीति प्रतिष्ठायां शपि ॥

कल विल क्षेपे ॥ ६५–६६ ॥

कालयति । वेलयति ॥

वेला ॥

कलयतीति गतिसङ्ख्यानयोः कथादौ भविष्यति । कलते इति शब्दसङ्ख्यानयोः शपि । वेलते इति वेलेश्शपि चलने । विलतीति संवरणे शे । क्वचित् किलेत्यप्यत्र पठ्यते । मैत्रेयादिभिस्तु न पठ्यते । श्वैत्यक्रीडनयोः किलतीति शे ॥

बिल भेदने ॥ ६७ ॥

बेलयति । बेलतीति शपीत्यात्रेय इत्युक्तम् ॥

तिल स्नेहने ॥ ६८ ॥

तेलयति । तिलतीति शे । तेलतीति गतौ शपि ॥

चल भृतौ ॥ ६९ ॥

चालयति । चलतीति विलसनकम्पनयोः शशपोः ॥

पाल रक्षणे ॥ ७० ॥

पालयति । अपीपलत् । पातेरपि हेतुमण्णौ ‘ पातेर्लुग्वक्तव्यः ’ इति लुगागमे—पालयति ॥

लूष हिंसायाम् ॥ ७१ ॥

लूषयति । अलूलुषत् ॥

शुल्ब माने ॥ ७२ ॥

शुल्बयति । अशुशुल्बत् । शूर्प माने इति श्रीभद्रमैत्रयादयः । शूर्पयति ॥

शूर्प—एरचि पचाद्यचि वा णिलोपः ॥

शूर्पेण क्रीतं शौर्पम्, शौर्पिकम्—‘ शूर्पादञन्यतरस्याम् ’ इत्यार्हीयेष्वर्थेषु अञ्ठञौ ॥

द्वाभ्यां शूर्पाभ्यां क्रीतं द्विशूर्पं इत्यत्र ‘ अध्यर्धपूर्वात् ’ इति ठञञो-र्वा लुक् ॥

चुट छेदने ॥ ७३ ॥

चोटयति । चुटतीति शे गतम् ॥

मुट संचूर्णने ॥ ७४ ॥

मोटयति । मोटतीति मर्दने शपि । मुटतीति प्रमर्दनाक्षेपयोः शे ॥

पडि पसि नाशने ॥ ७५—७६ ॥

पण्डयति । पण्डति ॥

पंसयति । पंसति ॥

पांसुः—'अर्जिदृशि' इत्यादिना उप्रत्ययो दीर्घश्च ॥

पण्डत इति गतौ शपि ॥

व्रज मार्गसंस्कारगत्योः ॥ ७७ ॥

व्राजयति । वजि मार्गसंस्कारयोः गतौ चेति मैत्रेयादयः । अत्र धनपालो मार्गे चेति पठति । स्वामी तु व्रजस्थाने वजिं पठित्वा मार्गेति द्वितीयं धातुमह । तन्त्रान्तरे तु वजिव्रजी द्वौ पठित्वा मार्गसंस्कारगती अर्थावुक्तौ । वाजयति । मार्गयति । व्रजति वजतीति शपि ॥

वाजयतीति वातिर्णौ 'वो विधूनने जुक्' इति जुगागमे ॥

मृग अन्वेषणे कथादौ । मार्ग अन्वेषणे इति युजादौ ॥

शुल्क अतिसर्जने ॥ ७८ ॥

शुल्कयति ॥

चपि गत्याम् ॥ ७९ ॥

चम्पयति । चम्पति ॥

क्षपि क्षान्त्याम् ॥ ८० ॥

क्षम्पयति । क्षम्पति । क्षपेति प्रेरणार्थस्य कथादित्वेन ॥

क्षजि कृच्छ्रजीवने ॥ ८१ ॥

क्षञ्जयति । क्षञ्जति । क्षञ्जत इति गतिदानयोः घटादौ ॥

श्वर्त गत्याम् ॥ ८२ ॥

श्वर्तयति ॥

श्वभ्र च ॥ ८३ ॥

श्वभ्रयति ॥

ज्ञप मिच्च ॥ ८४ ॥

ज्ञापने मारणादिषु च अभिधानमस्येति मैत्रेयादयः । अन्ये तु—शाकटायनानुसारिणो ज्ञपमारणतोषणनिशामनेषु मिच्चेति पठन्ति । तथा 'इको झल्' इत्यत्र न्यासे "ज्ञप मिच्च" इति पठित्वा "अन्ये तु ज्ञप मारणतोषणनिशामनेष्विति पठन्ति" इति । घटादिवदत्रापि केचिन्निशामनस्थाने निशानशब्दं पठन्ति। घटादिषु मारणादिसूत्रस्य पाठादेव मित्त्वे सिद्धे पुनर्मारणादिषु मित्त्ववचनं ज्ञपादिवर्जमन्ये स्वार्थण्यन्ता न मित इति ज्ञापनार्थमिति पुनःपाठफलं चाहुः काश्यपादयः । ज्ञपादीननुक्रम्य 'नान्ये मितोऽहेतौ' इति ज्ञपादिव्यतिरिक्तानामेव अहेतुमण्णौ मित्त्वाभावस्य वक्ष्यमाणत्वात् नेदं फलम् । किंच—अर्थविशेषपरिगणनमप्ययुक्तं "प्रच्छ ज्ञीप्सायां" "ज्ञप्तिः" "श्लाघह्नुङ्स्थाशपां ज्ञीप्स्यमानः" इत्यत्र "ज्ञीप्स्यमानो ज्ञपयितुमिष्यमाणो बोधयितुमभिप्रेतः" इत्यादौ ज्ञानमात्रे ज्ञापने च मितः प्रयोगदर्शनात् । न चैवं शक्यते वक्तुं निशामनं ज्ञानमात्रं तदर्थादस्मादहेतुमण्णौ चुरादित्वेन "प्रच्छ ज्ञीप्सायां" "ज्ञप्तिः" इति भविष्यति । 'स्था-

शपां ज्ञीप्स्यमानः' इत्यादिस्तु हेतुमण्णौ घटादिमित्त्वेनेति । एवं तर्हि घटादिर्ज्ञापनाविषयोऽयं तु ज्ञानविषय इत्यर्थभेदस्य विद्यमानत्वात् घटादित्वादेव मित्त्वे सिद्धे पुनर्मारणादिषु मित्त्ववचनं ज्ञापनार्थमिति स्वोक्तेन विरोधस्सद्यात् । अथ मतं—घटादित्वादेव मित्त्वे सिद्धे पुनर्मारणादिषु मित्त्ववचनं ज्ञापनार्थम्—निशामनस्य ग्रहणं विध्यर्थं इतरयोस्तु नियमार्थमिति । एवमपि मारणादिष्विति वचनमयुक्तम् । मारणतोषणयोरिति तु वक्तव्यम् । किञ्चास्य ज्ञानमात्रार्थत्वे 'श्लाघह्नुङ्' इत्यत्र न्यासकारहरदत्तादिभिः चौरादिकात् व्युत्पादनं विरुद्ध्येत । सर्वथा तज्ज्ञापयत्याचार्यः । "विज्ञापना भर्तृषु सिद्धिमेति" "ज्ञापकं स्यात्तदन्तत्वे" इत्यादिस्तु न सिध्यति । अथ 'मारणतोषणनिशामनेषु' इति घटादाविह च पाठात् ज्ञापयत्यादिस्सिद्ध्यति । ज्ञीप्स्यमानो ज्ञप्तिरित्यादिस्तु न सिद्ध्यति । यदि तु मतं—घटादौ निशामनमिति पाठः इह तु निशानमिति घटादेर्ज्ञापयति, अस्मात् ज्ञपयतीति भविष्यतीति । एवमपि 'स्थाशपां ज्ञीप्स्यमानः' इत्यादि न सङ्गच्छते । अत्र हि बोधनार्थो धातुः तत्र[1]तु बोधनं निशामनशब्दार्थो न तु बोधनेति । अथ तत्रापि बोधनार्थः । प्रच्छ ज्ञीप्सायां, ज्ञीप्स्यमानः, ज्ञप्तिरिति न सिद्ध्यति । तस्मात् 'ज्ञपमिच्च' इत्येव युक्तः पाठः । अतएव 'इको झल्' इत्यादौ 'ज्ञप मिच्च' इति न्यासकारहरदत्तादयः पठन्ति । तेनास्य यथाप्रयोगमर्थ इति ज्ञापने ज्ञानमात्रे च वृत्तिरिति प्रच्छ ज्ञीप्सायां ज्ञप्तिः ज्ञीप्स्यमानः ज्ञपयितुमिष्यमाण इत्यादि सर्वमुपपद्यते । ज्ञापयत्यादिप्रयोगस्तु ज्ञानमात्रवचनाज्ज्ञानातेः । घटादिमित्त्वं तु चाक्षुषज्ञानार्थस्य निशामनार्थस्य वेतीह न भवति । निशामनं चाक्षुषज्ञानमित्यवोचाम । पुरुषकारेऽ प्यस्मदुक्तरीत्या 'ज्ञप मिच्च' इत्येव

1. सूत्रे.

पाठो युक्त इति सिद्धान्तितम् । एवं च चुरादिणिचो 'णिचश्च' इति कर्त्रभिप्रायेऽपि तङ् नास्तीति दर्शनाश्रयणेन "उक्तस्योक्तिर्णिचश्चेत्युदितविहितपे" इति कर्त्रभिप्रायेऽपि मारणादौ परस्मैपदसिद्धिः पुनः पाठफलमिति यद्देवेनोक्तं तदपि मतं—

जानातिर्ज्ञस्तु सिद्ध्येत् ज्ञपयति तु पुनर्मारणादौ घटादे-
श्चामित्वे पीदमेव ज्ञप मिदिति पदं ज्ञापने मारणादौ ॥
तेनार्थात् ज्ञापनार्थे ज्ञपयतिपदवत् ज्ञापयेदित्यपि स्यात्

इति स्वेनैव ज्ञप मिदित्यर्थविशेषोपादानरहितं पाठमङ्गीकृत्य तस्य च प्रयोजनं मारणादिव्यतिरिक्ते ज्ञापयत्यर्थे ज्ञपयतीति सिद्धिरित्युक्तत्वात् उक्तस्योक्तचसम्भवात् निराकृतम् ॥

ज्ञपयति । संज्ञपयति । विज्ञपयाति । प्रज्ञपयति । स्वभावान्मारणादावप्यस्य वृत्तिरित्युक्तम् । तत्र च कौमारमतेन सोपसर्गः प्रदर्शितः ॥

जिज्ञपयिषति, ज्ञीप्सति—'सनीवन्तर्धि' इत्यादिना पक्षे इडभावः । 'आप्ज्ञपृधाम्' इति झलादौ सन्यच ईकारः । 'अत्र लोपः' इत्यभ्यासलोपः । 'णेरनिटि' इति णिलोपः ॥

'वादान्त' इत्यत्र **ज्ञप्तः** इति निपातनं ज्ञपेरिति 'निष्ठायां सेटि' इत्यत्र कैयटपदमञ्जर्योरुक्तत्वात् इह ज्ञप्तः, ज्ञपितः इति मैत्रेयेणोदाहरणस्य प्रदर्शनमयुक्तम् ॥

यम च परिवेषणे ॥ ८५ ॥

चकारेण मिदित्यपेक्ष्यत इति मैत्रेयादयः । इह परिवेषणं परिवे-

ष्टनम् । न तु भोजना, नापि वेष्टना । तत्र हि घटादित्वात्सिद्धम् । न च वेष्टनेऽपि घटादित्वेन मित्त्वसिद्धिः । हेतुमण्ण्यन्तस्य तद्विधानात् । तस्य च वेष्टनाऽर्थो न तु वेष्टनमिति । **यमयति चन्द्रम्** । परिवेष्टत इत्यर्थः । अन्यत्र **नियामयति** । क्वचिद्यमोऽपरिवेषण इति पठ्यते । तदनार्षम् । चकारेण मिदित्यपेक्ष्यत इति मैत्रेयादिविरोधात् । किञ्च—घटादौ यमोऽपरिवेषणे इति परिवेषणादन्यत्र मित्त्वं निषिद्ध्यते । अनेन तु तत्रैव विधीयत इति विधिनिषेधयोर्विषयविभागो न प्रकल्पयेत । येषां तु दर्शनं घटादावपरिवेषणे मित्त्वं विधीयत इति तेषां तु तत्रैवानेनापि मित्त्वं विधीयत इति वैयर्थ्यमेव प्रसज्येत । इदं च घटादावपरिवेषणे मित्त्वविधानदर्शनं तत्रैव दूषितम् ॥

चह परिकल्कने ॥ ८६ ॥

चहयति । मैत्रेयस्तु चपेति पठित्वा चपयतीत्युदाजहार । चहेत्यूष्मान्तमेव चन्द्रोपि । अयं कथादावपि पठिष्यते । तस्य फलं अग्लोपित्वात् 'सन्वल्लघुनि' इति इत्त्वस्य 'दीर्घो लघोः' इति दीर्घस्य चाभावः । तेन **अचचहत्** इति भवति । इह पाठात् **अचीचहत्** इतीत्वदीर्घौ भवतः । तथाऽस्य मित्वात्—**अचहि अचाहि** । **चहंचहं, चाहं चाहमिति** 'चिण्णमुलोः' इति दीर्घविकल्पो भवति ॥

चहतीति भूवादौ ॥

रह त्यागे ॥ ८७ ॥

इतीह केचित्पठन्ति । **रहयति** । कथादावप्ययं पठिष्यते । तत एव सिद्धेरिह पाठो व्यर्थ इति स्वामी । तन्न; चहिवत्कथादेरग्लोपित्वात् इत्त्वदीर्घयोरभावात् अररहत् इति भवति । इह पाठात् अरीरहत्

इति । तथा अरहि । अराहि । रहंरहं, राहंराहं इति मित्त्वात् 'चिण्णमुलोः' इति दीर्घविकल्पोऽस्य भवतीति प्रयोजनसद्भावात् ॥

रहतीति शपि । रंहतीति तत्रैव रहि गतौ इत्यस्य ॥

बल प्राणने ॥ ८८ ॥

ओष्ठ्यादिः । **बलयति** ॥

चिञ् चयने ॥ ८९ ॥

ञित्करणात् कर्त्रभिप्राये तङ्विध्यर्थात् णिजस्य विकल्प्यते । णिचि 'चिस्फुरोर्णौ' इत्यात्वं पक्षे भवति । तत्र पुकि मित्त्वात्तस्य ह्रस्व इति **चपयति** । **चययति** । अणिचि—**चयति**, **चयते** इति भवति । अत्र काश्यपः—इकारोच्चारणसामर्थ्यादात्वं नेति । तच्चिन्त्यं आत्वस्य वैकल्पिकत्वात्तदभावे वृद्ध्याय्ह्रस्वेषु चयतीति रूपसिद्ध्यर्थत्वात्तस्य । तथा णिजभावे गुणायोः चयति इति रूपार्थत्वाच्च । रहत्यादयो यद्यप्यत्र मैत्रेयादिभिः न पठिताः तथाऽपि काश्यपादिप्रामाण्यादस्माभिः पठिताः ॥

चिनोतीति स्वादेः ॥

नान्ये मितोऽहेतौ ॥

ज्ञपादिव्यतिरिक्ता अहेतुमण्णौ मितो न भवन्ति । तेन ज्ञपादिव्यतिरिक्तानां चौरादिकानां शमादीनां 'जनीजॄष्क्नसुरञ्जोऽमन्ताश्च' इत्यादिना सामान्यलक्षणेन प्राप्तं मित्त्वं न भवति ॥

घट्ट चलने ॥ ९० ॥

घट्टयति ॥

घट्टते इति शपि ॥

अस्त संघाते ॥ ११ ॥

अस्तयति । क्वचिदयं वक्ष्यमाणस्य पुंसेरनन्तरं पठ्यते ॥

खट्ट संवरणे ॥ १२ ॥

खट्टयति ॥

षट्ट स्फिट्ट चुबि हिंसायाम् ॥१३-१५॥

सट्टयति । स्फिट्टयति । चुम्बयति ॥

चुम्बतीति वक्त्रसंयोगे शपि । केचित् द्वितीयं पुट्टेत्युकारवन्तं अनोष्ठ्यं च पठन्ति । अस्माभिस्तु मैत्रेयादीनामनुसारेण पूर्वमेव पुट्टिः पठित इतीह न लिखितः। तदनुरोधादेवेह स्फिट्टिश्च पठितः ॥

इह व्यय क्षय इति नन्दी पठति। व्ययेत्यपरे, मैत्रेयदेवादयस्तु उभयमपि न पठन्ति ॥

पूल सङ्घाते ॥ १६ ॥

पूलयति । पूलतीति शपि । पुरुषकारे तु पूर्णेति क्षीरस्वामी, पुणेति शाकटायन इत्युक्त्वा कोशशुद्धिस्त्वीदृशेऽर्थे कीदृशीति न विद्म इत्युपहसितम् ॥

पुंस अभिवर्धने ॥ १७ ॥

पुंसयति ॥

टकि बन्धने ॥ ९८ ॥

टङ्कयति । टङ्कति ॥

टङ्कः । विटङ्कः ॥

धूस कान्तिकरणे ॥ ९९ ॥

दन्त्योष्मान्त इति श्रीभद्रमैत्रेयादयः । मूर्धन्योष्मान्त इति स्वामी । तथा च मैत्रेयोपि धूष इत्येक इति । काश्यपस्तु तालव्योष्मान्तमाह । धूसयति ॥

धूसरः—बाहुलकादरप्रत्ययः ॥

कीट वर्णे ॥ १०० ॥

कीटयति ॥

चूर्ण संकोचने ॥ १०१ ॥

चूर्णयति । पुनःपाठोऽर्थभेदकृतः ॥

पूज पूजायाम् ॥ १०२ ॥

पूजयति ॥

पूजा—' चिन्तिपूज ' इत्यङ् ' ण्यास ' इति युचोऽपवादः ॥

पूजितो राज्ञाम्—' मतिबुद्धिपूजार्थेभ्यश्च ' इति वर्तमाने क्तः । ' क्तस्य च वर्तमाने ' इति कर्तरि षष्ठी । ' क्तेन च पूजायाम् '

इति समासनिषेधः । 'पूजितो यस्सुरासुरैः' इति आर्षः प्रयोग इत्याहुः ॥

अर्क स्तवने ॥ १०३ ॥

तपन इत्येके । 'अर्चन्त्यर्कमर्किणः'* इति दर्शनात् स्तवनपाठो युक्तः । अर्कयति ॥

शुठ आलस्ये ॥ १०४ ॥

शोठयति । शोठतीति गतिप्रतिघाते शपि ॥

शुठि शोषणे ॥ १०५ ॥

शुण्ठयति । शुण्ठति । अत्र क्षीरस्वामी—केचिदेनं अकारान्तं पठन्ति । लक्ष्यतस्तदपि प्रमाणमिति । एवं तु शुठ आलस्ये इति पूर्वत्रैव शोषणमपि निर्दिशेत् । शोषणे शोठयतीति प्रयोगो दृष्टश्चेत् शोठयतेरनेकार्थत्वेन निर्वाह्यः । तस्मात् शुठि शोषण इति युक्तः पाठः । अस्येदित्वादेव शुण्ठतीति सिद्धे भ्वादौ शुण्ठेः पाठः प्रपञ्चार्थः ॥

जुड प्रेरणे ॥ १०६ ॥

जोडयति । बन्धने जुडतीति शे ॥

गज मार्ज शब्दार्थौ ॥ १०७-१०८ ॥

गाजयति ॥

गजते । गञ्जति इति शपि । गर्जति गृञ्जति इति च ॥

---

*तै. सं. १-६-१२.

मार्जयति । शौचालङ्कारयोः मार्जयति मार्जतीति युजादौ भविष्यति । मृजूष् शुद्धावित्यस्य मार्ष्टि इत्यदादौ ॥

अत्र मर्चि[1]मपि केचित्पठन्ति । मर्च[2]यति । शपि मर्च[2]ति ॥

घृ प्रस्रवणे ॥ १०९ ॥

घारयति । अत्र क्षीरस्वामी स्रवण इति पठित्वा अभिघारयतीत्युदाजहार ॥

घरतीति शपि । जिघर्तीति श्लौ । छान्दसौ चैतावित्युक्तम् ॥

पचि विस्तारवचने ॥ ११० ॥

पञ्चयति । **पञ्चति** ॥

पञ्चते इति व्यक्त्यर्थस्य शपि ॥

तिज निशातने ॥ १११ ॥

तेजयति ॥

तितिक्षते इति भौवादिकस्य तिजेर्नित्यसन्नन्तस्य क्षमायाम् । तेजतीति तेजेश्शपि पालनार्थस्य ॥

कृत संशब्दने ॥ ११२ ॥

कीर्तयति । 'उपधायाश्च' इति इत्वरपरत्वयोः 'हलि च' इति दीर्घः । **अचिकीर्तत्** । **अचीकृतत्**—'उरृद्वा' । अन्यदा 'णौ कृतं स्थानिवत्' इतीत्वस्य स्थानिवत्त्वं न भवति । यत्र द्विरुक्तौ परभागस्याद्योऽजवर्णः तत्रैवेयं परिभाषेत्येवं 'द्विर्वचनेऽचि' इत्यादौ भा-

---

[1] र्मर्पि.   [2] मर्प.

ष्यकैयटयोस्स्थितम् । एवमेव 'उरृत्' इत्यादौ पदमञ्जर्यादिष्वपि । यत्तु 'स्तौतिण्योरेव' इत्यत्र सिषेचयिषति इत्यत्र सिचेर्हेतुमण्णौ गुणे सतीटि गुणायादेशयोः उत्तरखण्डस्य[1] अवर्णभावेऽपि अनया परिभाषया गुणस्य स्थानिवत्त्वेन सिच्शब्दस्य द्विरुक्तिवचनं तदस्याः परिभाषायाः सामान्यताश्रयणेन स्थानिवत्त्वेऽपि रूपासिद्धौ विशेषो नास्तीत्येतावता । न तु सिद्धान्तस्थित्या । कथं तर्हि 'लोपःपिबतेः' इत्यत्र वृत्तौ अपीप्यत् इत्यत्र पिबतेर्णौ युकि चङि 'लोपः पिबतेरीच्चाभ्यासस्य' इत्युपधालोपे तस्यानया परिभाषया स्थानिवत्त्वमाश्रित्य पाय् शब्दस्य द्विरुक्तिरुक्ता । न ह्यत्र उत्तरखण्डस्य आद्यमचमवर्णं पश्यामः । यद्यपि प्रयोगे न पश्यामः, स्थानिवत्त्वेन पाय्शब्दे द्विरुक्ते प्रक्रियायामुत्तरखण्डे अवर्णं पश्याम इति न दोषः । तस्य च 'लोपः पिबतेः' इत्यस्य पुनः प्रवृत्त्या प्रयोगेऽदर्शनम् । एवं औजढत् इत्यत्राप्यूढशब्दाण्णिचि टिलोपे तस्य स्थानिवत्त्वात् ढत्वादीनां चासिद्धत्वे हूतशब्दस्य द्विरुक्तेः प्रक्रियावाक्ये उत्तरखण्डस्याजवर्ण इति न क्वचिद्दोषः । एवं च औजिढत् अपीप्यत् इत्यादिसिद्ध्यर्थं अस्याः परिभाषायाः सामान्यत्वमाश्रित्य अत्र 'लोपः पिबतेः' इत्यत्र वृत्तिकारवचनं 'स्तौतिण्योरेव' इत्यत्र न्यासकारवचनं च संवादयन् अचिकीर्तत् इति सिद्ध्यर्थं अनित्यत्वं चास्या वदन् सीरदेवोपि प्रत्युक्तः । प्रकृतमनुसरामः ॥

कीर्तिः—'ऊतियूति' इत्यादिना युजपवादः क्तिन् । कालापास्तु युचमपीच्छन्ति **कीर्तना** इति ॥

'ऋदुपधाच्चाकॢपिचृतेः' इत्यत्र तपरकरणात् ऋकारोपधकीर्तयतिव्यावृत्त्यर्थात् अस्माण्णिचोऽनित्यत्वं ज्ञाप्यते । नित्ये णिच्यनुपधा-

[1] उत्तरपदस्य.

त्वादेव ऋकारस्यात्र क्यप् न भविष्यतीति किं तपरकरणेनैतद्व्यावृत्त्यर्थेन। तेन कीर्ततीत्यादि च भवति॥

वर्ध छेदनपूरणयोः॥ ११३॥

वर्धयति। अववर्धत्॥

कुबि छादने॥ ११४॥

कुम्बयति। कुम्बति॥

कुम्बा—' चिन्तिपूजि ' इत्यादिना युचो पवादोऽङ्। एवं स्वामिकाश्यपमैत्रेयादयो बशान्तं पठन्ति। अपरे तु भकारान्तं पठन्ति—कुम्भयतीत्यादि॥

लुबि तुबि अदर्शने॥ ११५-११६॥

अर्दन इति मैत्रेयः। लुम्बयति। तुम्बयति। अनयोरिदित्वादेव लुम्बति तुम्बति इति सिद्धेः अर्दनेऽर्थे भ्वादौ पाठो व्यर्थस्स्यात्। इहादर्शनेऽर्थे त्वर्थभेदात्सोपि सार्थकः॥

ह्लप[1] व्यक्तायां वाचि॥ ११७॥

ह्लापयति। क्लपेत्येके। क्लापयति॥

चुटि छेदने॥ ११८॥

चुण्टयति। चुण्टति। अत्र क्वचिन्मृडितुडीति तृतीयान्तौ प-

[1] ग्लप.

ख्येते । तावाद्येषु व्याख्यानेषु न दृश्येते । अतः प्रामादिकः पाठोऽनयोः ॥

इल प्रेरणे ॥ ११९ ॥

एलयति । ऐलिलत् ॥

इलतीति तुदादौ ॥

म्रक्ष म्लेच्छने ॥ १२० ॥

म्लेच्छनमपशब्दनं 'म्लेच्छो ह वा एष यदपशब्दः' इति श्रुतेः । **म्रक्षयति** । म्रक्षतीति संघाते शपि । म्लक्ष म्रक्ष छेदन इत्यपि क्वचित्पठ्येते ॥

म्लेच्छ अव्यक्तायां वाचि ॥ १२१ ॥

इहाव्यक्तवाग[1]पशब्दनम् । **म्लेच्छयति ॥**

म्लेच्छतीति भूवादौ ॥

ब्रूस बर्ह हिंसायाम् ॥ १२२—१२३ ॥

ब्रूसयति । बर्हयति ॥

बर्हतीति बृह वृद्धावित्यस्य शपि । बर्हत इति प्राधान्ये । बृंहयेत् बर्हयेदिति भाषार्थोऽग्रे भविष्यति ॥

अत्र गर्ज गर्द शब्दे गर्ध अभिकांक्षायां इति क्वचित्पठ्यते । गर्ज-

---

[1]इहाव्यक्तम.

यति । गर्दयति । गर्धयति । शप्यपि गतावाद्यौ । गृध्यतीति श्यनिगृधेः ॥

गुर्द पूर्वनिकेतने ॥ १२४ ॥

अत्र क्षीरस्वामी—पूर्वनिकेतनमासाद्याभ्यवहारः इति । पारायणे द्वौ धातू इत्याह । पुरुषकारे तु—"पूर्व निकेतने" इति पठित्वा "निकेतो निवासः पूर्वनिवासः" इत्युक्त्वा पूर्वयतीत्यत्र उपधायां चेति दीर्घ उक्तः । **गूर्दयति । पूर्वयति** ॥

पूर्वति इति पूरणे शपि । गुर्दिस्तु "कुर्द गुर्द" इत्यत्र प्रपञ्चितः । पूर्व्यतीति यत्स्वप्नभावयोस्तत्[1] कण्ड्वादिषु दर्शनादिति यद्देवेनोक्तं तच्च भूवादौ पूर्वतौ दूषितम् ॥

जसि रक्षणे ॥ १२५ ॥

मोक्षण इति देवः । **जंसयति । जंसति** । जस्यतीति श्यनि मोक्षणे । इहैव हिंसायां जासयतीति भविष्यति । तथा ताडनेऽपि ॥

ईड गतौ ॥ १२६ ॥

ईडयति । ऐडिडत् । ईड स्तुतावित्यदादौ ॥

जसु हिंसायाम् ॥ १२७ ॥

जासयति चोरस्य, चोरं इति वा—'जासिनिप्रहण' इति कर्मणि शेषे षष्ठी । 'जासि' इति निर्देशात् चोरमजीजिसत् इत्यत्र न षष्ठीति न्यासे । इदमपि दूषितं प्रागेव । क्त्वायामिड्विकल्पार्थात्

[1] पूर्व्यतीति तु यत्स्वप्ने तत्.

उदित्करणादस्य णिजनित्य इति जसतीति भवति ॥

जसित्वा, जस्त्वा । जस्तम् ॥

पिडि सङ्घाते ॥ १२८ ॥

पिण्डयति । पिण्डाति ॥

रुष रोषे ॥ १२९ ॥

रोषयति ॥

शपि—रोषति । हिंसायां श्यनि—रुष्यति । रोषे रुट इत्येक इति मैत्रेयरक्षितौ ॥

डिप क्षेपे ॥ १३० ॥

डेपयति । डप डिप सङ्घात इत्यत्राग्रे आकुस्मीयः । क्षेपे डिपयति डिप्यतीति गतौ ॥

ष्टूप समुच्छ्राये ॥ १३१ ॥

स्तूपयति । अटुष्टुपत् ॥

आकुस्मादाऽऽत्मनेपादिनः ॥

कुस्मनाम्नो वेति वक्ष्यति । आ एतस्मादात्मनेपदिनः अकर्त्रभिप्रायेऽपि । आङभिविधौ मर्यादायां त्वसंदेहार्थं प्रागित्येव ब्रूयात् ॥

चित संचेतने ॥ १३२ ॥

संचेतनं संज्ञानम् । **चेतयते** । **अचीचितत्** । चिन्तयतीति स्मृत्यामिह गतम् । शापि चेततीति संज्ञाने ॥

दशि दंशने ॥ १३३ ॥

दंशयते । आकुस्मीयमात्मनेपदं णिच्सन्नियोगेनेति व्याख्यातारः । तेनेदित्करणसामथर्यात् णिजभावे **दंशति** । दशतीति शपि ॥

दसि दर्शनदंशनयोः ॥ १३४ ॥

दंशनदर्शनयोरिति प्रायेण दृश्यत इति पुरुषकारे । **दंसयते** । **दंसति** । पूर्ववदणिचि परस्मैपदम् ॥

दंसतीति रक्षणे गतमेकीयमतेन । दस्यति इत्युपक्षये श्यनि । दासत इति दाने शपि ॥

दासः । **दासी**—'दंसेष्टटनौ न आ च' इति टटनौ, नकारस्य चाकारः । टित्त्वात् स्त्रियां ङीप् । टटनोः स्वरे विशेषः । अत्र दसेत्यनिदितमपि केचित्पठन्ति । यदाह—'पितेव पुत्रं दसये वचोभिः'* इत्यत्र भट्टभास्करः—दसये संगृह्णामि । दस दंशनदर्शनयोः चौरादिकोऽनुदात्तेत्, व्यत्ययेन वृद्ध्यभाव इति ॥

दासीदासम्—गवाश्वप्रभृतित्वात् एकवद्भाव एकशेषाभावश्च ॥

डप डिप सङ्घाते ॥ १३५—१३६ ॥

डापयते । **डेपयते** ॥

डेपयतीति क्षेपे गतम् ॥

---

[1] तै. सं. ४-२-५.

तत्रि कुटुम्बधारणे ॥ १३७ ॥

तन्त्रयते । तन्त्रति । तन्त्रम् । चान्द्रास्तु—कुटुम्बेति पृथग्धातुं मत्वा कुटुम्बयते इत्युदाजह्रुः ॥

मत्रि गुप्तभाषणे ॥ १३८ ॥

मन्त्रयते, मन्त्रति ॥

स्पश ग्रहणसंश्लेषणयोः ॥ १३९ ॥

स्पाशयते । अपस्पशत । 'अत्स्मृदृत्वर' इत्यादिना अभ्यासाकार इत्वापवादः । स्पशति, स्पशते इति स्पश बाधनस्पर्शयोः इत्यस्य हिक्कादेः ॥

तर्ज भर्त्स संतर्जने ॥ १४०—१४१ ॥

तर्जयते । भर्त्सयते । 'तर्जयन्निव केतुभिः' इति भौवादिकस्य तर्जेर्हेतुमण्णिचि ॥

बस्त गन्ध अर्दने ॥ १४२—१४३ ॥

बस्तयते । गन्धयते ॥

किष्क[1] हिंसायाम् ॥ १४४ ॥

किष्कयते । क्वचित्कोशे हिष्केति पठ्यते हिष्कयते ॥

निष्क परिमाणे ॥ १४५ ॥

निष्कयते । निष्कः—अच् ॥

---

[1] विष्क.

निष्केण क्रीतं नैष्किकम्—'असमासे निष्कादिभ्यः' इति क्रीताद्यर्थे ठक् ॥

द्वाभ्यां निष्काभ्यां क्रीतं द्विनैष्किकम्, द्विनिष्कम्—'द्वित्रिपूर्वान्निष्कात्' इति पक्षे प्राग्वहतीयस्य ठको लुक् । एवं त्रिपूर्वस्यापि । 'परिमाणान्तस्य' इत्युत्तरपदवृद्धिः लुगभावे ॥

लल ईप्सायाम् ॥ १४६ ॥

लालयते । अलीललत् ॥

कुं लालयते इति कुलालः—कर्मण्यण् । कुलालेन कृतं कौलालकम्—'कुलालादिभ्यो वुञ्' इति वुञ् ॥

कूण संकोचने ॥ १४७ ॥

कूणयते । कूणिः । अन्ये तु कुणेति ह्रस्वोपधं पठन्ति । वयं तु कूणेत्यादिदर्शनान्मैत्रेयाद्युक्तं दीर्घोपधत्वमेव बहुमन्यामहे । ह्रस्वोपधस्तु कथादौ भविष्यति । शब्दोपकरणयोः कुणतीति शे ॥

तूण पूरणे ॥ १४८ ॥

तूणयते ॥

तूणः । तूणीरः । बाहुलकादीरन् ॥

भ्रूण आशायाम् ॥ १४९ ॥

भ्रूणयते । भ्रूणः ॥

शठ श्लाघायाम्॥ १५० ॥

शाठयते ॥

यक्ष पूजायाम् ॥१५१ ॥

यक्षयते ॥

स्यम वितर्के ॥ १५२ ॥

स्यामयते । स्यमतीति शब्दार्थः शपि ॥

गूर उद्यमने ॥ १५३ ॥

गूरयते । क्वचिदयं लघूपध ईदिच्चेह पठ्यते । तदात्रेयमैत्रेयविरोधादुपेक्ष्यम् । चुरादौ दीर्घोपध इति हि तुदादावात्रेयः । दिवादौ च तेनायमर्थः स्फोरितः । मैत्रेयस्तु चुरादौ दीर्घोपधं अनीदितं पठित्वा गूरयते इत्येवोदाजहार । तथाच दैवपुरुषकारयोरयमनीदिद्दीर्घोपधः पठितः ॥

शम लक्ष आलोचने ॥ १५४-१५५ ॥

शामयते । लक्षयते । दर्शनाङ्कनयोः लक्षयति लक्षयते इति गतम् ॥

कुत्स अवक्षेपणे ॥ १५६ ॥

कुत्सयते । कुत्सा इति णिदि कुत्सायां इति निर्देशादङि ॥

त्रुट छेदने ॥ १५७ ॥

त्रोटयते । अयं तुदादौ च । कुटेत्येक इति स्वामी ॥

गल स्रवणे ॥ १८५ ॥

गालयते । गलतीति शपि ॥

भल आभण्डने ॥ १५९ ॥

भालयते । भलत इति परिभाषणहिंसादानेषु इति शपि ॥

कूट अप्रदाने[1] ॥ १६० ॥

अवसादन इत्येके । **कूटयते** । अत्र पुरुषकारे कुट प्रतापन इत्यप्येक इति मैत्रेयरक्षितौ । स एव तु पाठः प्रायेण दृश्यते । तदा **कोटयते** ॥

कुट्ट प्रतापने ॥ १६१ ॥

कुट्टयत इति क्षीरस्वामी । अयं कथादावपि । कुटतीति शे ॥

वञ्चु प्रलम्भने ॥ १६२ ॥

वञ्चयते । क्त्वायामिड्विकल्पार्थादुदित्त्वात् णिजरयानित्य इति वञ्चतीत्यपि भवति ॥

वञ्चित्वा, वचित्वा, वक्त्वा–'वञ्चिलुञ्च्यृतश्च' इति सेटः क्त्वः कित्त्वविकल्पनात्पक्षे नलोपः । इडभावे तु नित्यम् । अत्र सूत्रे वञ्चु गतौ इति भौवादिकस्य चास्य च ग्रहणमाह हरदत्तः । तत्र च तेन चौरादिक उदित्पठितः । तन्मते वलाद्यार्धधातुकमात्रे इड्विकल्पेन भाव्यम् । पाठद्वयेऽपि निष्ठायां–**वक्तः** । 'गृधिवञ्च्योः प्रलम्भने' इत्यत्र

---

[1] आप्रदाने.

भौवादिकस्यैव ग्रहो नास्य । आकुस्मीयत्वादेव अकर्त्रभिप्रायेऽपि तङः सिद्धत्वात् । पूर्वोत्तरयोगसाहचर्यात् गृधिसाहचर्याच्च कारितण्यन्तस्यैव वञ्चेस्तत्र ग्रहणस्य युक्तत्वाच्च । अत एव तत्र वृत्तौ—वञ्चु गतौ इति भौवादिक एव उपात्तः । यदाऽयं कारितण्यन्तस्तदाऽपि प्रलम्भनार्थो न तु प्रलम्भनमिति नास्य तत्र ग्रहणप्रसङ्गः । आकुस्मीयनिबन्धनश्च-तङ् स्वार्थण्यन्तस्येति प्रागेवोक्तमिति स्वार्थण्यन्तादस्मात् कारितणौ **वञ्चयति, वञ्चयते** इत्युभयं भवति । अत्र सुधाकरेण —

इन्द्रनीलदृषदः प्रथीयसीराश्रिताः कथममी जिघांसतः ।
उन्नतश्रवणवालनिस्वानान् वञ्चयन्ति शरभान् करेणवः ॥

इति प्रयोगस्य चौरादिकोऽप्यात्मनेपदीत्युक्त्वा वञ्चयन्ति अन्यपथं गमयन्तीति प्रतीतेः प्रलम्भनाभावान्न तङिति निर्वाहात्कारितण्यन्तादस्मादपि 'गृधिवञ्च्योः' इति तङा भाव्यमिति न मन्तव्यम् । यतः कारित-ण्यन्तस्यात्र प्रयोज्यान्तराभावादर्थो न सङ्गच्छते । स्वार्थण्यन्तस्याकु-स्मीयत्वात्तङा भाव्यमित्येव तस्याभिप्रायः ॥

वनीवच्यते—'नीग्वञ्चु' इत्यादिना नीगभ्यासस्य ॥

वृष शक्तिबन्धने ॥ १६३ ॥

शक्तिबन्धनं प्रजननसामर्थ्यमिति केशवस्वामी । शक्तिसम्बन्ध इति मैत्रेयः । **वर्षयते** ॥

वर्षतीति वृष सेचने इत्यस्य शपि । वर्षते इति वर्ष स्नेहन इत्यस्य ॥

मद तृप्तियोगे ॥ १६४ ॥

एवं मैत्रेयादयः । अन्ये तृप्तिशोधन इति पठन्ति । यदाह

क्षीरस्वामी—तृप्तिशोधने तर्पणशुद्धाविति । **मादयते** । हर्षे माद्यतीति श्यनि । इदितस्तुत्यादौ शपि मन्दते ॥

दिवु परिकूजने॥ १६५ ॥

देवयते ॥

परिदेवकः । 'देविक्रुशोश्चोपसर्गे' इति ताच्छीलिको वुञ् । अत्र दीव्यतेः ण्यन्तस्यास्य च ग्रह इति हरदत्तः । संपृचादौ नानयोः । यदाह वृत्तिकारः—परिदेवी भूवादिर्गृह्यत इति । अत्र हरदत्तः—क्रीडाद्यर्थस्य हेतुमण्ण्यन्तस्य दिवु परिकूजने इत्यस्य चुरादिण्यन्तस्य च ग्रहणं न भवति । लाक्षणिकत्वादण्यन्तैस्साहचर्याच्चेति । अत्र मैत्रेयः—वञ्चुप्रभृति[1]मुदितं पठन्ति, स एवायं धातुरर्थान्तरे चुरादिरित्येवंबोधनार्थमिति। तन्मते उदित्त्वं प्रत्यभिज्ञानार्थत्वात् णिचो विकल्पाय न प्रकल्पते । प्रत्यभिज्ञामात्रे च फलेऽनुदित एव पठेयुरन् ॥

गृ विज्ञाने ॥ १६६ ॥

गारयते ॥

गिरतीति निगरणार्थस्य शे । गृणातीति शब्दार्थस्य श्नि । गरतीति ह्रस्वान्तस्य सेचनार्थस्य शपि ॥

विद चेतनाख्याननिवासेषु ॥ १६७ ॥

विद वेदने इत्येके । विद वेदनाख्यानपरिवादेषु इत्यपरे । **वेदयते** ॥

---

[1] वञ्चु इति तृतीय.

सत्तायां विद्यते ज्ञाने वेत्ति विन्ते विचारणे ।
विन्दते विन्दति प्राप्तौ श्यन्लुक्श्नम्शेष्विदं क्रमात् ॥

मन स्तम्भे ॥ १६८ ॥

मानयते ॥

ज्ञाने मन्यते । अवबोधने मनुते ॥

यु जुगुप्सायाम् ॥ १७० ॥

यावयते । युनाति च युनीते च बन्धने । यौतीति मिश्रणे ॥

कुस्म नाम्नो वा ॥ १७१ ॥

कुस्ममिति दृष्टम् । कुस्मयतिरकारितमितिचेत् कोर्नित्यसमासत्वादुपसर्गस्य च बाह्यत्वात् कारितमेव ॥

कुत्सितस्मयनेऽस्य वृत्तिरिति मैत्रेयदुर्गादयः । **कुस्मयते** । नाम्नो वा इत्यस्य अयमर्थः वा अथवा नाम्नः प्रत्यासत्त्या कुस्मेत्यस्मान्नाम्नः कुस्मप्रातिपदिकात् 'तत्करोति' इति णिचि कुस्मयते इति भविष्यतीति कुस्मधातोरेवाभावात् कुतोना-माऽयमनूद्येतेत्याशङ्कायामह—कुस्ममिति दृष्टमिति । कुशब्दपूर्वात् स्मयतेः 'अन्येष्वपि दृश्यते' इति डप्रत्यये 'कुगतिप्रादयः' इति समासे समासत्वान्नाम प्रातिपदिकमिति लक्षणेन निर्ज्ञातमित्यर्थः । ननु किमनेन प्रातिपदिकात् कारितणिचा यतः कुपूर्वात् स्मयतेः कुस्मयते इति सिद्धमित्याह—कुस्मयतिरकारितमिति चेत् कोर्नित्यसमासत्वात् उपसर्गस्य च बाह्यत्वात् कारितमेवेति । कुपूर्वः स्मयतिरेव कुस्मयते इत्यत्र भविष्यति प्रकृतिः । तेनाकारितं कारिताभावो स्त्वितिचेत् तन्न कोरत्र नित्यस-

मासत्वात्। यदि हि तिङन्तेन कोरन्वयः स्यात् 'कुगतिप्रादयः' इत्यत्राप्यतिङिति सम्बन्धात् समासो न स्यात् । ततश्च वाक्यत्वादैकपद्यं न स्यात्। पूर्वप्रयोगवत्परप्रयोगश्च स्यात् । तथा तदुपसर्गस्य बाह्यत्वात् प्रकुस्मयते इति स्मयतेः प्राक् प्रयोगः स्यात्। क्रियमाणे च कुस्मनाम्न इति कुशब्दादप्युपसर्गस्य बाह्यत्वस्येष्यमाणत्वात् न तिङन्तेन कोरन्वयः । यदि हि स्यात् 'ते प्राग्धातोः' इति कुप्रस्मयते इति स्मयतेः प्राक् प्रयोगस्स्यात् । क्रियमाणे च कुस्मनाम्नो वेत्यस्मिन्नेतत्करणसामथर्यान्न कुपरस्य स्मयतेः नापि कोर्व्यवहितस्य प्रयोगः । उपसर्गस्य च इति चकारेण अन्येऽपि दोषाः सूच्यन्ते । तत्र तावत्—कुस्मयांचक्रुः इति आम् न स्यात्। चुकुस्मयिषति इत्यत्र कोर्द्विवचनं न स्यात्। अचुकुस्मयतेत्यत्र चङ् स्यात् । अड्च कोःपरस्स्यात् । कुस्मना इति युङ् स्यात्। कुस्मतिरिति च स्यात्। कुस्मयिता इत्यादौ इण्ण स्यात्। कुस्मयित्वा इत्यत्र ल्यप् स्यात् । क्विपि च णिसंयोगान्तलोपयोः सकारस्य च रुत्वे 'र्वोः' इति दीर्घे कूः इति सिद्ध्यति। तथा ण्वुलि णिलोपे कुस्मकः इति भवति । अन्यदा कुस्मायकः इति स्यात्। किञ्च कुस्मतीति न स्यात् । कुस्मायते इत्यादौ क्यङादयोपि न स्युः। एषां प्रातिपदिकादाचारे विधानात् । अतो धात्वन्तरं प्रातिपदिकं वा आश्रयणीयमिति निगमयति—कारितमेवेति । ननु धातुपक्षे कथमाचारे क्विबादयः स्युः । सत्यं, कारितान्तादपि णिलोपे कुस्मप्रातिपदिकात् क्विबादयो भविष्यन्तीति न दोषः ॥

चर्च अध्ययने ॥ १७१ ॥

चर्चयति । चर्चतीति हिंसादौ गतम् ॥

चर्चा—'चिन्तिपूजि' इत्यादिना युचोऽपवादोऽङ् । चिन्त्यादयः सर्वे चौरादिका गृह्यन्ते ॥

बुक्क भाषणे ॥ १७२ ॥

बुक्कयति । बुक्कतीति शपि । अत्र स्वामी—शब्द उपसर्गादाविष्कारे च इति पठित्वा उपसर्गपूर्वाच्छब्द इत्यस्मादाविष्कारे चकाराद्भाषणे च णिचमुक्त्वा प्रतिशब्दयतीत्युदाहृत्य प्रतिश्रुतमाविष्करोति इत्यर्थ इत्याह । पुनश्च 'अनुपसर्गाच्च' इति पठित्वा आविष्कारे शब्दयतीत्याह । मैत्रेयस्तु द्वावेतावपठन् शब्द शब्दक्रियायामिति पठित्वा शब्दयतीत्याह । अत्र पाठे 'प्रातिपदिकाद्धात्वर्थे' इति णौ प्रतिशब्दयति शदयतीति वाऽऽविष्कारे सिद्धम् । स्वामिपाठे तु शब्दकरणे शब्दयतीति न सिद्ध्यति । 'शब्दवैर' इति क्यङा 'तत्करोति' इति णिचो बाधात् । तस्मात् मैत्रेयपाठो ज्यायान् । येषां तु क्यङा न णिचो बाधः तेषां न विशेषः । शब्दतीति शपि ॥

कण निमीलने ॥ १७३ ॥

काणयति । अचीकणत्, अचकाणत्—'काण्यादीनां वा' इति ह्रस्वविकल्पो णौ चङ्युपधायाः ॥

काणः—स्वभावादयं एकनेत्रनिमीलनवचनः । कणतीति शपि शब्दे ॥

जभि नाशने ॥ १७४ ॥

जम्भयति । इदित्त्वात् जम्भति । चन्द्रस्तु जभेति पठित्वा जम्भयतीत्युदाजहार । 'रधिजभोरचि' इति नुमं मन्यते । अत्र मते नाशने न जम्भतीत्यस्ति । अयं चानिदित्पाठो न्यासकारहरदत्तादी-

नामनभिमतः । अन्यथा 'रथिजभोराचि' इत्यत्र जभजृभीतिवत् अमुमप्युपाददीरन् ॥

जम्भते इति शपि जृम्भणे ॥

षूद क्षरणे ॥ १७५ ॥

केचिदास्रवणे इति पठन्ति । **सूदयति** । **असूषुदत्** ॥

सूदते इति शपि ॥

जसु ताडने ॥ १७६ ॥

जासयति चोरस्य—'जासिनिप्रहण' इति कर्मणि शेषे षष्ठी । हिंसायां पठितस्यास्य पुनः पाठोऽर्थभेदात् । न हि ताडनं हिंसा; तज्जन्यत्वात्तस्याः । उदित्त्वादस्यापि णिज्विकल्पितः । तेन **जसतीति** भवति॥

पश बन्धने ॥ १७७ ॥

पाशयति ॥

अम रोगे ॥ १७८ ॥

चोरस्यामयति । **आमयतः** । 'रुजार्थानाम्' इति कर्मणि शेषे षष्ठी । 'नान्ये मितोऽहेतौ' इति मित्त्वनिषेधः ॥

आमः—घञि अचि वा णिलोपः । आम*शब्दस्तु 'मीङ् हिंसायाम्' इत्यस्याचि ॥

---

* पण्डितपत्रे मुद्रितकोशे त्वत्र "आम" इत्यस्मादनन्तरं "विशब्दनार्थादेतस्मात्" (२८४ पृष्ठे २ पङ्क्तौ) इत्यतः पूर्वं स्वोपलब्धादर्शकोशद्वयेऽपि ग्रन्थपातं निश्चित्य अन्यथैव अपेक्षितग्रन्थोऽभ्यूह्य मुद्रितः । स तु नादरणीय इत्यवधेयम् ॥

गत्यादौ अमतीति शपि । अस्य च हेतुमण्णौ अमन्तत्वेन मित्त्वात् अमयतीति । अस्य चोदात्तोपदेशत्वात् ‘नोदात्तोपदेशस्य’ इति ङिति णिति कृति वृद्धिनिषेधात् घञ्ण्वुलोः **अमः अमक** इति ॥

चट स्फुट भेदने ॥ १७९-८० ॥

चाटयति । स्फोटयति ॥

क्रमाद्विकासे शशपोः स्फुटति स्फोटते पदे । स्फुटतीति विशरणे च ॥

घट सङ्घाते ॥ १८१ ॥

घाटयति । घट चेष्टायामित्यस्य घटते घटयते घण्टयतीत्यग्रे भाषार्थे भविष्यति ॥

हन्त्यर्थाश्च ॥

येऽन्ये नवसु विकरणेषु पठिता हन्तिसमानार्थाः ते च स्वार्थे णिचमुत्पादयन्ति । **घातयतीत्यादि** । एवं मैत्रेयानुरोधेन चटादयो व्याख्याताः । अत्र धनपालः—चट स्फुट भेदने, घट च सङ्घाते । चकारात्पूर्वौ चात्रार्थे णिचमुत्पादयत इति । स्वामी तु—“ चट स्फुट भेदने चाटयति स्फोटयति । घट च । घटधातुश्च भेदने वर्तते । हन्त्यर्थाश्च धातवो णिचमुत्पादयन्तीत्युक्त्वा दर्शनान्तरमप्याह—“ घट च हन्त्यर्थाः चट स्फुट धातू द्वौ घटश्च धातुः त्रय एते हन्त्यर्थाः हन्तिना समानार्थाः णिचमुत्पादयन्ति ” इति । शाकटायनोपि—“चट-

स्फुटौ घट च हन्त्यर्थाः" इति वदन् अस्यामनुकूलः । माधवोपि—चट-स्फुटघटा हन्त्यर्था णिचमुत्पादयन्तीति । काश्यपस्तु—चट स्फुट भेदने घट च हिंस च हन्त्यर्था इति । तन्मते चकारेण घटः समुच्चीयत इति बोद्धव्यम् ॥

दिवु मर्दने ॥ १८२ ॥

देवयति शत्रून् । उदित्त्वात् देवति । परिकूजने आकुस्मीयो गतः । अयमपि परिकूजनार्थ इति चन्द्रादयः ॥

अर्ज प्रतियत्ने ॥ १८३ ॥

सतो गुणान्तराधानं प्रतियत्नः । अर्जयति । अयमर्थान्तरेऽपि दृश्यते, "द्रव्यमर्जयन् ब्राह्मणः प्रतिगृह्णीयात्" इति दर्शनात् । अर्जति इत्यर्जने शापि ॥

घुषिर् विशब्दने ॥ १८४ ॥

शब्दनं शब्देन स्वाभिप्रायप्रकाशनम्, ततोऽन्यद्विशब्दनम् । घुषिर-विशब्दने इति काश्यपः पपाठ । तथा च स्वामी—अविशब्दने इत्येके इति । तदसत्, भाष्यविरोधात् । यदाह घुषिरविशब्दने इत्यत्र—किमर्थं विशब्दन इत्युच्यते । न विशब्दने घुषेर्णिचा भाव्यमिति । एवं वृत्तिन्यासपदमञ्जर्यादिष्वपि स्थितम् । घुषिरविशब्दने इत्यत्रा-विशब्दनग्रहणमन्तरेण घुषिरित्येतावत्युच्यमानेऽपि भौवादिकस्य अवि-शब्दनार्थस्यैव अनन्तरा निष्ठा सम्भवतीति तस्यैव ग्रहणे सिद्धे पुन-र्विशब्दनप्रतिषेधादस्य णिज्विकल्पो ज्ञाप्यते । नित्ये हि णिचि तेन

व्यवधानाद्विशब्दनार्थादेतस्मादनन्तरा निष्ठा नेति किं प्रतिषेधेन । इदं च घोषतावुक्तं मन्दबुद्ध्यनुग्रहायेह स्मारितम् । एवंच इरित्वं अजुघुषत्, अघोषीत् इत्यत्र पक्षे अङर्थत्वेन अवयवे चरितार्थमिति अजूघुषत् इत्यत्र 'णिश्रि' इति चङं न बाधते । **घोषयति । घोषति ॥**

अवघुषितं—निष्ठायां इट्प्रतिषेधो भौवादिकस्यैवेत्युक्तम् ॥

आङः क्रन्द सातत्ये ॥ १८५ ॥

अत्र काश्यपमैत्रेयौ—आङः परः क्रन्दिः सातत्ये णिचमुत्पादयतीति । इदं च सातत्यं कुस्मयतेरनन्तरं मैत्रेयेण गणान्तरस्थान् धातूननूद्य पुनर्द्वितीयं परस्मैपदप्रकरणमधुनोच्यते इत्युक्तत्वादयमपि भौवादिकस्यानुवाद इति । तत्र[1] क्रन्देर्योऽर्थः आह्वानादिः तदपेक्षमिति बोद्धव्यम् । **आक्रन्दयति ॥**

आक्रन्दतीति आह्वानादौ शपि गतम् । क्रन्दते इति वैक्लव्ये घटादौ । स्वामी तु—आङ्पूर्वो घुषिः क्रन्द सातत्ये चुरादिः । आघोषयतीत्युक्त्वा मैत्रेयाद्युक्तमपरमाहुरित्याह ॥

लस शिल्पयोगे ॥ १८६ ॥

अत्र स्वामी—शिल्पोपयोग इति पठित्वा केचिन्मूर्धन्यान्तं पठन्तीति चाह । **लासयति ॥**

श्लेषणक्रीडनयोः लसतीति शपि ॥

---

[1] तच्च.

तसि भूष अलङ्कारे ॥ १८७-१८८ ॥

अवतंसयति । भूषयति ॥

भूषतीति शपि । तसेरिदित्त्वात् णिचो विकल्पे वतंसति अवतंसति । 'वष्टि भागुरिरल्लोपम्' इत्यल्लोपः । दौर्गास्तु शप्यपि पेठुः, तसि भूष अलङ्कार इति । पुरुषकारे तूक्तमुभयत्रापि भूष इत्येव बहव इति ॥

मोक्ष आसने ॥ १८९ ॥

मोक्षयति शरान् ॥

अर्ह पूजायाम् ॥ १९० ॥

अर्हयति । अर्हणा । शपि—अर्हति । अर्हा ॥

ज्ञा नियोगे ॥ १९१ ॥

अत्र नियोगः प्रेषणम्[1] । स्वभावादयमाङ्पूर्वः । आज्ञापयति ॥ मारणादौ ज्ञपयति इति गतं बोधनेऽपि । ज्ञाने तु ज्ञपयति ज्ञापयतीत्युभयम् । इदं च घटादौ 'ज्ञप मिच्च' इत्यत्र चोपपादितम् । श्नि जानातीति ॥

भज विश्राणने ॥१९२ ॥

भाजयति । भाज पृथक्कर्मणीति वक्ष्यमाणस्य च भाजयति । भञ्जयतीति भाषार्थेऽग्रे । भजति, भजते इति शपि सेवायाम् । भनक्ति इत्यामर्दने श्नमि ॥

---

[1] प्रेरणं.

शृधु प्रसहने॥ १९३ ॥

शर्धयति । अशशर्धत् । अशीशृधत् । उदित्त्वाच्छर्धतीत्यपि भवति । शर्धित्वा । शृद्ध्वा । शृद्धः । शर्धते इति शपि शब्द-कुत्सायां द्युतादिः । उन्दने हिक्कादौ शपि शर्धतीति च ॥

यत निकारोपस्कारयोः ॥ १९४॥

इति मैत्रेयः ॥

क्रियानिघण्टौ तु 'यत्ने प्रैषे निराकारे यातयेदप्युपस्कृतौ ' * इति। क्षीरस्वामी तु–निराकारोपस्कारयोः इति पाठो दृश्यते, निराकारः परिभव इति चाह । यातयति । निसश्च धान्यधनयोः प्रतिदाने च । ऋणं निर्यातयति । प्रतिददातीत्यर्थः ॥

यतते इति प्रयत्नार्थे शपि ॥

वस स्नेहनच्छेदनापहरणेषु ॥ १९५ ॥

छेदोपहरणेष्वित्येके । वासयति । अयं निवासे कथादिर्भूवादिश्च । वस्त इत्याच्छादने । वस्यतीति स्तम्भने । वास उपसेवायामिति दीर्घोपधश्च कथादौ ॥

---

* पण्डितपत्रे तु मुद्रितकोशे शोधकैर्यत् " यत्ने प्रैषे निराकारे पातयेत् " इति क्रियानिघण्टुवाक्यं पठित्वा " यत्नाद्यर्थेषु चतुर्षु यतधातुं पातयेत् प्रयुञ्जीत " इति व्याख्यातमध्याहाराप्रसिद्ध्यादिकबलितं तदेतेनाश्रद्धेयम् । यातयेदित्येवात्र कोशेषु पाठो दृश्यते; न पातयेदिति। यातयेदिति धातुरूपं यत्नप्रैषाद्यर्थवाचकमिति तु तदर्थः ॥

चर संशये ॥ १९६ ॥

चारयति । चरतीति गतौ शपि ॥

च्यु हसने ॥ १९७ ॥

सहन इत्येके । च्यावयति । च्यवत इति गतौ शपि । च्युने-त्येके इति स्वामी । च्योनयति ॥

भुवो कल्कने ॥ १९८ ॥

इह कल्कनं मिश्रीकरणमिति क्षीरस्वामीति पुरुषकारे । अवक-ल्कनं चिन्तनामिति काश्यपः । क्वचित्स्वामिग्रन्थे अनुकल्कन इति पठित्वा अनुकल्कनं मिश्रीकरणमिति दृश्यते । नन्दी तु भुवो विकल्कन इति विकल्कनं विपावनम् । तथा च प्रयुज्यते—'तपोभावितमात्मानं' इति । अवकल्कन इत्यपरे । तथा च धनपालः कृपेस्तादर्थ्ये इति पठित्वा अवकल्कयतीत्युदाजहार । तादर्थ्ये इति भुव इति पूर्वधातो-र्योऽर्थः तदर्थत्वे सतीत्यर्थः । भावयति भावयते इति प्राप्तौ युजादिः भवतीति शपि ॥

क्लृपेश्च कः[1] ॥

कल्पयति । सामर्थ्ये शपि । क्षीरस्वामी तु कृपेस्तादर्थ्ये इति पठित्वा तादर्थ्ये प्रस्तुतस्य भुवोऽर्थे मिश्रीकरणे । अथवा तच्छब्देन क्लृपिः परामृश्यते तस्य योऽर्थः सामर्थ्यलक्षणः तदर्थत्वे सतीत्यर्थद्वय-

[1] क्लृपेश्च इत्येव कौमुद्यां दृश्यते.

माह। एवंच 'भुवो विकल्कने' इति पाठस्य संवादत्वेनोक्तं अवकल्कयतीति धनपालोदाहरणं 'भुवोऽवकल्कने' इति पाठेऽप्युपपद्यते॥

रक लग आस्वादने ॥ १९९-२०० ॥

राकयति । लागयति । रघ लघ इत्येके इति मैत्रेयः । **राघयति । लाघयति ।** अपरे तु आद्यमपि रगेति तृतीयान्तं पठन्ति॥

रगयति । लगयति इति शङ्कायां सङ्गे च घटादौ ॥

अञ्चु विशेषणे ॥ २०१ ॥

विशेषणं व्यावर्तनम् । उदित्त्वात् विभाषितो णिच् । **अञ्चयति । अञ्चति ॥**

गतिपूजनयोरञ्चतीति भ्वादौ । गतियाचनयोः अञ्चते इत्यपि ॥

लिगि चित्रीकरणे ॥ २०२ ॥

लिङ्गयति । लिङ्गति । गतौ च शपि लिङ्गति ॥

मुद संसर्गे ॥ २०३ ॥

मोदयति सक्तून् घृतेन ॥

मोदते शपि हर्षणे ॥

त्रस धारणे ॥ २०४ ॥

ग्रहणे इति नन्दी । अत्र धारणं वारणमिति मैत्रेयः । वारणे इत्येव शाकटायनः । **त्रासयति मृगान् ॥**

त्रंसयतीति भाषणे भविष्यति । त्रस्यति त्रसतीति दिवादावुद्वेगे ॥

उ ध्रस उञ्छे ॥ २०५ ॥

क्रैयादिकस्य उकार इत्संज्ञकः । अस्य तु धातोरवयव इति काश्यपादिः । मैत्रेयस्तु पूर्व एवायं धातुरिह पठ्यते, तेनायमुदिदिति । अन्ये तूभयत्रापि धात्ववयव उकार इति । ध्रासयतीति मैत्रेयमते । अन्येषामुद्ध्रासयतीति ॥

मुच प्रमोचने ॥ २०६ ॥

मोचयति ॥

मुञ्चतीति कल्कने शपि । शे तु मुञ्चतीति मोक्षणे ॥

आ स्वदः सकर्मकात्

अत्रान्ये स्वाद इति दीर्घोपधं पठन्तो वक्ष्यमाणं स्वद आस्वादने इति धातुमपि दीर्घोपधं पठन्ति । आकुस्मादितिवदभिविधावयमाकारः । तेन ग्रसिप्रभृतिभ्यः ष्वद आस्वादने इति वक्ष्यमाणपर्यन्तेभ्यः सकर्मकेभ्य एव णिज्भवति । इदं च सकर्मकत्ववचनं कर्मसापेक्षक्रियामात्रवाचित्वेनाप्रयुज्यमानेऽपि कर्मण्ययं विधिर्भवति । अत एव हि मैत्रेयः—सम्भविकर्मकाण्णिजित्याह । उक्तं च पुरुषकारे—सम्भविकर्मकत्वकथनेन सत्यसति वा कर्मणः प्रयोगे तत्सम्भवमात्रेण णिज्भवतीत्युक्तं भवति । कर्मसम्भवः पुनरेकार्थत्वेन । अर्थान्तरवाचितायां यथाप्रयोगं द्रष्टव्य इति च । कर्मकर्तृविषयेऽप्यर्थान्तरवृत्तित्वं समानमिति न तस्येह पृथग्विषयत्वेनोपादानम् । अत्र केचित्पञ्चमीप्रक-

रणाभ्यां सन्निहितेन णिचा अर्थप्राप्तमेवकारं सम्बन्धयन्तः सकर्मकाण्णिजेव भवति । अकर्मकात्तु यथायोगमित्याहुः । तदसत् । एवकारस्य सकर्मकादिति श्रुतेनान्वयलाभे अश्रुतेनान्वयायोगात् । अनेन खल्वभिप्रायेण मैत्रेयादयः सकर्मकादेवेत्येवं व्याख्यन् । अत्र मतान्तरमप्याह मैत्रेयः—आ स्वद एव सकर्मकादित्येके इति । तथा च क्षीरस्वामी—आङ्पूर्वात्स्वदेः सकर्मकाण्णिज्भवतीति । अयं पक्षः पुरुषकारे दूषितः । तत्र चाभिविधिपक्ष एव युक्तः प्रत्यवभासते । इहाप्याङः पूर्वापरेष्विवाभिविध्यर्थताया एवौचित्यात् । आकुस्मादिति हि पूर्वत्राभिविधावाङ् दृष्टः; आधृषाद्वेति आङ्पूर्वादिति च समनन्तरमेवैवं वक्ष्यते । तत्रायमपि तन्मध्यपाती तच्छायश्चाङ् तदर्थ एव व्यक्तमवभासते । तदत्र पक्षान्तरं व्याचक्षाणानामाशयश्चिन्त्य इति ॥

ग्रस ग्रहणे ॥ २०७ ॥

ग्रासयति फलम् । ग्रसते इत्यदने शपि ॥

पुष धारणे ॥ २०८ ॥

पोषयति आभरणम् । पोषति, पुष्यति, पुष्णाति इति शप्श्यन्श्नासु पुष्टौ ॥

दल विदारणे ॥ २०९ ॥

दालयति । दलतीति विशरणे घटादौ ॥

पट पुट लुट तुजि मिजि पिजि लुजि भजि लघि त्रसि पिसि कुसि दशि

कुशि घट घटि बृहि बर्ह बल्ह गुप धूप विच्छ चीव पुथ लोकृ लोचृ णद कुप तर्क वृतु वृधु भाषार्थाः ॥ ॥ २१०—२४० ॥

मैत्रेयानुरोधेनायं पाठो दण्डकस्य । भासार्था इत्येके इति मैत्रेयः । तथा च क्षीरस्वामी—भासो दीप्तिरर्थो येषांते भासार्था इति । **पाटयति** । पटयतीति कथादौ ग्रन्थे । पटतीति गतौ शपि ॥

पोटयति । पुटयतीति संसर्गे कथादौ । संसर्गे पुटतीति शे ॥

लोटयति । शप्‍श्यनोर्लोटति लुट्यतीति लोडने । लोटते इति द्युतादौ प्रतिघाते । लुण्टतीति लुटि स्तेये शपि । लुण्टयतीति इहैव गतः ॥

तुञ्जयति । इदित्त्वात् **तुञ्जतीति** । हिंसायामिदितोऽनिदितश्च तुञ्जति तोजतीति शपि ॥

मिञ्जयति । इदित्त्वात् **मिञ्जति** ॥

पिञ्जयति, पिञ्जति । अदादौ वर्णे पिङ्क्ते ॥

लुञ्जयति, लुञ्जति ॥

भञ्जयति, भञ्जति ॥

भजतीति भज सेवायां शपि । भनक्तीत्यामर्दने श्नमि । भाजयतीति विश्राणने गतः । पृथक्कर्मणि च भविष्यति ॥

लङ्घयति, लङ्घति । शोषणे शपि लङ्घति । गत्यां तु लङ्घते ॥

त्रंसयति, त्रंसति । त्रासयतीति धारणे गतम् । त्रस्यति त्रसतीति उद्वेगे वा श्यनि ॥

पिंसयति, पिंसति । पेसयतीति गतौ गतम् । पेसतीति तु शपि ॥

कुंसयति, कुंसति । स्त्रीवेषधारित्वात् भ्रुवा कुंसयति पुरुषत्वमिति भ्रूकुंसः ॥

दंशयति, दंशति । दशतीति दंशने शपि ॥

कुंशयति, कुंशति ॥

घाटयति, अयं सङ्घाते गतः । पुनः पाठोऽर्थभेदादिति मैत्रेयः । घटत इति घटादौ चेष्टायाम् ॥

घण्टयति, घण्टति । **घण्टा** ॥

बृंहयति, बृंहति बर्हतीत्यनिदितो बृहेः शपि वृद्धौ । इदितस्तु बृहतीति शब्दे च ॥

बर्हयति । बल्हयति । बर्हते बल्हते इति प्राधान्ये शपि ॥

गोपयति । **धूपयति** । आये शपि रक्षणसन्तापयोः गोपायति धूपायतीति । गुप्यतीति व्याकुलत्वे श्यनि । सन्तापे धूपतीति शे ॥

विच्छयति । विच्छायतीति शे गतौ ॥

चीवयति ॥

पोथयति । हिंसायां पुथ्यतीति श्यनि । पुन्थतीति शपि संक्लेशे ॥

लोकयति । **अलुलोकत्** ॥

लोचयति । **अलुलोचत्** । ऋदित्त्वान्नाग्लोपीति ह्रस्वनिषेधः। लोचते । लोकते इति दर्शने शपि ॥

नादयति । नदतीति शपि शब्दे ॥

कोपयति । कुप्यतीति कोपे श्यनि ॥

तर्कयति । ऊहेऽप्ययमभिधीयत इति मैत्रेयः ॥

वर्तयति ॥

वर्धयति । उदित्त्वात् **वर्तति, वर्धतीति** च । वर्तते वर्धते इति वर्तन वृद्ध्योः शपि । वृत्त्यते इति वरणे श्यनि ॥

रुट लजि अजि दसि[1] भृशि रुशि रुसि शीक नट पुटि[2] जुचि रघि अहि रहि महि ॥ २४१—२५५ ॥

इत्येते पञ्चदश स्वामिकाश्यपानुसारेण लिख्यन्ते—

रोटयति । स्तेये शपि रुण्टति । प्रतिघाते द्युतादौ रोटते ॥

लञ्जयति, लञ्जति । लजति लञ्जति इति भर्त्सने शपि । लाजति, लाञ्जति इति च भर्त्सने शपि । लज्जते इति व्रीडे तुदादौ । प्रकाशे लञ्जयतीति कथादौ ॥

अञ्जयति, अञ्जति । अनक्तीति श्नमि व्यक्त्यादौ ॥

दंसयति, दंसति ॥

---

[1] अजि भ्राजि. [2] घुटि.

भृंशयति, भृंशति । भर्शति भृश्यतीति शप्श्यनोः अधःपतने ॥

रुंशयति, रुंशति ॥

रुंसयति, रुंसति ॥

शीकयति, शीकति । शीकते इति सेचने शपि ॥

नाटयति । अयमवस्यन्दने गतः । नटतीति नृत्ते घटादिः ॥

पुण्टयति, पुण्टति । परिवर्तने शपि पोटते[1] ॥

जुञ्चयति, जुञ्चति ॥

रङ्घयति, रङ्घति । गतौ शपि च रङ्घति ॥

अंहयति, अंहति । अंहते इति गतौ शपि ॥

रंहयति, रंहति । रहयतीति त्यागे कथादौ भविष्यति । मित्प्रकरणे च गतः ॥

ईहयति । ईहतीति गतित्यागयोः शपि ॥

मंहयति, मंहति । महयतीति कथादौ पूजायाम् । महतीति शपि । मंहते इति वृद्धौ । महीयते इति कण्ड्वादौ ॥

भजिपिसिलडिबृहितुडिनडीत्यन्ये पठन्तीति स्वामी । तत्राद्यौ बृहिश्च मैत्रेयानुरोधेनास्माभिः दण्डके पठिताः ॥

लण्डयति, लण्डति । लाडयतीत्युपसेवायां गतम् । विलासे लडतीति शपि ॥

तोडयति, तोडति । तुण्डते इति शपि । तोडने तुडतीति शे ॥

---

[1] घुण्टयति । घुण्टति । परिवर्तनेशपि घूटते ।

नाडयति । नडतीति गतौ शपि ॥

पूरी आप्यायने ॥ २५६ ॥

पूरयति । ईदित्त्वान्निष्ठायामनिडर्थादिस्यापि णिज्विकल्पितः । तेन पूरति ॥

पूर्यते इति श्यनि ॥

रुज हिंसायाम् ॥ २५७ ॥

रोजयति ॥

रुजतीति शे भङ्गे ॥

ष्वद आस्वादने ॥ २५८ ॥

स्वाद इत्येके । संवरण इति क्षीरस्वामिधनपालशाकटायनाः ॥

स्वादयति । असिष्वदत् । 'सः स्विदि' इति सत्वं ण्यन्तात्सनि ॥

स्वादते । स्वदते इति शपि ॥

आस्वदीयाः ॥

आ धृषाद्वा ॥

धृष प्रसहने इति वक्ष्यमाणसहिता विभाषितणिचो वेदितव्याः । आकुस्मादितिवत् अभिविधावाङ् ॥

युज पृच संयमने ॥ २५९—२६० ॥

योजयति । पर्चयति । अन्यत्र योजति । पर्चति । योक्ता ।

अयौक्षीत् । "त्यजि यजि युजिरुजि" इत्यनिट्कारिकापाठात् अनिट्त्वम् । पर्चिता । अपर्चीत् ॥

युनक्ति, युङ्क्ते योगार्थे श्नमि । श्यनि युज्यते इति समाधौ ॥

पृणक्ति संपर्के श्नमि । पृङ्क्ते इति लुकि ॥

अर्च पूजायाम् ॥ २६१ ॥

अर्चयति, अर्चतीति भौवादिकेन स्वरितेता अर्चिनैव सिद्धे णिज्विकल्पनं कर्तृगामिन्यपि फले अर्चतीति यथा स्यादिति । शाकटायनस्त्वयमात्मनेपदीति । तन्मते णिज्विकल्पस्य फलमकर्त्रभिप्रायेऽपि तङ्सिद्धिरिति बोद्धव्यम् ॥

षह मर्षणे ॥ २६२ ॥

साहयति, सहति । सहते इति शप्यनुदात्तेतः । अस्येह पाठो वृत्तिकारादीनामनभिमत इति दिवादावेवावोचाम ॥

ईर क्षेपे ॥ २६३ ॥

ईरयति, ईरति । ईरिता ॥

लुकि ईर्ते गतिकम्पनयोः ॥

ली द्रवीकरणे ॥ २६४ ॥

लाययति, लयति ॥

लेता—'श्विडीङिवर्णेष्वथ शीङ्श्रिञावपि' इत्येत एवेवर्णान्तेषु सेट इति नियमान्नेट् । 'विभाषा लीयतेः' इत्यात्वविकल्पमस्यापीच्छन्मैत्रेयो 'लीलोर्नुग्लुकौ' इत्यात्वपक्षे लुकौ विकल्पनाल्लुकं पुकं चोदाजहार । अनात्वे तु नुकम् । तदभावे वृद्ध्यायौ च । तदयुक्तम्—"आत्वे लीनातिलीयत्योः यका निर्देशः" इति भाष्ये उक्तत्वादस्यात्वाभावात् । पुरुषकारेऽप्युक्तं—देवेनास्यात्वे लुगादिप्रदर्शनं मैत्रेयविस्रम्भात् । अयुक्तं चेदं भाष्यविरोधादिति ॥

श्लेषणे श्यनि लीयते । लीनातीति श्नि ॥

वृजी वर्जने ॥ २६५ ॥

वर्जयति । वर्जति । वर्जिता । ईदित्त्वं निष्ठायामनिडर्थं—वृक्त इति ॥

वृङ्क्ते वृणक्तीति लुकूक्षमोः ॥

वृञ् आवरणे ॥ २६६ ॥

वारयति । वरति, वरते । वरिता, वरीता—इटो दीर्घविकल्पः । आत्मनेपदेषु लिङ्सिचोः सनि च 'लिङ्सिचोरात्मनेपदेषु' 'इट्सनि वा' इतीड्विकल्पः । लिङि परस्मैपदपरे सिचि च 'न लिङि' 'सिचि च परस्मैपदेषु' इतीटो दीर्घाभावश्च वृञ्वन्नेयः । ञित्त्वादुभयपदित्वम् ॥

वृणोति, वृणुते इति श्नौ । वृणीते इति संभक्तौ श्नि ॥

जॄ वयोहानौ ॥ २६७ ॥

जारयति, जराति । जरिता, जरीता—'वृतो वा' इत्यादि जीर्यतिजृणातिवत् ॥

ज्रि इति नन्दी । **ज्राययति । ज्रयति** । क्रैयादिकोप्येवमिति सः । जृणाति ॥

रिच वियोजनसंपर्चनयोः ॥ २६८ ॥

रेचयति, रेचति । रेक्ता—अनिड्कारिकापाठादनिट्त्वम् ॥

विरेचने रिङ्क्ते रिणक्तीति श्नमि ॥

शिष असर्वोपयोगे ॥ २६९ ॥

शेषयति, शेषति । शेष्टा—'शिषिं पिषिं' इत्यनिड्कारिकासु पाठादनिट्त्वम् । अत एव लुङि अशिक्षत् इति क्सो भवति । लुङ्चङोऽभावात् अशेषीत् इति देवेन यदुक्तं तदस्यानिट्त्वादयुक्तमिति पुरुषकार एव दूषितम् ॥

शिनष्टीति विशेषणे श्नमि । विपूर्वोतिशये—**विशेषयति । विशेषति** ॥

तप दाहे ॥ २७० ॥

तापयति, तपति । तप्ता—'तपिं तिपिं' इति वचनात् अनिट्त्वम् ॥

तपतीति शपि सन्तापे । तप्यते, तपति इत्यैश्वर्ये वा दिवादित्वात् ॥

तृप तृप्तौ ॥ २७१ ॥

सन्दीपने इति क्षीरस्वामी । **तर्पयति, तर्पति । तर्पिता**—अनिङ्कारिकायां तृप्यतीति श्यना निर्देशान्नास्यानिट्त्वम् ॥

तृपति, तृम्पतीति शे । तृप्यतीति श्यनि । अस्य स्वादौ पाठो वृत्तिकारादीनामनभिमतः इत्यवोचाम ॥

छृदी सन्दीपने ॥ २७२ ॥

छर्दयति । छर्दति । छर्दिता । छर्दिष्यति—'सेऽसिचि' इतीड्विकल्पः कृदादिसाहचर्याद्रौधादिकस्य । अत एवायं निष्ठायामनिडर्थमीदित्पठ्यते—**छृण्णः, छृण्णवान्** इति ॥

चृन्ते चृणत्तीति दीप्तिदेवनयोः श्नमि । धनपाल[1]शाकटायनौ तु छृदेत्यनीदितं पेठतुः । तत्र निष्ठायां छृदितमिति फले भेदः । क्षीरस्वामिनस्तु[2] पान्तोऽयं, यदाह—चृप छृप तृप दृप सन्दीपने । सन्दीपनक्रियायां चृपादयश्चत्वारो वर्तन्त इति । चर्पयति । छर्पयति । तर्पयति । दर्पयति ॥

दृभी ग्रन्थे[3] ॥ २७३ ॥

दर्भयति, दर्भति । दर्भिता । दृब्धः—ईदित्त्वादनिट्त्वम् ॥

दृभ संदर्भे ॥ २७४ ॥

अस्यानिदित्त्वान्निष्ठायां सेट्त्वं विशेषः । अमुं बहवो न पठन्तीति पुरुषकारे । अस्माभिस्तु देवमैत्रेयानुसारेण पठितः ॥

---

[1] क्षीरस्वामि. [2] धनपालस्य तु. [3] भये.

तुदादेरिदितो ग्रन्थने दृभतीति ॥

श्रथ मोक्षणे ॥ २७५ ॥

हिंसायामित्यपरे इति पुरुषकारे । **श्राथयति, श्रथति ॥**

श्राथयतीति प्रयत्नेऽपि गतः । श्रथयतीति कथादौ दौर्बल्ये ॥

मी गतौ ॥ २७६ ॥

माययति । मयति । मेता—'श्विडीङिवर्णेष्वथ शीङ्-श्रिञावपि' इति नियमान्नेडागमः । 'सनिमीमा' इत्यत्राचौरादिकैः साहचर्यात्तादृश एव गृह्यते इति मिमीषति इत्यत्र अच इस्भावो न भवति ॥

मीञो मिनाति मीनीते हिंसायाम् । मीयते ङितः । मिनोति मिनुते स्वादौ ह्रस्वान्तस्य ॥

ग्रन्थ[1] बन्धने ॥ २७७ ॥

ग्रन्थयति । ग्रन्थति—अत्र देवमैत्रेयौ क्रथ हिंसायां इति स्वरितेतं पठित्वा क्राथयति । क्रथति । क्रथते इत्याहतुः । शाकटायनस्तु—परस्मैपदिनम् । 'जासिनि' इत्यत्र क्राथ इति निपातनात् वृद्धिरित्युक्तत्वात् वृत्तिकारादीनामनभिमतश्चुरादौ पाठ इति घटादौ क्रथतीत्यत्रावोचाम ॥

शीक मर्षणे ॥ २७८ ॥

शीकयति, शीकति । शीकिता ॥

---

[1] अत्र कतिपयकोशेषु श्रथेति पठित्वा श्रथयतीत्याद्युदाहृतम्.

सेचने शपि शीकते ॥

चीक च ॥ २७९ ॥

चीकयति, चीकति । चीकिता ॥

अर्द हिंसायाम् ॥ २८० ॥

अर्दयति, अर्दति, अर्दते—अयं स्वरितेदिति देव[1]मैत्रेयौ । आत्मनेपदीति शाकटायनः ॥

गतियाचनयोरर्दतीति शपि ॥

हिसि हिंसायाम् ॥ २८१ ॥

हिंसयति, हिंसति—इदित्त्वादेव णिज्विकल्पः सिद्ध इति युजादिपाठे प्रयोजनं चिन्त्यम् ॥

हिनस्तीति श्नमि ॥

आङः षदः पद्यर्थे ॥ २८२ ॥

पद्यर्थो गतिः । आसादयति । आसीदतीति शपि सीदादेशः ॥

आसत्ता । आसात्सीत् । 'शदिं सदिं स्विद्यतिपद्यती खिदिं' इत्यनिट्कारिकायां पाठादनिट्त्वम् ॥

विसरणार्थकस्य ज्वलादिकस्य तौदादिकस्य च लृदित्त्वादाङि आसदत् इति ॥

---

[1] स्वामि.

शुन्ध शौचकर्मणि ॥ २८३ ॥

शुन्धयति, शुन्धति । शुन्धिता ॥

शुन्धतीति शपि शुद्धावकर्मकः ॥

छद अपवारणे ॥ २८४ ॥

स्वरितेदिति मैत्रेयदेवौ । परस्मैपदीति शाकटायनः । **छादयति, छदति** । छदयतीत्यूर्जने घटादौ । छन्दयतीतीहैव संहरणे गतः ॥

जुष परितर्कणे ॥ २८५ ॥

परितर्कणमूहो हिंसा वा । परितर्पणे परितृप्तिक्रियायामिति क्षीरस्वामी । **जोषयति, जोषति** ॥

प्रीतिसेवनयोः जुषते इति तुदादौ ॥

धूञ् कम्पने ॥ २८६ ॥

धूनयति । धवति, धवते । 'धूञ्प्रीञोर्नुग्वक्तव्यः' इति नुक् । 'धूञ्प्रीणोः' इति हरदत्तकौमारादीनां पाठः । तन्मते प्रीणातिसाहचर्यात् धूञोपि क्रैयादिकस्यैव नुका भाव्यम् । अत एवात्र मैत्रेयो धावयतीत्युदाजहार । एवञ्च स्वादौ दीर्घवादिनामपि धावयतीति भवति । धुनाति धुनीते इति क्र्यादौ । धुनोति धुनुत इति स्वादौ । धूनोति धूनुते इति च तत्रैव विधूनने । शे धुवतीति कुटादिः ॥

प्रीञ् तर्पणे ॥ २८७ ॥

अत्र केचन धातुवृत्तिकाराः—'धूञ्प्रीञोर्नुग्वक्तव्यः' इति पठन्तः प्रीणयतीत्युदाहरन्ति । हरदत्तस्तु—'धूञ्प्रीणोः' इति श्नान्तानुकरणाद्दैवादिकस्य नेत्याह । दैवादिकग्रहणेनात्र चौरादिकोप्युपलक्षयितव्य इति पुरुषकारे । तन्मते प्राययतीत्येव भाव्यम् । मैत्रेयोप्यनेनैवाभिप्रायेण प्राययतीत्युदाजहार ॥

श्रन्थ ग्रन्थ सन्दर्भे ॥ २८८-२८९ ॥

श्रन्थयति । ग्रन्थयति । श्रन्थति । ग्रन्थति—'णिश्रन्थिग्रन्थि' इति वचनात् **ग्रन्थयते स्वयमेवेति** भवति ॥

श्रथ्नाति ग्रथ्नातीति श्नि । श्रन्थते ग्रन्थते इति शैथिल्यकौटिल्ययोः शपि ॥

आपॢ लम्भने ॥ २९० ॥

आपयति, आपति । ऌदित्त्वाल्लुङ्च्यङि—**आपत्** । **आप्ता** । 'तपिं तिपिं चापि' इति कारिकापाठादनिट्त्वम् । मैत्रेयेण आपते इत्यात्मनेपदमपि दर्शितम् । अन्ये तु नैतन्मृष्यन्ति ॥

तनु श्रद्धोपकरणयोः ॥ २९१ ॥

उपसर्गाच्च दैर्घ्ये । **तानयति** । **वितानयति** । **तनति** । **वितनति** ॥

तनुते इति विस्तारे । अत्र क्वचित् चन श्रद्धोपहिंसनयोः इति पठ्यते । **चानयति; चनति** । चनयतीति घटादौ ॥

वद सन्देशवचने ॥ २९२ ॥

स्वरितेत् । शाकटायनस्य त्वात्मनेपदी । **वादयति, वदति, वदते** । व्यक्तवाचि शपि वदति ॥

वच परिभाषणे ॥ २९३ ॥

वाचयति, वचति । वक्ता । अवाक्षीत्—अङ्विधौ वक्तीति लुग्विकरणस्य निर्देशान्नास्य ग्रहः । 'पचि वचिम्' इति पाठादनिट्त्वम् । पारायणे अयं नाधीयते ॥

मान पूजायाम् ॥ २९४ ॥

मानयति, मानति । मानिता—'मान्बध' इत्यत्र[1] "न ह्येतेभ्यः प्राक् सन आत्मनेपदं नापि परस्मैपदं पश्यामः" इति भाष्यं भौवादिकस्य विचारणार्थस्यैव नित्यसन्नन्तत्वं प्रतिपादयतीत्यस्मात् लिडाद्युत्पत्तिः ॥

स्तम्भे मानयते इत्याकुस्मीयः । मन्यते मनुते इति दिवादौ तनादौ च ॥

---

[1] इयं च विषयसप्तमी, तथा च मान्बधादिविषयकं गुप्तिजादिसूत्रस्थं भाष्यमित्याशयः । उक्तं च—"गुपादिष्वनुबन्धकरणमात्मनेपदार्थं" इति गुप्तिजादिसूत्रभाष्यवाक्यसमानं वृत्तिवाक्यमुपादाय "गुपादिष्विति बहुवचनं मान्बधादिसूत्राभिप्रायं" इति हरदत्तेन । तेन "मान्बध" इत्यादिसूत्रभाष्यादर्शनाक्षेपः पण्डितपत्रे उद्वङ्कितः अनादरणीयः ॥

भू प्राप्तौ आत्मनेपदी[1] ॥ २९५ ॥

अयं प्राप्तौ वा णिचमुत्पादयति आत्मनेपदी चेत्यर्थः । अत्र केचिदात्मनेपदं णिच्सन्नियोगेनैव तेनान्यदा नेत्याहुः । मैत्रेयस्तु—आकुस्मीयप्रकरणे "भू प्राप्तौ वा" इति लघुनैव न्यासेन णिचात्मनेपदे वाग्रहणात् णिचो विकल्पे च सिद्धे पुनरिह पठित्वा आत्मनेपदीति वचनाणिजभावेऽप्यात्मनेपदमित्याह । इदं च पुरुषकारे दूषितम्—आकुस्मीयकाण्डे—"भू प्राप्तौ वा" इति पठ्यमाने अनन्तरप्रकृतस्यात्मनेपदस्य विकल्पः स्यात् न तु परमप्रकृतस्य[2] णिच इति । ण्यभावे परस्मैपदमुदाहरन्तौ धनपालशाकटायनावप्यत्रैवानुकूलाविति चोक्तम् । तथा भूसूत्रे सुधाकरोपि—भवत इति प्रस्तुत्य आत्मनेपदं मैत्रेयोक्तेन कारणेन सामर्थ्याणिणिच्सन्नियोगेन आत्मनेपदित्वादसाधनम् । अत एव "ते सुराष्ट्रमभवन्" इत्यादि प्रयुज्यते इत्याह । अन्ये तु—पुराणव्याकरणेषु 'भुवो णिङ्' इति सूत्रस्य णिङो ङकारः प्रत्ययान्तादात्मनेपदार्थः प्रकृतौ तु केवलादिति श्रीभद्रादिभिर्व्याख्यानात् तन्त्रान्तरवचनानुरोधाय सन्नियोगन्यायो बाध्यत इत्याहुः । तथा च 'वर्षाभ्वश्च' इत्यत्र कैयटेन "वर्षासु भवति वर्षा वा भवते" इत्यात्मनेपदं दर्शितम् । **भावयते । भवते । भविता ॥**

गर्ह निन्दने ॥ २९६ ॥

गर्हयति, गर्हति ॥

गर्हते इति शपि ॥

---

[1] आत्मनेपदीवा इति मुद्रितकोशपाठः. [2] न पुनरप्रकृतस्य.

मार्ग अन्वेषणे ॥ २९७ ॥

मार्गयति । मार्गिता । मार्गमाणः इति चानशि । मृगयते इति कथादौ ॥

कठि शोके ॥ २९८ ॥

कण्ठयति । कण्ठति । कण्ठिता ॥

कण्ठते इति शपि । कठतीति तु कृच्छ्रजीवने । कठिः प्रायेणोत्पूर्वः उत्कण्ठावचनः ॥

मृजू शौचालङ्कारयोः ॥ २९९ ॥

मार्जयति, मार्जति । मार्जिता, मार्ष्टा—ऊदित्त्वादिड्विकल्पः ॥

निष्ठायां मृष्टः । वृद्ध्यादि मार्ष्टिवत् ॥

मार्जयतीति शब्दे गतम् ॥

मृष तितिक्षायाम् ॥ ३०० ॥

पुरुषकारेण—"अयं स्वरितेत्" इत्युक्त्वा "शाकटायनस्य त्वात्मनेपदी" इयुक्तम् । मर्षयति । मर्षति । मर्षते ॥

मृष्यति मृष्यते इति दिवादौ । सेचने शपि मर्षति ॥

धृष प्रसहने ॥ ३०१ ॥

आदित् शाकटायनस्य । धर्षयति । धर्षति । धर्षिता । धर्षितः । शाकटायनस्य तु धृष्टः ॥

धृष्णोतीति श्नौ ॥

इति आधृषीयाः ॥

एषु पश बन्धने इति केचित्पठन्ति । तदुक्तं मैत्रेयण पश बन्धने इत्यत्र—पष बन्धन इति युजादाविति ॥

कथ वाक्यप्रबन्धे ॥ ३०२ ॥

कथयति । एतदादयोऽदन्ताः । तत्फलं च कथयतीत्यादौ अल्लोपस्य स्थानिवद्भावाद्यथायोगं वृद्धिगुणयोरभावः । तथा अचकथत् इत्यत्र 'सन्वल्लघुनि' इतीत्वस्य 'दीर्घो लघोः' इति दीर्घस्य च 'अनग्लोपे' इति निषेधः । अन्यदपि प्रयोजनं तत्र वक्ष्यते ॥

वर ईप्सायाम् ॥ ३०३ ॥

वरयति ॥

वारयतीति वृञः ॥

गण संख्याने ॥ ३०४ ॥

गणयति । **अजीगणत्** । **अजगणत्**—'ई च गणः' इति णौ चङि ईत्वात्वे । इह संख्यानं नाम संख्यानिमित्तज्ञानविशेषो भागशोऽवस्थापनं च । तत्राद्योऽर्थः कर्तृस्थो भाव इति न कर्मकर्ताऽस्ति तत्र । इतरत्र तु कर्मस्थभावकत्वात् **गणयते गणः स्वयमेव** इति भवति । भागशोऽवस्थाप्यमानो गणः तत्रानुकूलत्वात्स्वयमेव भागशोऽ[1]वतिष्ठत इत्यर्थः । अवस्थानं हि कर्मस्थो भावः । यक्चिणौ तु 'णिश्रन्थिग्रन्थि' इति न भवतः । एवं च 'णेरणौ' इत्यत्र "गणयति गणः

[1] भावभागशो.

स्वयमेव " इति वृत्तिस्थस्य "गणयते गणः स्वयमेव " इति भाष्यस्थस्य चोदाहरणस्य विरोधोपि न भवति ॥

गणिका—ण्वुलि 'प्रत्ययस्थात्' इतीत्वम् । गणिकानां समूहो गाणिक्यम् । 'गणिकायाश्चेति वक्तव्यम्' इति यञ् ॥

शठ श्वठ सम्यगवभाषणे ॥३०५-३०६॥

अभाषण[1] इति केचित् । **शठयति** । **श्वठयति** ॥

शाठयति । श्वाठयतीति गत्यादौ गतम् । शाठयते इति श्लाघायामाकुस्मीयः । शठतीति कैतवादौ शपि ॥

पट वट ग्रन्थे ॥ ३०७—३०८ ॥

वट वेष्टने इति क्षीरस्वामी । **पटयति** ॥

पाटयतीति भाषार्थे गतः । पटतीति गतौ शपि ॥

वटयति । वेष्टने शपि वटति । तस्य कारिते वाटयति । वटयतीति परिभाषणे घटादिः । ओष्ठ्यादिं बहवः पठन्तीति तत्रैवोक्तम् ॥

रह त्यागे ॥ ३०९ ॥

रहयति । **अररहत्** । रहतीति शपि । गतौ तु रंहति ॥

स्तनगदी देवशब्दे ॥ ३१०—३११ ॥

द्विवचननिर्देशो वैचित्र्यार्थ इति मैत्रेयः । 'अच्दन्त्यपराः' इति षोपदेशलक्षणं स्मिङ्स्विदाद्येकाच्साहचर्यात् अनेकाक्षु न प्रवर्तते ।

[1] आभाषण.

स्तनयति । **अतस्तनत्** । **तिस्तनयिषति** इत्यत्र अषोपदेशत्वात् षत्वं न भवति । **अभिनिस्तनो मेघस्य** इत्यत्र अभिनिष्ठानवन्नायं शब्दविशेषस्य संज्ञेति 'अभिनिसस्तनः' इति षत्वं न भवति । **गदयति** । स्तनति । गदतीति शपि ॥

स्तनयित्नुः—'स्तनिहृषिपुषिगदिमदिभ्यो णेरित्नुच्' इति इत्नुच् । 'अयामन्त' इत्ययादेशः ॥

पत गतौ वा ॥ ३१२ ॥

वाशब्दं केचिन्न पठन्तीति पुरुषकारे । अयं विकल्पेन णिचमुत्पादयति—**पतयति पततीति** । तत्र भूवादिपाठादेव पततीति सिद्धे णिज्विकल्पस्य प्रयोजनमस्यानेकाच्त्वात् **पतयाञ्चकार** इत्याम्सिद्धिः । तथा **अपतीत्** इत्यस्य लृदित्त्वाभावेन अङभावात्सिचिसिद्धिरिति पुरुषकारादौ । अन्ये तु वाशब्दमेवं व्याचक्षते—न्यायतस्त्वनन्तरत्वात् अदन्तत्वस्यैव विकल्पनं युक्तं न तु परमप्रकृतस्य णिचः । तेन पतयति पातयति इत्युदाहर्तव्यम् । उक्तं च स्वेनैव पुरुषकारकृता "भू प्राप्तावात्मनेपदी" इत्यत्र "आकुस्मादात्मनेपदी" इति प्रकरणे—"भू प्राप्तौ वा" इति वक्तव्ये आत्मनेपदीति वचनं केवलाण्णिजन्तादप्यात्मनेपदं यथा स्यादिति मैत्रेयग्रन्थदूषणावसरे "यदि खल्वाकुस्मीयकाण्डे भू प्राप्तौ वेत्युच्येत तदा अनन्तरस्य विधिर्वा भवति प्रतिषेधो वेति न्यायेन अनन्तरप्रकृतस्यात्मनेपदित्वस्यैव विकल्पः प्रतीयेत न पुनर्महाप्रकृतस्य चुरादिणिचः" इति । अत्र स्वामी—संहितया धातुपाठाद्वा शब्दमुत्तरधातुशेषं व्याचष्टे । तत् निपातस्य वाशब्दस्य चशब्दादिवत् पूर्वप्रयोगो नेति हेलाराजीयादौ समर्थनादयुक्तम् ॥

पतयालुः—'स्पृहिगृहिपति' इत्यादिना आलुच् ॥

पष अनुपसर्गात् ॥ ३१३ ॥

गताविति अत्रापि सम्बध्यते । **पषयति** । सोपसर्गात् आपाषयतीति[1] । अत्र केचित् तालव्यान्तं पठन्तो वाग्रहणं चानुवर्त्यादन्तत्वं विकल्पयन्ति स्वाम्यनुसारिणः । अत्रादन्तत्वविकल्पनं अनन्तरत्वाद्युक्तम् । तालव्यान्तत्वं तु पुरुषकारोपि न सहते । यदाह—पाषाणादिस्तु पष अनुपसर्गात् इत्यस्मात् भविष्यतीति ॥

स्वर आक्षेपे ॥ ३१४ ॥

स्वरयति ॥

स्वरतीति शब्दोपतापयोश्शपि ॥

रच प्रतियत्ने ॥ ३१५ ॥

रचयति ॥

कल गतौ संख्याने च ३१६ ॥

कलयति ॥

कालयतीति क्षेपे गतम् । कलतीति शपि ॥

चह परिकल्कने ॥ ३१७ ॥

परिकल्कनं दम्भः । **चहयति** । मित्प्रकरणे इह च पाठस्य तत्रैव प्रयोजनमुक्तम् ॥

चहतीति शपि ॥

---

[1] प्रपषतीति.

मह पूजायाम् ॥ ३१८ ॥

महयति ॥

महतीति शपि महि वृद्धावित्यस्य । मंहते इति क्षीरस्वामी । तन्मतेन महिर्भाषार्थोऽत्रैव दण्डके गतः ॥

सार कृप श्रथ दौर्बल्ये ॥ ३१९—३२१ ॥

सारयति । कृपयति ॥

कल्पयतीति कृपेस्तादर्थ्ये इत्यस्य गतम् । कल्पते इति कृपेश्शपि ॥

श्रथयति । श्राथयतीति प्रयत्ने गतः । मोक्षणे श्राथयति, श्रथतीत्याधृषीयः ॥

स्पृह ईप्सायाम् ॥ ३२२ ॥

पुष्पेभ्यः स्पृहयति—'स्पृहेरीप्सितः' इति ईप्सितस्य संप्रदानत्वम् ॥

स्पृहयालुः—'स्पृहिगृहि' इत्यादिनाऽऽलुच् ॥

भाम क्रोधे ॥ ३२३ ॥

भामयति । भामते इति शपि ॥

सूच पैशुन्ये ॥ ३२४ ॥

सूचयति । अज्दन्त्यलक्षणस्य एकाज्विषयत्वादषोपदेशत्वात् सो-

सूच्यते इत्यादौ न षत्वम् । 'सूचिसूत्रि' इत्यादिना यङ् ॥

खेट भक्षणे ॥ ३२५ ॥

तृतीयान्त इति दुर्गः । खेटयति । आखेटना । खोट इत्येके । खोटयतीति मैत्रेयः । खेटति इत्युत्त्रासे शापि ॥

क्षोट[1] क्षेपे ॥ ३२६ ॥

क्षोट[1]यति ॥

गोम उपलेपने ॥ ३२७ ॥

गोमयति ॥

कुमार क्रीडायाम् ॥ ३२८ ॥

कुमारयति ॥

शील उपधारणे ॥ ३२९ ॥

उपधारणमभ्यासः । शीलयति । शीलितः । 'मतिबुद्धि' इत्यत्र चकारस्य अनुक्तसमुच्चयार्थत्वात् वर्तमाने क्तः । समाधौ शीलतीति शापि ॥

साम सान्त्वप्रयोगे ॥ ३३० ॥

सामयति । साम सान्त्वने इति पठितस्य इह पाठो अग्लोपित्वात् अससामत् इति सिद्धये ॥

---

[1] कोट.

वेल कालोपदेशे ॥ ३३१ ॥

वेलयति । वेला ॥

काल इत्यपि धातुरिति मैत्रेयः । कालयति । वेलयतीति शपि चलने ॥

पल्पूल लवनपवनयोः ॥ ३३२ ॥

पल्पूलयति । पल्पूलनं शोधनद्रव्यमिति "नास्य पल्पूलनेन वासः पल्पूलयेयुः"[1] इत्यत्र भाष्यम् ॥

वात सुखसेवनयोः ॥ ३३३ ॥

गतिसुखसेवनेष्वित्येके[2] । वातयति ॥

गवेष मार्गणे ॥ ३३४ ॥

गवेषयति ॥

वास उपसेवायाम् ॥ ३३५ ॥

वासयति । वसेरपि स्नेहनादौ वासयतीति गतम् । वसतीति वस निवासे इत्यस्य शपि । अयं कथादावपीति दैवपुरुषकारयोः । वस्ते इत्याच्छादने शब्लुकि । वस्यतीति स्तम्भने श्यनि ॥

निवास आच्छादने ॥ ३३६ ॥

निवासयति । अत्र केचित्—"पितेव पुत्रं दसये वचोभिः"[3]

---

[1] तै. सं. २-५-५. [2] गतिसुखसेवनयोरित्येके. [3] तै. सं. ४-२-५.

इत्यत्र क्षुरे "पितेव पुत्रं दसये निरवसाययामि स्तुतिभिः" इति व्याख्यानात् "दस निरवसाने" इति पठन्ति । भट्टभास्करेण त्वाकुस्मीयेषु दस दसि दंसनदर्शनयोः इति पठित्वा धातूनामनेकार्थत्वेन वचोभिः स्तुतिभिः संगृह्णामि यथा पिता दुश्शीलं पुत्रं स्तुतिपदैरिति व्याख्यातम् । तस्मात् क्षुरेऽपि आकुस्मीय एव निरवसानार्थः कथित इति वक्तुं शक्यत्वान्नैतावता कथादौ धात्वन्तरं शक्यते कल्पयितुम् ॥

भाज पृथक्कर्मणि ॥ ३३७ ॥

विभाजयति ॥

सभाज प्रीतिदर्शनयोः ॥ ३३८ ॥

प्रीतिसेवनयोरित्यन्ये । सभाजयति ॥

ऊन परिहाणे ॥ ३३९ ॥

ऊनयति । मा भवानुनिनत् ॥

मासेनोनः मासोनः—'पूर्वसदृशसमोनार्थ' इति तृतीयासमासः ॥

ध्वन शब्दे ॥ ३४० ॥

ध्वनयति । ध्वनतीति शपि ॥

कूट परिहासे ॥ ३४१ ॥

परिदाह इत्यन्ये । कूटयति । कुटयतीति अवसादे आकुस्मीयः । अर्थभेदाः पाठभेदाश्च तत्रैव दर्शिताः ॥

सङ्केत ग्राम कुण गुण चामन्त्रणे ॥

॥ ३४२—३४५ ॥

चकारेण कूट इत्यपेक्ष्यत इति मैत्रेयः । **कूटयति** । **सङ्केतयति** । **ग्रामयति** । **कुणयति** । कुणतीति शब्दोपकरणयोश्शे । **गुणयति** ॥

अपरे तु पठन्ति—केत स्रावणे निमन्त्रणे च । केतयति । निकेतयति । कुण गुण चामन्त्रणे । चकारात् केत चेति । कूण संकोचने इति चात्र पठन्ति ॥

स्तेन चौर्ये ॥ ३४६ ॥

अनेकाच्त्वादषोपदेशत्वम् । **स्तेनयति** । **अतिस्तेनत्** । **स्तेनः**। **स्तेयम्**—'स्तेनाद्यन्नलोपश्च' इति भावकर्मणोर्यन्नलोपौ । **स्तैन्यम्** । स्तेनात् इति योगविभागात् ष्यञ् ॥

आ गर्वादात्मनेपदिनः ॥

इतः परे गर्व माने इति वक्ष्यमाणपर्यन्ता आत्मनेपदिनः ॥

पद गतौ ॥ ३४७ ॥

पदयते । **अपपदत** ॥

पद्यते इति श्यनि ॥

गृह ग्रहणे ॥ ३४८ ॥

गृहयते । **गृहयालुः** । 'स्पृहिगृहि' इत्यादिना आलुच् ॥

गर्हते इति गृहेर्गर्हेश्च शपि । तत्रान्त्यः कुत्सार्थः । गृह्णाति गृह्णीते इत्युपादानार्थस्य प्रसारिणः क्र्यादेः । गर्हयति गर्हतीति गर्हेराधृषीयस्य निन्दार्थस्य ॥

मृग अन्वेषणे ॥ ३४९ ॥

मृगयते । मृग्यतीति कण्ड्वादिपाठादिति मैत्रेयः । मार्गयति मार्गतीति मार्गेराधृषीयस्य ॥

कुह विस्मापने ॥ ३५० ॥

कुहयते । कुहना । कुहूः । बाहुलकादूप्रत्यये कुहूशब्दमाह मैत्रेयः ॥

शूर वीर विक्रान्तौ ॥ ३५१–३५२ ॥

शूरयते । वीरयते । शूर्यत इति हिंसास्तम्भनयोः श्यनि ॥

स्थूल परिबृंहणे ॥ ३५३ ॥

स्थूलयते । अतुस्थूलत । स्थूलः । स्थविष्ठः । स्थवीयान् । 'स्थूलदूर' इत्यादिना यणादि लुप्यते । पूर्वस्य च गुणः । पृथ्वादिष्वपाठात् इमनिजस्य नास्तीति नोदाहृतम् ॥

स्थावयति । 'णाविष्ठवत्' इति यणादिलोपो गुणश्च ॥

अर्थ उपयाच्ञायाम् ॥ ३५४ ॥

अर्थयते । आर्तितथ । अर्तिथयिषते । 'प्रार्थयन्ति शयनोत्थितं प्रियाः' इत्यादि कृदन्तात्तत्करोतीति णिचि नेयम् ॥

सत्र सन्तानक्रियायाम् ॥ ३५५ ॥

सत्रयते ॥

गर्व माने ॥ ३५६ ॥

गर्वयते ॥

आगर्वीयाः । गर्वतीति शपि ॥

सूत्र वेष्टने ॥ ३५७ ॥

अन्ये तु विमोचने इति पठन्तो विमोचनं मोचनाभाव इति । ग्रन्थनमित्यपरे । सूत्रयति । सोसूत्रयते । 'सूचिसूत्रि' इति यङ् ॥

मूत्र प्रस्रवणे ॥ ३५८ ॥

मूत्रयति । मोमूत्रयते । पूर्ववद्यङ् ॥

रूक्ष[1] पारुष्ये ॥ ३५९ ॥

रूक्ष[1]यति । रुक्षतीति शपि ॥

पार तीर कर्मसमाप्तौ ॥ ३६०–३६१ ॥

पारयति । तीरयति ॥

पुट संसर्गे ॥ ३६२ ॥

पुटयति । पोटयतीति भाषार्थो दण्डके गतः । पुटतीति संश्लेषे तुदादिः ॥

---

[1] रुक्ष.

कत्र शैथिल्ये ॥ ३६३ ॥

कत्रयति । **कात्रिः**—इन्प्रत्ययः । **कात्रेयकम्**—'कत्र्यादिभ्यो ढकञ्' इति शैषिको ढकञ् । कुत्सितास्त्रय इति वा कत्रिशब्दव्युत्पत्तिः । 'कद्भावे त्रावुपसंख्यानम्' इति कुशब्दस्य कद्भावः । अत्र दुर्गः कर्तेत्यपि पठति । कर्तयति ॥

प्रातिपदिकाद्धात्वर्थे बहुलमिष्ठवच्च ॥

प्रातिपदिकाद्धात्वर्थे णिच् भवति । तस्मिंश्चेष्ठनीव कार्यं भवति । इदं च "तत्करोति तदाचष्टे तेनातिक्रामति" इत्यादीनां वक्ष्यमाणत्वात् तद्विषयम् । पटुमाचष्टे **पटयति** । लघुमाचष्टे **लघयति** । **अपीपटत्** । **अलीलघत्** । अत्र परत्वाद्वृद्धौ 'णाविष्ठवत्' इति टिलोप इत्यग्लोप्यङ्गं नेति 'सन्वत्' इतीत्वं 'दीर्घो लघोः' इति दीर्घश्च भवति । अत्र केचित्—नाग्लोपीत्यत्रागिति प्रत्याहारग्रहणसामर्थ्यात् वृद्धेः प्रागेव टिलोप इत्यग्लोप्यङ्गमितीत्वदीर्घत्वे नेच्छन्ति—अपपटत् । अललघत् इति । तदसत् । "हलिकल्योरदन्तत्वनिपातनं सन्वद्भावप्रतिषेधार्थं" इति वार्तिकविरोधात् । यदि हि वृद्धेः प्राक् टिलोपस्स्यात् अग्लोप्येवाङ्गमिति किमदन्तत्वनिपातनक्लेशेन । प्रत्याहारग्रहणस्य तु प्रयोजनं स्वामिनमाख्यत् असस्वामत् । गोमिनमाख्यत् अजुगोमत् । वीरुधमाख्यत् अविवीरत् । प्रावृषमाख्यत् अपप्रावत् । यादृशमाख्यत् अययादत् इत्यादि स्यात् । येषामेषूदाहरणेष्वनभिधानात् णिज्नेति मतं तेषामपि स्रग्विणमाख्यत् इत्यादौ 'विन्मतोर्लुक्' इतीष्ठवद्भावेन विनो लुकि ह्रस्वाद्यभावः प्रयोजनमेव असस्रजत् इति । अत्र बहुलग्रहणात् स्रजयतीत्यत्र वृद्धिर्न भवति । तथा कुमारीमाचष्टे कुमा-

रयति इत्यत्र अप्रातिपदिकत्वेऽपि णिजिति केचित् । अन्ये तु 'प्रकृत्यै-काच्' इति प्रकृतिभावादेव स्रजयतीत्यत्र वृद्धिर्न भविष्यति । तथा यथाकथञ्चित्प्रातिपदिकग्रहणे लिङ्गविशिष्टपरिभाषायाः 'ङ्याप्प्रातिपदि-कात्' इति सूत्रे भाष्ये स्थापनात् कुमारयतीत्यादौ णिजपि सिद्ध इति बहुलग्रहणं विकल्पमात्रफलमाहुः ॥

तत्करोति तदाचष्टे ॥

तदिति द्वितीयान्तोपलक्षणम् । तत्करोत्याचष्टे इत्यत्र धात्वर्थमात्रं णिजर्थो न कर्ताऽपि । तथाचैवोदाहृतम् ॥

तेनातिक्रामति ॥

अत्रापि तेनेति तृतीयान्तोपलक्षणम् । अश्वेनातिक्रामति **अश्वयति**। हस्तिनाऽतिक्रामति **हस्तयति** ॥

धातुरूपं च ॥

णिच्प्रकृतिर्धातुरूपं प्रतिपद्यते । अनेन 'आख्यानात्कृतस्तदाच-ष्टे कृल्लुक्प्रतिप्रत्यापत्तिः प्रकृतिवच्च कारकं' इत्येतत्सूच्यते । कंसवधमा-चष्टे **कंसं घातयति** इत्युदाहरणम् ॥

कर्तृकरणाद्धात्वर्थे ॥

अत्र कर्तृग्रहणं करणस्य विशेषणम् । कर्तुः करणा[1]द्धात्वर्थे णि-जिति सूत्रार्थः । करिभिरवबध्नाति **अवकरयति** । असिना हन्ति **असयति** । परशुना छिनत्ति **परशयति** । दात्रेण लुनाति **दात्रयति**।

[1] कर्तृकरणप्रातिपदिका.

अत्र कर्ता करणस्य विशेषणं करणशब्दवाच्यत्वेन लोकप्रसिद्धानां चक्षुरादीन्द्रियाणां परिग्रहो मा भूत् इति ॥

बष्क दर्शने ॥ ३६४ ॥

बष्कयति ॥

चित्र चित्रकरणे ॥ ३६५ ॥

चित्रयति । चित्रकरणमालेख्यकरणमिति मैत्रेयः[1] । चित्र आलेख्यकरणे इत्येव दुर्गः ॥

कदाचिद्दर्शने ॥

चित्र इत्ययं कदाचिद्दर्शने अद्भुतदर्शने णिचमुत्पादयति । **चित्रयति** । चित्रीयते इति चित्रप्रातिपदिकादाश्चर्यवृत्तेः 'नमोवरिवश्चित्रङः क्यच्' इति क्यचि । तत्र हि "चित्रङ आश्चर्ये" इत्युच्यते । प्रातिपदिकस्य ङित्वं "अवयवे कृतं लिङ्गं समुदायस्य विशेषकं" इति न्यायात् प्रत्ययान्तात्तङर्थम् ॥

अंस समाघाते ॥ ३६६ ॥

अंसयति । अंसः ॥

वट विभाजने ॥ ३६७ ॥

वटयति ॥

जल प्रकाशे ॥ ३६८ ॥

---

[1] मित्रात्रेयः.

वटि लजि इत्येके । वण्टयति । लञ्जयति । अदन्तेषु पाठबलात् अदन्तत्वे वृद्धिरित्यपरे । **वण्टापयति । लञ्जापयति ।** तथा च शाकटायनसूत्रम्—'कथादिपातिस्फायो णौ पुक् लुग्वत्वम्, * इति । अस्यार्थः—कथादीनां पातेश्च णौ पुक् लुक् इत्येतावागमौ स्फायोऽन्त्यस्य वत्वं क्रमेणेति । एवं च शाकटायनमतेन कथादीनामागमे पुकि वृद्धौ कथापयतीत्युदाहार्यम् ॥

मिश्र सम्पर्के ॥ ३६९ ॥

मिश्रयति । गुडमिश्रः—'पूर्वसदृश' इत्यादिना तृतीयान्तस्य मिश्रशब्देन तत्पुरुषः ॥

संग्राम युद्धे ॥ ३७० ॥

अयमनुदात्तेत् । तथा च 'भृशादिभ्यः' इत्यत्र कैयटे संग्रामयतिरनुदात्तेत् बोद्धव्य इति । पदमञ्जर्यां च—'अनुदात्तिदयं संग्रामयतिरिष्यते' इति । तथा च तत्र भाष्यमपि—'असंग्रामयत शूरः' इति ।

संग्रामशब्दात्तत्करोतीति णिचाऽपि सिद्धाविह संग्रामस्य पाठः सोपसर्गात्सङ्घातात्प्रत्ययार्थः । तेन असंग्रामयत इत्युपसर्गात्पूर्वमड्भवति । तथा संग्रामयित्वा इत्यत्र अधीत्येत्यादिवल्ल्यप् न भवति, सिसंग्रामयिषत इत्यत्र समो द्विर्वचनं भवति । नन्वयं अनुदात्तेत्त्वार्थमवश्यं पठनीय इति कथं संघातादुत्पत्त्यर्थः । एवमपि "ग्राम युद्धे" इत्येतावति पठ्यमानेऽप्यर्थस्वाभाव्यादिङिकोरधिपूर्वत्ववत्संपूर्वत्वे लब्धे

---

* शाकटायनीये शब्दानुशासने तु "कथादिपाति स्फायोऽग्लग्वं" इति सूत्रं दृश्यते ।

संघातपाठस्सोपसर्गादुत्पत्त्यर्थ एव । * अत एव सङ्घातादुत्पत्तिवचना दन्यत्र धातूपसर्गसमुदायात्प्रत्यये विधित्सिते उपसर्गाः पृथक्क्रियन्ते इति ज्ञाप्यते । तेन परिबृढय्येत्यादौ ल्यबादि भवति ॥

स्तोम श्लाघायाम् ॥ ३७१ ॥

स्तोमयति । स्तोमः । अग्निष्टोमः—'अग्नेस्तुत् स्तोम' इति षत्वम् ॥

छिद्र कर्णभेदने ॥ ३७२ ॥

करणभेदन इति गुप्तः । मैत्रेयस्तु—छिद्रयति कर्णयतीति कर्णमपि पृथग्धातुमुक्त्वा कर्णेनाभाषत इति कर्णयतीति व्याचक्षते इत्याह ॥

अन्ध दृष्ट्युपघाते ॥ ३७३ ॥

उपसंहार इत्येके । अन्धयति ॥

दण्ड दण्डनिपातने† ॥ ३७४ ॥

दण्डयति । अयं द्विकर्मक इत्युक्तं नाथतौ । तत्र कर्मणि लादयो नाथत्यादौ प्रपञ्चिताः । तद्वदिहापि नेयाः ॥

अङ्क पदे लक्षणे च ॥ ३७५ ॥

अङ्कयति । अङ्कते इति शपि । तत्रैव कुटिलायां गतौ अकति इति ॥

---

* नन्वयमित्यादिग्रन्थः क्वचित्कोशे न दृश्यते ॥ अग्रे "ल्यबादि भवति" इत्यनन्तरं "अस्यानुदात्तेत्त्वमपाणिनीयमिति पाठस्य तदर्थतया न ज्ञापकत्वभङ्गः" इति दृश्यते ॥ † दण्ड निपातने.

अङ्ग च ॥ ३७६ ॥

अङ्गयति । अङ्गतीति गतौ शपि ॥

सुख दुःख तत्क्रियायाम् ॥ ३७७–८ ॥

तच्छब्देन सुखदुःखप्रातिपदिकार्थो निर्दिश्यते । 'प्रातिपदिकाद्धात्वर्थे' इति सिद्धे इहानयोः पाठस्सोपसर्गात्प्रत्ययार्थ इति मैत्रेयः । **सुखयति** । **दुःखयति** । **सुखायते** इति 'सुखादिभ्यः कर्तृवेदनायाम्' इति क्यङि 'अकृत्सार्वधातुकयोः' इति दीर्घे सुखादिभ्यो वेदनायां क्यङ् भवति । तानि च सुखादीनि सन्निधानाद्वेदनाकर्तुस्सम्बन्धीनि चेदिति सूत्रार्थः । कर्तृ इत्यविभक्तिको निर्देशः तेन सुखं वेदयते प्रसाधको देवदत्तस्य इत्यत्र क्यङ् न भवति । सुख्यति, दुःख्यतीति, कण्ड्वादियगन्तस्य ॥

रस आस्वादनस्नेहनयोः ॥ ३७९ ॥

रसयति । रसतीति शपि ॥

व्यय वित्तसमुत्सर्गे ॥ ३८० ॥

व्ययति । व्ययते इति गतौ शपि ॥

रूप रूपक्रियायाम् ॥ ३८१ ॥

रूपस्य दर्शनं करणं वा रूपक्रिया इति स्वामी । **रूपयति** ॥

रूपं निरूपयतीत्यनेकार्थत्वात् विचारणे ॥

छेद द्वैधीकरणे ॥ ३८२ ॥

छेदयति । छिनत्तीति छिदेः श्नमि । क्वचिदिहापि छद अपवारणे इति पठ्यते ॥

लाभ प्रेरणे ॥ ३८३ ॥

लाभयति । प्राप्त्यर्थे लभते इति शपि ॥

व्रण गात्रविचूर्णने ॥ ३८४ ॥

व्रणयति । व्रणतीति दीप्त्यर्थे शपि ॥

वर्ण वर्णक्रियाविस्तारगुणवचनेषु॥३८५

वर्णक्रिया वर्णीकरणं वर्णनं वा । सुवर्णं **वर्णयति** । कथां **वर्णयति** । विस्तृणातीत्यर्थः । राजानं **वर्णयति**, स्तौतीत्यर्थः । वर्णं गृह्णाति **वर्णयति**—'सत्यापपाश' इत्यादिना णिच् ॥

बहुलमेतन्निदर्शनम् ॥

क्वचित्तु निदर्शितमिति पठ्यते । तत्रापि भावे निष्ठेति निदर्शनमित्येवार्थः । चुरादावदन्तधातुनिदर्शनं बहुलं वेदितव्यम् । अतोऽनुक्ता अपीह धातवो वेदितव्याः ॥

पर्ण हरितभावे ॥ ३८६ ॥

पर्णयति ॥

विष्क दर्शने ॥ ३८७ ॥

विष्कयति ॥

क्षप प्रेरणे ॥ ३८८ ॥

क्षपयति ॥

वस निवासे ॥ ३८९ ॥

वसयति ॥

तुत्थ आवरणे ॥ ३९० ॥

तुत्थयति । एवं गन्धयति । आन्दोळयति । ओजयति । वर्णयति । स्फुटयति । स्फुटा । स्फुटितः । अवधीरयति । इत्यादयो यथाऽभिधानमिति मैत्रेयादयः ॥

अन्ये तु भूवादिष्वेतदन्तेषु दशगणीषु धातूनां पाठो निदर्शनाय । तेन स्तम्भुप्रभृतयः सौत्राः चुलुम्पादयो वाक्यकारीयाः प्रयोगसिद्धा विक्लवत्यादयश्च संगृह्यन्त इति—

मिलन्त्याशासु[1] जीमूता विक्लवन्ते दिवि ग्रहाः ।
क्षपन्ति[2] विद्युतः प्रावृट् क्षीयन्ते कामविग्रहाः ॥

इत्यादयः प्रयोगा उपपद्यन्त इत्याहुः ॥

णिङ् अङ्गान्निरसने ॥

अङ्गवाचिनः प्रातिपदिकात् निरसने णिङ्भवति । ङकार आत्मनेपदार्थः । हस्तौ निरस्यति **हस्तयते** । पादौ निरस्यति **पादयते** ॥

---

[1] विगलन्त्याशु [2] क्षयन्ति

श्वेताश्वाश्वतरगालोडिताह्वरकाणां अश्वतरेतकलोपश्च ॥

श्वेताश्वादीनां चतुर्णां यथासङ्ख्यमश्वतरेतक इत्येते लुप्यन्ते । णिङ् च धात्वर्थे । अबाधाऽपि णिचो बाहुलकादिति मैत्रेयादयः । श्वेताश्वमाचष्टे तेनातिक्रामति वा **श्वेतयते** । एवं **अश्वयते गालोडयते आह्वरयते** इति । अत्र स्वामी—पारायणिकात्स्वार्थवत् णिचमनुवर्तयन्तीति । एवं काश्यपोपि व्याचक्षाणः श्वेतयतीत्यादि परस्मैपदमुदाजहार ॥

पुच्छादिषु धात्वर्थ इत्येव सिद्धम् ॥

अत्र मैत्रेयः—पुच्छादिप्रातिपदिकेभ्यो धात्वर्थ इत्येव सिद्धम् । बहुलवचनादात्मनेपदं णिजन्ताद्विधीयत इति 'पुच्छभाण्डचीवराण्णिङ्' इति न वक्तव्यमिति । अन्ये तु—पुच्छादीनां "पुच्छभाण्ड" इत्यनेन णिङ उक्तत्वादिह णिङ् नोक्त इति व्याचक्षते । पुच्छमुदस्यति **उत्पुच्छयते** । भाण्डानि समाचिनोति **संभाण्डयते** । चीवराण्यर्जयति परिधत्ते वा **संचीवरयते** । सिद्धशब्दो मङ्गलार्थः ॥

इति श्रीपूर्वदक्षिणपश्चिमसमुद्राधीश्वरकम्पराजसुतसङ्गमहाराजमहामन्त्रिणा मायणसुतेन माधवसहोदरेण सायणाचार्येण विरचितायां धातुवृत्तौ

चुरादयस्संपूर्णाः.

श्रीः

अथ नामधातुवृत्तिः.

यस्या रूपप्रहाणेन न ख्यातुमपि किंचन ।
शक्यते वस्तु लोकेषु जयत्येषा सरस्वती ॥ १ ॥

धातुपाठनिविष्टानां धातूनां यः पुरा व्यधात् ।
विवृत्तिं माधवीयाख्यां भाष्यज्ञहृदयङ्गमाम् ॥ २ ॥

तेन मायणपुत्रेण व्याख्या काऽपि[1] विरच्यते ।
धातूनां प्रत्ययान्तानां गणपाठ[2]जुषामपि ॥ ३ ॥

तत्र प्रतिपदं शिष्टा गणमात्रजुषस्त्विमे[3] ।
गाणास्तत्रापि बहवः किञ्च सूत्राण्यधीयता ।
आचार्येण पुरा प्रोक्तास्तानादौ विवृणोम्यहम् ॥ ४ ॥

एतावदेव सर्वस्मादर्थये सुमनोजनात्[4] ।
नामास्तु भवतां सार्थमन्यथाऽपि न मे क्षतिः ॥ ५ ॥

‘कण्ड्वादिभ्यो यक्’ ॥

स्वार्थे । एते च धातवः प्रातिपदिकानि च । तत्र धातुत्वं यको धातुविहितत्वेनार्धधातुकत्वे तन्निमित्तगुणनिषेधार्थेन कित्त्वेनावसीयते । प्रातिपदिकत्वं तु कण्ड्वादीनां केषांचिद्दीर्घान्तपाठात् । कण्डूयतीत्यादिरूपं तु ह्रस्वान्तादपि यकि मन्तूयतीत्यादिवत् ‘अकृत्सार्वधातुकयोः’ इति दीर्घे कृते भविष्यति । तत्र धात्वधिकारात् धातुभ्यो यक्प्रत्ययः ॥

---

[1] काचित्. [2] सूत्र. [3] सूत्रगता इमे. [4] जनान्.

नन्वेषां प्रातिपदिकत्वमेवास्तु माऽस्तु दीर्घान्तपाठः, प्रत्ययस्य कित्वं च । न च 'अकृत्सार्वधातुकयोर्दीर्घः' इत्यत्र अङ्गं धातुराश्रीयते । किन्त्वङ्गमेव । कण्डूरिति च कण्डूयशब्दात्सम्पदादित्वाद्भावे क्वावतोलोपे वलिलोपेन यलोपे च सिद्धम् । यलोपे अल्लोपस्य स्थानिवत्त्वं 'न पदान्त' इति निषिद्धम् । वलिलोपश्च 'लोपो व्योः' इति विधेयस्य पश्चान्निर्दिश्यस्यै पूर्वनिर्देशादपृक्तलोपात्पूर्वं भवति । यद्येवं कण्डूशब्दस्य प्रत्ययलक्षणेन यगन्तत्वेन धातुत्वादल्लोपस्य पूर्वविधौ स्थानिवत्त्वादुवङ् स्यात् । नैतदस्ति । सति स्थानिवत्त्वे अकारस्य तदन्त एव धातुर्नोकारान्त इति । एवं तर्हि यण्प्राप्नोति । अस्तु, क्विबाश्रयः 'च्छ्वोःशूट्' इत्यूड्भविष्यति । न च ऊठ्यप्यल्लोपस्य स्थानिवत्त्वादूठोऽभावः । वकारस्य आदिष्टादचः पूर्वत्वात् स्थानिवत्त्वाभावात् । न च स्थानिवत्त्वेनानादिष्टादचः पूर्वत्वं, तस्याशास्त्रीयकार्यत्वात् । अत एव आदिष्टादचः पूर्वत्वादूठि पुनर्यणभावः । यद्वा—'क्वौ लुप्तं न स्थानिवत्' इति अल्लोपस्य स्थानिवत्त्वाद्यण एवाप्रसङ्गः । यद्येवं कण्ड्वावित्यादावुवङ् स्यात् । न च 'ओस्सुपि' इति यणः प्रसङ्गः संयोगपूर्वकत्वात् । अस्त्वत्रोवङ्, क्विपः प्रत्ययलक्षणेनोड्भविष्यति । एवमपि पुनरुवङ् स्यात् पुनरूड्वङौ पर्यायेणेति व्यवस्था न स्यात् । किञ्च—कण्डूरितिवन्मन्तूरिति च स्यात्; न भवति चेष्टं मन्तुरित्यादि । अथ 'धातोः कर्मणः' इत्यतो वाग्रहणानुवर्तनेन यकः पक्षे अनुत्पादाद्यद्यपि सिद्धं मन्तुरित्यादि तथाऽपि कण्डूरित्यादिवत् यकि दीर्घे क्वावल्लोपयलोपयोश्च दुर्वारं मन्तूरित्यादि । तथा च यगपक्षे मन्तुरित्यादिवत् कण्डुरिति च स्यात् । सुखादिभ्यश्च यकि तस्याधातुविहितत्वेन अनार्धधातुकत्वात् अतोलोपाभावात् 'अकृत्सार्वधातुकयोः' इति दीर्घे कृते सुखायतीत्यादि स्यात् । न त्विष्टं सुख्यतीत्यादि । हलन्तपाठे

तु न कदाचन सुखादेरकारान्तता सिध्यति । तस्माद्यथाभ्यासमेवा-[1] स्तु । नन्वेवमपि प्रातिपदिकेभ्यः कण्डूः मन्तुरित्यादि यद्यपि सिध्यति तथाऽपि धातुभ्यो यकि कण्डूयशब्दात् क्वावल्लोपयलोपयोः अजादौ सुप्युवङि कण्ड्वावित्यादि प्राप्नोत्येव । तथा मन्तूयादेर्मन्तूरित्यादि । सुखादेश्च सुगित्यादिहलन्तम् । नैष दोषः; एतेभ्यः क्विबेव च नोत्पद्यते । उक्तं च भाष्ये—नैतेभ्यः क्विप् दृश्यत इति । न तर्हि इदानीमिदं भवति कण्डुवाविति । भवति, यदा प्रातिपदिकादाचारक्विबन्तात् क्यजन्ताद्वा क्विप्यल्लोपयलोपयोः स्वाद्युत्पत्तिः ॥

यद्येवं कण्ड्वादयः प्रातिपदिकान्येव सन्तु, यथाभ्यासं दीर्घान्ताश्च भवन्तु । ककारश्च प्रत्यये मासञ्जि । वाग्रहणं चानुवर्तिष्यते । तत्र कण्डूयति मन्तूयतीत्यादयो यकि भवन्ति । कण्डूः मन्तुरित्यादयश्च यगभावपक्षे प्रातिपदिकात् स्वाद्युत्पत्तौ यगन्तात्क्विबभावस्य इदानीमेवोक्तत्वात् स एव धातुः कण्डूशब्दो न भवति, तत्किं कण्ड्वादीनां धातुत्वमाश्रित्य स्वाद्युत्पत्तौ उवङ् प्रसज्येत । तथा अत एव यगन्तात्क्विबभावेन मन्त्वादेर्दीर्घान्तत्वं सुखादेर्हलन्तत्वं च न भवति । तत्किं कण्ड्वादीनां धातुत्वमाश्रित्य तेभ्यः प्रत्ययविधाने सिद्धम् । एतदेवं स्यात् यदि सिद्ध्येत् सुख्यतीत्यादि । न च सिध्यति प्रातिपदिकात्प्रत्यये तस्यानार्धधातुकत्वेन अतोलोपाप्रसङ्गात् ॥

अथोदाहरणानि—

कण्डूञ् गात्रविघर्षणे ॥ १ ॥

कण्डूयति । कण्डूञो ञित्वस्य ' अवयवे अकृतार्थं लिङ्गं समुदा-

[1]यथान्यासमिति पण्डितपत्रमुद्रितकोशपाठः.

यस्य विशेषकम्' इति न्यायेन समुदायार्थत्वात् कण्डूयते इत्यात्मनेपदमपि भवति । एवमनुबन्धान्तरस्यापि समुदायार्थत्वं द्रष्टव्यम् ॥

मन्तु अपराधे ॥ २ ॥

रोष इत्यपरे । मन्तूयति । चन्द्रस्तु ञितं पठित्वा मन्तूयते इति चाह ॥

वल्गु पूजामाधुर्ययोः ॥ ३ ॥

वल्गूयति ॥

असु मनस् एतावुपतापे ॥ ४–५ ॥

असूयति । मनस्यति ॥

असूयुः—'मृगय्वादयश्च' इत्युप्रत्ययः । अत्र वर्धमानहरदत्तगणरत्नमहोदधिकारादयः असुशब्दमसितिसान्तं पठित्वा असूञिति दीर्घान्तमेके[1] पठन्तीत्याहुः । तन्मते अस्यति असूयति असूयते इति भवति ॥

लेट् लोट् धौर्त्ये पूर्वभावे स्वप्ने च ॥

लेट्यति । लेटिता । लोट्यति । लोटिता । अकारस्यातोलोपे 'यस्य हलः' इति यलोपः । अत्र देवः—अर्थनिर्देशार्थं पूर्वशब्दं प्रकृतिनिर्देशार्थं मत्वा 'पूर्व्यतीति तु यत्स्वप्ने[2] तत्कण्ड्वादिषु दर्शनात्' इत्याह । तदेतदमोघायां शाकटायनवृत्तौ अर्थनिर्देशरहित एव गणपाठे पूर्वशब्दस्य पाठाभावादयुक्तमिति पुरुषकार एव दूषितम् । अन्ये तु लेट्-

[1] दीर्घान्तं भिन्नं चैके.   [2] पूर्व्यतीति यक् स्वप्ने.

लोटौ दीप्त्यर्थावाहुः । अत्र लेला दीप्तौ इत्येके पठन्ति । पठ्यते च-" वातो भूतोलेलायत्सः "[1] " यदा वीतार्तिहस्ताय "[2] इति ॥

इरज् ईर्ष्यायाम् ॥ ८ ॥

अत्र वर्धमानहरदत्तौ इरस् इरङ् इरञ् ईर्ष्यायामिति त्रीन्पेठतुः । इरस्यति । इरज्यति । ईर्यति ईर्यते । अत्र 'हलि च' इति दीर्घः । 'इरज्यन्नग्ने प्रथयस्व जन्तुभिः'[3] इत्यत्र भट्टभास्करादिभिः दीप्त्यर्थोऽयमभिहितः । तथा 'इरज्यन्ता वसव्यस्य भूरेः'[4] इत्यत्रैश्वर्यार्थः । ईर्यतिर्मार्गोपस्थानार्थोपि[5] । उक्तं च 'चर्या त्वीर्या पथि स्थितिः'[6] इति ॥

इयस् ऐश्वर्ये ॥ ९ ॥

इयस्यति ॥

अमुं दुर्गो न पठतीति गणरत्नमहोदधौ ॥

उषस् प्रभातभावे ॥ १० ॥

उषस्यति रात्रिः ॥

वेद धौर्त्ये स्वप्ने प्रभाते च ॥ ११ ॥

---

[1] तै. सं. ५–६–४. [2] यदा हतार्चिः लेलायतीवेति. [3] तै. सं. ४–२–७.
[4] तै. सं. ४–२–११. [5] मार्गावस्थानार्थोपीति मुद्रितकोशपाठः.
[6] टीकासर्वस्वकारादयस्तु—'चर्या त्वीर्यापथस्थितिः' इति पठन्त ईर्यापदं समासान्तर्गतं मन्यन्ते. व्याकुर्वन्ति च यतीनां गतिस्थितिनिषद्याशयनीयानि ईर्यासंज्ञानि तस्मिन्नीर्यावर्त्मनि स्थितिरिति ॥

वेद्यति ॥

मेधा आशुग्रहणे ॥ १२ ॥

मेधायाति ॥

कुषुभ क्षेपे ॥ १३ ॥

कुषुभ्यति । गणरत्नमहोदधौ तु आत्मनोऽन्यकर्तृकनिरसनमर्थ इत्युक्तम् ॥

मगध परिवेष्टने ॥ १४ ॥

नीचदास्ये इत्येके । मगध्याति ॥

तन्तस् पम्पस् दुःखे ॥ १५—१६ ॥

तन्तस्याति । पम्पस्याति ॥

सुख दुःख तत्क्रियायाम् ॥ १७–१८ ॥

तच्छब्देन सुखदुःखार्थौ परामृश्येते । तेन सुखदुःखरूपायां क्रियायामित्यर्थो भवति । सुख्याति । दुःख्याति । सुखमनुभवति दुःखमनुभवतीत्यर्थः ॥

सपर पूजायाम् ॥ १९ ॥

अकारान्तोऽयं महोदधौ । सपर्यति ॥

अररु क्रूरकर्मणि ॥ २० ॥

अर्यति ॥

भिषज् चिकित्सायाम् ॥ २१ ॥

भिषज्यति ॥

तिषज उपसेवायाम् ॥ २२ ॥

तिषज्यति ॥

इषुध शरधारणे ॥ २३ ॥

इषुध्यति ॥

चरण गतौ ॥ २४ ॥

चरण्यति । वरण इति भोजः । उक्तं च क्वचित् तथोदाहरणं काव्ये—'वरण्यन्वारणैर्वेलाम्' इति ॥

चुरण चौर्ये ॥ २५ ॥

चुरण्यति ॥

तुरण त्वरायाम् ॥ २६ ॥

तुरण्यति ॥

भुरण धारणपोषणयोः ॥ २७ ॥

भुरण प्रहरणधारणयोरित्यन्ये । भुरण्यति ॥

गद्गद वाक्चलने ॥ २८ ॥

गद्गद्यति ॥

एला केला खेला विलासे ॥ २९–३१ ॥

एलायति । केलायति । खेलायति । अत्रैलास्थाने इले-त्यपरे पठन्ति । इलायति ॥

खेला सत्त्वचलने च ॥ ३२ ॥

खेलायति । अकारान्तोऽयमित्यन्ये । तत्रातोलोपे खेल्यति ॥

लिट् अल्पार्थे कुत्सायां च ॥ ३३ ॥

लिट्यति ॥

लाट् जीवने ॥ ३४ ॥

लाट्यति ॥

हृणीङ् रोषणे लज्जायां च ॥ ३५ ॥

ङकारस्तङर्थः । हृणीयते ॥

महीङ् पूजायाम् । ३६ ॥

अत्र पूजा पूज्यमानकर्तृका । तेनायमकर्मकः । महीयते पूजाम-धिगच्छतीत्यर्थः ॥

रेखा श्लाघाऽऽसादनयोः ॥ ३७ ॥

आसादनं प्राप्तिः, प्रापणं वा । रेखायति श्लाघामनुभवति अनुभावयति वेत्यर्थः ॥

द्रवस् परितापपरिचरणयोः ॥ ३८ ॥

द्रवस्यति ॥

तिरस् अन्तर्धौ ॥ ३९ ॥

तिरस्यति ॥

अगद नीरोगत्वे ॥ ४० ॥

अगद्यति । अमुं भोजो नेच्छतीति गणरत्नमहोदधौ ॥

लेखा ॥ ४१ ॥

लेखायति रेखायतिवदर्थः ॥

उरस् बलार्थः ॥ ४२ ॥

उरस्यति । बलवान् भवतीत्यर्थः ॥

तरण गतौ ॥ ४३ ॥

तरण्यति ॥

पयस् प्रसृतौ ॥ ४४ ॥

पयस्यति ॥

संभूयस् प्रभूतभावे ॥ ४५ ॥

संभूयस्यति । अत्र गणरत्नमहोदधौ 'अंबर संबर इति वामनः' इति । अंबर्यति संबर्यति । अत्र गणरत्न महोदधावेव लेटालोटाविति पठित्वा मतान्तरेणादन्तत्वमुक्त्वा लेटायति । लोटायति । लेट्यति लोट्यतीत्युक्तम् । अस्याकृतिगणत्वात् रैधवलादिभ्योऽपि रायति । धवल्यतीति चोक्तम् । यदा कण्डूयादिभ्यः सन्नुत्पद्यते तदा कण्ड्वादीनां तृतीयस्यैकाचो द्वे भवतः इति कण्डूयियिषतीत्यादि भवति ॥

इति कण्ड्वादिः.

अथ सौत्रधातवः प्रक्रियन्ते.

ऋतेरीयङ् ॥ १ ॥

अयं स्वार्थे । ऋतिर्घृणायाम् । सा चेह "घृणा जुगुप्साकृपयोः" इत्युक्तावपि ऋतीयाशब्दस्य निघण्टुषु निरूढेः जुगुप्सैवेह भवतीति व्याख्यातारः । अत्रेयङ्प्रत्ययस्य कित्त्वेनापि गुणाभावसिद्धौ ङित्करणमात्मनेपदार्थमपि । **ऋतीयते** । **ऋतीयेते** । **ऋतीयाञ्चक्रे** । इत्यादिङिल्लकारेषु अजादित्वादाटि 'आटश्च' इति वृद्धौ **आर्तीयत आर्तीयिष्ट** । **आर्तीयिष्यत** इत्यादि भवति । यदाऽयमवर्णान्तादुपसर्गात्परो भवति तदा 'उपसर्गादृतिधातौ' इति वृद्धौ **अवार्तीयते उपार्तीयते** इत्यादि भवति । अत्रोपसर्गग्रहणादेव धा-

तुल्ये सिद्धे 'उपसर्गादृति' इत्येव वक्तव्ये पुनर्धातुग्रहणं योगविभागेनाधिकविधानार्थमिति 'ऋत्यकः' इति पाक्षिकः प्रकृतिभावोऽत्र बाध्यते। उपसर्गग्रहणं प्राद्युपलक्षणमित्येतत्तु यत्रोपसर्गत्वं न संभवति 'उपसर्गादध्वनः' इत्यादौ तत्रैवेतीह न भवतीति हरदत्तादयः। तेनागता ऋतीयका अमुं देशं आर्तीयको देश इत्यादौ यत्क्रियायुक्ताः प्रादयस्तं प्रति गत्युपसर्गसंज्ञा इत्याङादीनां गम्यादिक्रियापेक्षया उपसर्गत्वं न तु ऋतीयक्रियाऽपेक्षयेति तां प्रत्युपसर्गत्वाभावात् 'आद्गुणः' इति गुणः 'ऋत्यकः' इति शाकलप्रकृतिभावश्च भवतः। यदाऽयमीयङ् 'आयादय आर्धधातुके वा' इति वचनादार्धधातुके न भवति तदा **आनर्त**। **अर्तिता। अर्तिष्यति। आर्तीत् आर्तिष्यत्। अर्तित्वा, ऋतित्वा** इत्यादि भवति। अत्र 'वञ्चिलुञ्च्यृतश्च' इति सेटः क्त्वः कित्त्वविकल्पनात् पक्षे गुणः। 'आयादय आर्धधातुके वा' इत्यत्रार्धधातुके इत्यस्य विषयसप्तमीत्वात् आर्धधातुकेषु विषयभूतेषु आयादयो नोत्पद्यन्त इत्यर्थः। न तूत्पद्य निवर्तन्ते इति। अन्यथा ऋतीयशब्दाल्लिटि प्रत्ययान्तत्वेनामि ईयङ्प्रत्ययस्य निवृत्तौ ऋताञ्चकार इति स्यात्। आनर्तेति च न स्यात्। तथा अर्तितासि अर्तिष्यति ऋत्यात् आर्तीत्यादौ परस्मैपदं न स्यात्। तथा तास्यादेरार्धधातुकत्वादीयङो निवृत्तेर्निमित्तत्वात्तदपेक्षो गुणो 'न धातुलोप आर्धधातुके' इति निषेधान्न स्यात्। अनेनाभिप्रायेणामि गुणाभाव उदाहृतः। प्रत्युत ऋतिताहे ऋतिष्यते ऋतिषीष्ट आर्तिष्टेत्यादि स्यात्। यदीयङन्तादुत्पन्नेषु तिङ्क्षु तदाश्रयेण पश्चादुत्पन्नेषु विकरणेषु आर्धधातुकेषु ईयङो निवृत्तिः क्रियते, तर्हि ईयङो ङित्वात्तदन्ताच्चोत्पद्यमानास्तिङ आत्मनेपदान्येव स्युः। तथा क्तिनि ऋत्तिरिति न स्यात् 'अप्रत्ययात्' इत्यकारे ईयङो निवृत्तौ ऋत्तेति च स्यात्। एषा दूषणा दिक्। अत्र क-

चिद्वृत्तिकोशे 'ऋतेरछङ्' इत्येव सिद्धे ऋतेरीयङ्वचनं ज्ञापकं धातुविहितानां प्रत्ययानामायन्नादयो न भवन्तीति । तेन शमेः खः शङ्खः । कमेष्ठः कण्ठः । इत्यत्र ईनिकादेशौ न भवतः । ननु 'ऋतेरछङ्' इत्युच्यमाने छङो वलाद्यार्धधातुकत्वेन परत्वादिडागमे कृते छकारस्य प्रत्ययादित्वं पर्यवसन्नमिति 'आयनेयी' इत्यादिना प्रत्ययादेः विधीयमानः कथमीयादेशः सिद्ध्यति । नैष दोषः, यदाऽऽयनादिषूपदेशिवद्वचनस्य चोदितत्वादन्तरङ्गत्वादिटः पूर्वमीयादेशो भविष्यति । अत्र हरदत्तः—'द्विवचनविभज्योपपदे' इत्यत्र तरप्छसुनाविति वक्तव्यं ईयसुन्वचनादधातुविहितानामपि प्रत्ययानामायन्नादयो न स्युः । वचनसामर्थ्याच्चेदुभयेषामपि स्युरिति ज्ञापकं भङ्क्त्वा कण्ठादौ बाहुलकादकाद्यभावमाह ॥

स्तन्भुस्तुन्भुस्कन्भुस्कुन्भुस्कुञ्भ्यः श्नश्च ॥ २-६ ॥

एभ्यः कर्तृवाचिनि सार्वधातुके श्नुर्भवति । चकारात् श्ना च । तत्र पञ्चमो धातुषु पठितो व्याख्यातार्थश्च प्रथमतृतीयौ स्तम्भार्थौ । द्वितीयो निष्कोषणार्थः । चतुर्थो धारणार्थः । उदित्वं क्त्वायामिड्विकल्पार्थम् । अत एव श्नाव्यतिरिक्तविषयाश्चैते भवन्ति । **स्तभ्नोति । स्तभ्नुतः । स्तभ्नुवन्ति । स्तभ्नोषि । स्तभ्नोमि । स्तभ्नुवः । स्तभ्नुमः** । 'अनिदिताम्' इति नलोपः । वसमसोः 'लोपश्चास्यान्यतरस्याम्' इत्युकारलोपः संयोगपूर्वत्वान्न भवति । **स्तभ्नाति । स्तभ्नीतः । स्तभ्नन्ति । स्तभ्नासि । स्तभ्नामि** । हलादौ

क्ङिति 'ईहल्यघोः' इतीत्वम् । अजादौ तु । 'श्नाभ्यस्तयोः' इत्याल्लोपः । तस्तम्भ । तस्तम्भतुः । तस्तम्भुः । तस्तम्भिथ । तस्तम्भ । तस्तम्भिव । तस्तम्भिम । स्तम्भिता । स्तम्भिष्यति । स्तभ्नोतु । स्तभ्नुतात् । स्तभ्नुताम् । स्तभ्नुवन्तु । स्तभ्नुहि । स्तभ्नवानि । हेः 'उतश्च' इति लोपः संयोगपूर्वत्वान्न भवति । स्तभ्नातु । स्तभ्नीतात् । स्तभ्नीताम् । स्तभ्नन्तु । स्तभान—हौ 'हलश्नः शानज्झौ' इति शानजादेशे 'अतो हेः' इति हेर्लुक् ॥

अस्तभ्नोत् । अस्तभ्नुताम् । अस्तभ्नुवन् । अस्तभ्नोः । अस्तभ्नवम् । अस्तभ्नात् । अस्तभ्नीताम् । अस्तभ्नन् ॥

स्तभ्नुयात् । स्तभ्नुयाताम् । स्तभ्नुयुः । स्तभ्नुयाः स्तभ्नुयाम् । स्तभ्नीयात् । स्तभ्नीयाताम् । स्तभ्यात् । स्तभ्यास्ताम् । स्तभ्यासुः । यासुटः कित्त्वात् अनुनासिकलोपः ॥

अस्तभत् । अस्तभताम् । अस्तभन् । 'जॄस्तम्भु' इति परस्मैपदे च्लेर्वाऽङि 'अनिदिताम्' इति नलोपः । अन्यदा सिचि अस्तम्भीत् इत्यादि । अस्तम्भिष्यत् ॥

तिस्तम्भिषति । तास्तभ्यते । तास्तम्भीति । तास्तब्धि । तास्तब्धः । तास्तम्भति इत्यादि ॥

स्तम्भयति । अतस्तम्भत् । अत्यष्टभ्नोत् । प्रत्यष्टभ्नोत् । प्रतिष्टभ्नाति । प्रत्यतष्टम्भत् । इत्यादौ 'स्तम्भेः' 'प्राक्सिताद-ड्व्यवायेऽपि' इति इणन्तादुपसर्गात्परत्वेन षत्वम् । तत्राप्रतेरिति

नानुवर्तते । **प्रतितिष्टम्भिषति**—' स्थादिष्वभ्यासेन ' इति षत्वम् । **अवष्टभ्नाति** अवलम्बत इत्यर्थः । **अवष्टब्धा** सेना, आसन्नेत्यर्थः । ' अवाच्चालम्बनाविदूर्ययोः ' इति षत्वम् । **मा प्रतिस्तम्भत्** इत्यत्र ' स्तम्भुसिवुसहाम् ' इति निषेधात् ' स्तम्भेः ' इति षत्वं न भवति । सन्वदित्वं लघुपरत्वाभावान्न भवति । दीर्घत्वं तु अलघुत्वादपि न भवति ॥

स्तम्भित्वा, स्तब्ध्वा । उदित्त्वादिड्विकल्पः । इटि ' न क्त्वा सेट् ' इति किन्त्वप्रतिषेधान्नानुषङ्गलोपः ॥

स्तब्धः—' यस्य विभाषा ' इत्यनिट्त्वम् । प्रतिष्टब्धः । निष्टब्धः—' प्रतिस्तब्धनिस्तब्धौ च ' इत्यषत्वम् । ' स्तम्भेः ' इति सानुषङ्गनिर्देशात् अयमेव स्तभिः सौत्रो गृह्यते । न त्वत्र भौवादिकः इदित् । स्तभिरपीति प्रतिस्तम्भादयः प्रयोगास्तस्य द्रष्टव्याः ॥

उत्तब्धः—' तितुत्र ' इतीण्णिषेधः । ' उदस्थास्तम्भोः पूर्वस्य ' इति सकारस्य पूर्वसवर्णस्तकारः । एवमुत्तभ्नोतीत्यादावपि तत्त्वम् । **स्तुभ्नोति स्तुभ्नाति** । **स्कभ्नोति स्कभ्नाति** । **स्कुभ्नोति स्कुभ्नाति** इत्यादि स्तभ्नातिवत् । **विष्कभ्नोति विष्कभ्नाति** । **विष्कम्भः** इत्यादौ ' वेः स्कभ्नातेर्नित्यम् ' इति षत्वम् । श्नानिर्देशः स्कम्भतेर्निवृत्त्यर्थः । तेन तस्य विस्कम्भत इत्यादि भवति ॥

सातिः सुखे ॥ ७ ॥

अयं हेतुमण्ण्यन्त इति जिनेन्द्रहरदत्तौ । तन्मते सतिरिति[1] प्रकृ-

---

[1] सातिरिति.

त्या भवितव्यम् । सातिः सौत्रो धातुरिति वृत्तिबोधिन्यासयोः । **सात-यति** इत्यादि ॥

सातयः—'अनुपसर्गाल्लिम्प' इत्यादिना शे शपि गुणायादेशौ ॥

जु वेगितायां गतौ ॥ ८ ॥

जवति । **जोता** इति स्वरान्तत्वादनिट्त्वम् ॥

जुजूषति । **अजीजवत्** इत्यत्र णेश्चङि णौकृतस्य स्थानिवत्त्वे-नाभ्यासस्योवर्णान्तत्वात् 'ओः पुयण्जि' इतीत्वे 'दीर्घो लघोः' इति दीर्घः ॥

जवनः—'जुचङ्क्रम्य' इति युच् ॥

प्रजवी—'प्रजोरिनिः' इति इनिः ॥

जूः । **जुवौ** । 'भ्राजभास' इति क्विप् ताच्छीलिकः । तत्रैव-सूत्रे जू इति दीर्घपाठाश्रयणात् क्विप्सन्नियोगेन दीर्घ इत्येके । अन्ये तु उत्तरसूत्रे दृशिग्रहणस्य इहापि अभिसम्बन्धात् दीर्घ इत्याहुः ॥

जूतिः—'ऊतियूतिजूति' इति क्तिनि दीर्घान्तोदात्तत्वे निपात्येते ॥

जवः—'ऋदोरप्' इत्यप् । 'जवसवौ छन्दसि' इत्यब्विधानं तत्रान्तोदात्तार्थं न तु भाषायामेतद्रूपनिवृत्त्यर्थम् ॥

विजावको नाम देशः—संज्ञायां ण्वुल् । तत्रभवादिः **वैजावकः**—'कच्छादिभ्यश्च' इत्यण् शैषिकः । 'कोपधादण्' । इत्येवाणि सिद्धे

कच्छादिष्वस्य पाठो यदा भवादिर्मनुष्यः तत्स्थो वा भवति तदा वैजावकः इति कच्छाद्यधिकारेण विधीयमानो मनुष्यतत्स्थयोर्वुञ् अमुष्मादपि यथा स्यादिति ॥

इति सौत्रधातवः.

अथ नामप्रत्यया धातवः प्रदर्श्यन्ते ॥

'सुप आत्मनः क्यच्' । कर्मण इच्छायां वेति वर्तते । इहात्मन्शब्दः परव्यावृत्तिवचनः स्वशब्दपर्यायः । न चेतनद्रव्यवचनः। तस्मिन्हि किमयं कर्तृषष्ठ्यन्तः सन् इच्छया सम्बध्यते । उत शेषषष्ठ्यन्तः सुबन्तेन? । तत्राद्यपक्षे इच्छायाश्चेतनकर्तृत्वाव्यभिचारात् आनर्थक्यमात्मशब्दस्य स्यात् । किंच राज्ञः पुत्रमिच्छत्यमात्यः इत्यादौ परेच्छायामपि चेतनस्यैव कर्तृत्वात् क्यच् स्यात् । यत्तु भाष्ये इहासामर्थ्यान् प्रत्ययाभाववचनं तत्प्रौढिवादमात्रम्, इष्यमाणं वस्तु स्वत एव नित्यमन्यदपेक्षते इति नैतावताऽस्त्यसामर्थ्यम् । अत एव वृत्तावात्मग्रहणस्य इदमेव प्रत्युदाहृतम् । सुबन्तसम्बन्धपक्षेऽपीह राजादिना चेतनेनैव पुत्रादेः सम्बन्धात् क्यच् प्रसज्येतैव । आनर्थक्यं चाविशिष्टमेवात्मग्रहणस्य । अचेतनस्य व्यावर्त्यस्याभावात् । अत एव तत्र हरदत्तः—वृक्षस्य फलमिच्छति, खट्वायाः पादमिच्छति इत्यादौ यत्राचेतनार्थं किंचिदिष्यते तद्व्यावर्त्यमिति चेन्न । तत्रापि चेतनस्यैव परिशेषितत्वात् । सर्वमेव हि भोज्यं चेतनानामेव शेषभूतम् । खट्वायाः पादमीच्छतीत्यत्रापि यस्य तत् खट्वादिकमुपभोग्यं तदर्थमेव तदिष्यते खट्वादिकं तु द्वारमात्रम् । अतः परव्यावृत्तिवचन एवात्म-

न्शब्द इति । तत्राप्यसौ यदि कर्तृषष्ठ्यन्तः सन्निच्छया सम्बध्येत तर्ह्येषितारमन्तरेणेच्छाया अभावात् आनर्थक्यं स्यात् । तस्मात्स्वशब्दपर्यायः शेषषष्ठ्यन्तः सुबन्तेन सम्बध्यते । तेनायमर्थः सूत्रस्य—इषेः सन्निधानात्तत्कर्मण एषितुरेवात्मनः सम्बन्धिनः सुबन्तादिच्छायामर्थे वा क्यजिति । एवंचात्मनः पुत्रं परस्य दासमिच्छतीत्यादौ वस्तुतः सुबन्तस्यात्मना सम्बन्धेऽपि परार्थमिष्यमाणत्वात् इषि कर्त्रवच्छेदेनात्मना सम्बन्धाभावान्न क्यचः प्रसङ्गः । ककारः 'नः क्ये' इति विशेषणार्थः । चकारः तदविघातार्थः । स्वरस्तु प्रत्ययस्वरेण धातुस्वरेण वा सिध्यति ॥

अथोदाहरणानि—

पुत्रमात्मन इच्छति **पुत्रीयति** । अत्र 'अकृतव्यूहाः पाणिनीयाः' कृतमपि शास्त्रं निवर्तयन्ति इति वा 'अन्तरङ्गानपि विधीन् बहिरङ्गो लुग्बाधते' इति वा सन्धिकार्यरहितस्य अमः 'सुपो धातुप्रातिपदिकयोः' इति लुकि 'क्यचि च' इत्यवर्णस्येत्वे सनाद्यन्तत्वेन धातुत्वाल्लडादि ॥

अश्वस्यति । **क्षीरस्यति** । **वृषस्यति** । **लवणस्यति** । 'अश्वक्षीरवृषलवणानामात्मप्रीतौ क्यचि' इति सुगागमः । अत्र 'आत्मप्रीतौ' इत्यपनीय 'अश्ववृषयोर्मैथुनेच्छायाम्' 'क्षीरलवणयोर्लालसायाम्' इत्यर्थान्तरमुक्तम् । तेनाद्ययोरुदाहरणयोः अश्ववृषौ मैथुनायेच्छत इत्यर्थः । अन्ये तु परित्यक्तप्रकृत्यर्थात् मैथुनेच्छैवार्थ इत्याहुः । तथा च भट्टिः—'इति रामो वृषस्यन्तीम्' इति । निघण्टुश्च—'वृषस्यन्ती तु कामुकी' इति । इतरयोरपि तृष्णातिरे-

को अभ्यवजिहीर्षातिरेको लालसा । तेन क्षीरलवणेच्छायां लालसारूपायामित्यर्थलाभात् क्षीरलवणे अतिशयेनाभ्यवहर्तुमिच्छतीत्यर्थो भवति । अत्र क्यच्प्रकृतीनां प्रत्ययलक्षणेन यत्पदत्वं प्राप्तं तत् 'नः क्ये' इति नियमेन नान्ताविषयमिति प्रकृत्यसुगकारयोः सवर्णदीर्घत्वं बाधित्वा 'अतो गुणे' इति पररूपं भवति । अकारोच्चारणफलं तु पूर्वसूत्रोदाहरणे ब्राह्मणास इत्यादौ । तथा 'सर्वप्रातिपदिकेभ्यो लालसायामसुग्वक्तव्यः' इत्यनकारान्तादसुकि दध्यस्यति इत्यादौ च ॥

अपरे त्वाहुः—सुग्वक्तव्य इति दधिस्यति । मधुस्यति । 'अश्वक्षीर' त्यत्र भाष्ये द्वाविमावागमौ प्रस्तुत्य दध्यस्यति मध्वस्यति दधिस्यति मधुस्यतीत्येवमर्थमित्यभिधानात् दधिमधुशब्दावेवागमिनावित्येके । अन्ये तु सर्वप्रातिपदिकेभ्यः इत्येके इति सर्वग्रहणात् बहुवचननिर्देशाच्च सर्वत्र भवतः । भाष्यं तूदाहरणदिङ्निर्देशमात्रपरमित्याहुः । अत्र मते दध्यस्यति मध्वस्यति दधिस्यति मधुस्यतीत्येवमर्थमित्यर्थशब्दः स्वार्थं न पुष्यति ॥

अशनोदकधनेभ्यः क्यचि 'अशनायोदन्यधनायाबुभुक्षापिपासागर्धेषु' इति क्रमेणैतेष्वर्थेषु द्योत्येष्वाद्यन्तयोः ईत्वापवाद आत्वम् । उदकस्य उदन्नादेशो निपात्यते । तेन **अशनायति** । **उदन्यति** । **धनायति** । अशनायत्युदन्यतिधनायतीनां तदात्वे भोक्तुकामो अशनमिच्छति, पातुकाम उदकमिच्छति, सत्यपि धने भूयो धनमिच्छतीति क्रमेणार्थः । यस्त्वौत्तरकालिकमशनं, स्नानार्थमुदकं, दरिद्रस्सन् धनमिच्छति तत्र **अशनीयति**, **उदकीयति**, **धनीयतीति** भवति । तत्रान्ये अशनायतीत्यादीनां प्रकृत्यर्थमनपेक्ष्य केव-

लं बुभुक्षादीनिवार्थान् मन्यन्ते । अत्र भारविरमुमेव अर्थं प्रतिपेदे । तदाह*—'किमु धनं धनायितुम्' इति । निघण्टुश्च—'उदन्या तु पिपासा तृट्' इति ॥

गार्ग्यमिच्छति **गार्गीयति**—अत्र 'क्यच्व्योश्च' इत्यापत्ययकारस्य हल उत्तरस्य लोपे 'क्यचि च' इतीत्वम् ॥

उपार्षभीयति, उपर्षभीयति । उपाल्कारीयति, उपल्कारीयति । अत्र 'वा सुप्यापिशलेः' इति सुबन्तावयवऋकारादिधातुपरत्वात् पूर्वपरयोरेका वृद्धिर्वा भवति । ऋकारऌकारयोः सावर्ण्यादियं ऌकारादावपि भवति । तत्र 'उरण्रपरः' इति प्रत्याहारग्रहणात् लपरत्वम् । वाग्रहणं आद्गुणस्य प्राप्त्यर्थमिति वृद्ध्यभावेऽपि स भवति ॥

नन्वेतद्वाग्रहणं यथाप्राप्ताभ्यनुज्ञानार्थं स्यात् इति 'ऋत्यकः' इति प्रकृतिभावः कस्मान्न† भवति । उच्यते—अत्राप्यनुवृत्तस्य धातुग्रहणस्य 'उपसर्गादृति' इत्यत्रैव तद्बाधनार्थत्वात् इदं च धातुग्रहणस्य प्रकृतिभावबाधनार्थत्वं ऋतीयतावुपपादितम् । अत एव 'वा सुपि' इत्यत्र वृत्तौ वाग्रहणस्य प्रयोजनं गुण एव दर्शितम् । उपगता ऋषभीयका अमुं देशं इत्यत्र उपर्षभीयकः उपऋषभीयक इति गुणप्रकृतिभावौ भवतः । वृद्धिस्तु पूर्वसूत्रवत् 'वा सुपि' इत्यत्र अनुवृत्तस्य उपसर्गग्रहणस्य प्राद्युपलक्षणार्थत्वाभावात् न भवति । उपलक्षकत्वाभावश्च ऋतीयतावुक्तः । ऋषभस्य समीपमुपऋषभं तदिच्छति उपऋषभीयति इत्यत्र तु सङ्ग्रामयतीति रूपस्य सङ्ग्रामं करोतीति सङ्ग्रामशब्दात्कारितणिचा सिद्धावपि चुरादौ "सङ्ग्राम युद्धे" इति सम उपसर्गात्

* प्रतिपेदे । उदाहरणम्. † भावः पक्षे कस्मान्न.

पूर्वमडाद्यर्थात्पाठादन्यत्र सोपसर्गात् सङ्घातात् धातोः ‘धातुसंज्ञानिमित्ते प्रत्यये चिकीर्षिते उपसर्गाः पृथक् क्रियन्ते’ इति ज्ञापनात् सोपसर्गात् संघातात् धातुसंज्ञानिमित्तः प्रत्ययो भवति सङ्ग्रामयतेरेवेति नियमाद्वा पृथक्कृतोपसर्गादेव स भवतीतीहापि ऋषभशब्दादेव क्यचा भवितव्यम् । सुपस्तु उपर्षभशब्दाद्विधानात् प्रत्ययग्रहणपरिभाषया तस्यैव सुबन्तत्वं न तु तदवयवस्य ऋषभशब्दस्यापीत्यृषभीयशब्दः सुबन्तावयवको धातुर्न भवतीति तत्परत्वाभावादनुपसर्गत्वाच्च ‘वा सुपि’ इति वृद्धेरप्रसङ्गः । अत एव उपसर्गस्य पृथक्कारे उपार्षभीयतीत्यत्र ऋषभीयस्यैवाङ्गत्वात् तस्यैवाड्भवति । तस्मादेव क्त्वायामुपेन प्रादिसमासे ल्यपि **उपर्षभीय** इति भवति । तथा सनि तत्सहितस्यैव धातुत्वात् षशब्दस्य द्विर्वचने **उपार्षिषभीयिषती**ति भवति ॥

नन्वयं सङ्ग्रामशब्दः उपसर्गसदृशावयवोऽस्त्विति कथमुक्तस्यार्थस्य प्रमाणं स्यादिति । उच्यते—यत् ‘वा पदान्तस्य’ इति अकृतपरसवर्णं पठ्यते । अत्र हरदत्तः—सङ्ग्रामशब्दो अनुदात्तेत्त्वार्थः स्यात् । न च तन्मात्रार्थत्वे ग्राम युद्ध इति शक्यते पठितुम् । अध्यैष्टेत्यादौ आट इव मध्येऽटः प्रसङ्गादिति ज्ञापकमभाङ्क्षीत् । तदाऽस्यानुदात्तेत्त्वमपाणिनीयमिति नोदेति । अत एव भृशादौ कैयटे सङ्ग्रामयतिरनुदात्तेद्बोद्धव्य इत्युक्तम् । अयं च अनुदात्तेत् सङ्ग्रामयतिरिष्यते इति भाष्ये च ज्ञापकत्वमेवोक्तम् ॥

ऋकारमिच्छति ऋकारीयति **उपर्कारीय**तीत्यत्र ‘वासुपि’ इति वृद्धिः ऋतीति तपरकरणान्न भवति । अत एव शाकलः प्रकृतिभावोपि । **मालीयति** । अत्राकृतव्यूहाः पाणिनीयाः इति माल आ अम् य इति स्थिते सुब्लुक्यन्तरङ्गत्वेन पूर्वमेकादेशे परमपीत्वं

पश्चाद्भवति। उक्तं च भाष्ये—'आपोरेकादेश ईत्वलोपाभ्यां भवत्यन्तरङ्गः' इति*। ननु पूर्वमपीत्त्वे 'यस्य' इति लोपेनेष्टसिद्धिरिति चेत् न; तस्मिन्नीत्वस्य बहिरङ्गस्यासिद्धत्वात्। उस्रामैच्छत् औस्रीयत्। औङ्कारीयत्। आ ऊढः ओढः औढीयत्। अत्र 'उस्यपदान्तात्' 'ओमाङोश्च' इति पररूपत्वं 'आटश्च' इति पुनर्वृद्धिविधानार्थेन चशब्देन बाध्यते। तथा च वार्तिकम्—'उस्योमाङ्क्ष्वाटः प्रतिषेधः' इति उसि ओमाङोश्च परयोः आटः पररूपं नेत्यर्थः। औढीयत् इत्यत्र आङः उकारेण सहैकादेशे उपसर्गरूपत्वं पृथक् न प्रतीयते इति सोपसर्गात्सङ्क्रामयतेः इत्यस्याप्रवृत्तेः ओकारात्पूर्वमाटि तस्यान्तवद्भावेन लब्धाङ्गव्यपदेशस्य औ॰ारस्याटश्च 'ओमाङोश्च' इति प्राप्तेन पररूपेण वृद्धेः बाधः स्यादिति वार्तिकमाङ्ग्रहणम्। एवं आ इतः एतः ऐतीयत् इत्यपि द्रष्टव्यम्। आ इतः एतः एतीयति प्र एतीयति प्रेतीयति इत्यत्र प्राप्तं अवर्णान्तोपसर्गविषयं एङि पररूपं बाधित्वा प्राप्तां 'एत्येधति' इति वृद्धिं 'ओमाङोश्च' इति पररूपं परत्वाद्बाधते॥

आ ऋश्या अर्श्या आगता ऋश्या इति प्रादिसमासः। 'आद्गुणः' इत्यनेन आङृकारयोरेको गुणः। तमिच्छति आर्श्यीयति। **आर्शीयत्** इत्यत्र गुणस्य अन्तवद्भावेनाङ्गत्वात् 'ओमाङोश्च' इति प्राप्तं पररूपं परत्वाद्बाधित्वा प्राप्तः सवर्णदीर्घः चकारेण पुनः पररूपविधानात् बाध्यते॥

दधीयति। **मधूयति**—'अकृत्सार्वधातुकयोः' इति दीर्घः।

*'अनुपेकादेश इत्वोत्वाभ्यां भवत्यन्तरङ्गतरः' इति मुद्रितकोशपाठः.

कुमारीयति । **वधूयति** । अरामिच्छति **रीयति** । ऋकारस्य 'रीङ् ऋतः' इति रीङादेशः । ऋकारऌकारयोः सावर्ण्येनालमिच्छतीत्यत्रापि इदमेव रूपम् । अत्र तपरकरणात् ॠकारस्य रीङभावात् ॠयतीति भवति । ऋत इत्त्वं तु ॠकारान्तस्य धातोरितीह न प्रसजति ॥

हेशब्दमिच्छति **हेयति** ॥

गामिच्छति **गव्यति**–'वान्तो यि' इत्यवादेशः । **गव्यिता** इत्यादौ अतोलोपे 'क्यस्य विभाषा' इति हल उत्तरस्य क्यप्रत्ययाकारस्यार्धधातुके विधीयमानो लोपः सन्निपातपरिभाषया न भवति। **अगव्यीत्** इत्यत्र 'वदव्रज' इत्यत्र अन्तग्रहणस्य हल्समुदायप्रतिपत्त्यर्थत्वेऽपि अल्लोपस्य स्थानिवत्त्वेन अङ्गस्य हलन्तत्वाभावात् न वृद्धिः ॥

रैयति । **ग्लाव्यति** । **ग्लाव्यिता** । गव्यतिवद्वान्तादेशो यलोपाभावश्च ॥

श्वलिह्यति । **श्वलिहिता** । **श्वलिह्यिता**—अतोलोपस्य पूर्वविधौ स्थानिवत्त्वात् 'न धातुलोपः' इति लघूपधगुणाभावः । **अश्वलिहीत्** । **अश्वलिह्यात्** । अत्राल्लोपस्य स्थानिवत्त्वात् हलन्तलक्षणायाः वृद्धेरभावः । अत्र 'होढः' न भवति 'नः क्ये' इति नान्तस्यैव क्ये पदत्वात् हकारान्तस्य पदत्वाभावात् । अत एव **गोदुह्यति** इत्यत्र 'दादेः' इति घत्वम् । **मित्रद्रुह्यति** इत्यादौ 'वा द्रुह' इति तद्विकल्पः । **उपानह्यति** इत्यत्र 'नहो धः' इति धत्वं, **अनडुह्यति** इत्यत्र 'वसुस्रंसु' इति दत्वं च न भवति ॥

पुरमिच्छति **पुर्यति** । खयमिच्छति **खयति** । दिवमिच्छति **दिव्यति**—'हलि च' इति दीर्घः रेफवकारान्तस्य धातोः 'हलपरत्वे' इतीह न भवति । **चतुर्यति**—अत्रापि धातुर्न रेफान्त इति दीर्घो न भवति । गिरमिच्छति **गीर्यति**—अत्र गिरः क्वौ 'ऋत इद्धातोः' इति इत्वे रेफान्तो धातुः हल्पर इति दीर्घः । **गीर्यिता, गिरिता**—'क्यस्य विभाषा' इति यलोपपक्षे हल्परत्वाभावान्न दीर्घः । 'र्वोरुपधायाः' इति रेफवकारान्तस्य धातोः पदस्य विधीयमानोपि न भवति । 'नः क्ये' इति नियमेन पदत्वाभावात् । स्वरिच्छतीत्यादौ अव्ययेभ्यः क्यचि 'मान्ताव्ययेभ्यः प्रतिषेधः' इति क्यचः प्रतिषेधाद्वाक्यमेव । यत्तु तत्र 'गोसमानाक्षरनान्तादित्येके' इति क्यचः प्रकृतिपरिगणनं तद्वाच्यतीत्याद्यसिद्धिप्रसङ्गात् न स्थितः पक्ष इति कैयटादौ स्थितम् ॥

फलतीति फल् फल्यति । यल्यति* । इदमिच्छति इत्यत्र क्यचि मान्ताव्ययप्रतिषेधात् वाक्यमेव । इह मान्तग्रहणेन प्रातिपदिकस्य विशेषणात् इमाविच्छति काविच्छतीत्यादावपि वाक्यमेव भण्यते ॥

प्राणितीति प्राण् **प्राण्यति** । **राजीयति** इति 'नः क्ये' इति पदत्वात् 'नलोपः प्रातिपदिक' इति नलोपे 'क्यचि च' इतीत्त्वम् । न च नलोपस्यासिद्धत्वं 'नलोपः सुप्स्वरसंज्ञातुग्विधिषु कृति' इति नियमात् ॥

अहर्यति—'रोः सुपि' इति अह्नः पदस्य सुप्परत्वाभावात् 'अहन्' इति रुत्वापवादो रेफः । नन्वसौ नलोपे पूर्वत्रासिद्धस्स्यात् । अस्ति च वचनस्य अवकाशः हे अहरित्यत्र 'स्वमोर्न-

*तमिच्छति तयति । ययति । इति मुद्रितकोशपाठः.

पुंसकात्' इति सोर्लुकालुप्तत्वात् असुप् नलोपश्च 'न ङिसम्बुद्ध्योः' इति निषिध्यते। नैष दोषः। अहन्नित्यत्राह्न इति षष्ठ्या निर्देश्ये अहन्निति प्रथमान्तेन निर्देशादहन्नित्यावृत्त्या अहन्नेव। न लुप्तनकार इति स्थितम्। स एव चाहन्शब्दः इहापि रेफविधावनुवर्तत इति॥

उज्झेः क्विबन्तादनुकरणाद्वा **उज्झ्यति**। **ककुभ्यति**। **अर्घ्यति**। **परिब्रढ्यति**। **विलम्ब्यति***। **अङ्ग्यति**। **मृड्यति**†। अर्घादिभ्यस्तत्करोतीति णौ णेश्च क्वावुदाहरणानि। परिबृढेर्णाविष्ठवदित्यतिदेशात् ऋकारस्य 'र ऋतो हलादेः' इति रभावः। अतोऽन्यत्राङ्गादेर्धातोः अनुकरणात्क्विबन्ताद्वा क्यच् द्रष्टव्यः। युध्यतिभिषज्यतिप्रभृतयो गताः। प्रक्रियासाम्याद्दृष्टान्तेन प्रदर्शिताः‡॥

त्वामिच्छति मामिच्छति **त्वद्यति मद्यति**—'प्रत्ययोत्तरपदयोश्च' इत्येकार्थवृत्तयोः युष्मदस्मदोर्मपर्यन्तस्य त्वमावादेशौ भवतः। 'त्वमावेकवचने' इत्यत्र एकस्य वचनमेकवचनं न तु पारिभाषिकमिति स्थिते तत्रापि तस्यैवानुवर्तनात् एकार्थवृत्तयोरित्युक्तम्। तेन युष्मदस्मच्छब्दौ यदा एकार्थे समासस्तु द्विबह्वर्थः तदाऽपि त्वमौ भवतः। यथा अतित्वामिच्छति अतिमामिच्छति **अतित्वद्यति**

---

*वितुम्ब्यति. †गृह्यति.

‡ 'युध्यति भिषज्यति' इत्येतदनन्तरं किंचित् स्थलं परित्यज्य 'बगडान्ताः प्रक्रियासाम्यात्कान्ते प्रदर्शिताः' इति लिखितकोशयोः पाठः 'युध्यतिभिषज्यतिप्रभृतयः दशगण्यन्तः प्रक्रियासाम्यात् स्वस्वान्ते प्रदर्शिताः' इति तु युक्तम्.

अतिमद्यति । अत्र विग्रहवाक्ये **अतित्वां अतिमां** इति रूपम् । अति युष्मदस्मदोः द्वितीयाद्विवचने तस्य 'ङेप्रथमयोः' इत्यमि कृते युष्मदस्मदोरेकार्थत्वात् 'त्वमावेकवचने' इति मपर्यन्तस्य त्वमयोर्दकारस्य शेषे लोपापवादे 'द्वितीयायां च' इत्यात्वे एकादेशे च 'युवावौ द्विवचने' इत्यत्रापि द्वयोर्वचनं द्विवचनमिति स्थिते तत्र च युष्मदस्मदोर्युवावादेशौ न शङ्क्यौ । अतित्वानतिमानिति तु 'ङे प्रथमयोः' इत्यमादेशापवादे 'तस्मादित्युत्तरस्य' इति परिभाषया 'शसो न' इति तदादेर्नकारे आत्वैकादेशयोश्च सकारस्य संयोगान्तलोपे च भवति । नन्वत्र युष्मदस्मदोः एकार्थयोः विभक्तिः परेति 'त्वमावेकवचने' इत्येव त्वमयोस्सिद्धेः किं पुनः प्रत्ययोत्तरपदवचनेन । भवेदेतदेवं विभक्तिपरत्वे सिद्धे तदेव तु न सिद्ध्यति । विभक्तेर्लुका लुप्तत्वेन प्रत्ययलक्षणाभावात् ॥

नन्वन्तरङ्गत्वाल्लुकः पूर्वं त्वमादेशौ भविष्यतः । न च लुका लुप्तत्वेनानयोः बाधनमाशङ्क्यं, अन्तरङ्गत्वाददेशयोः । नित्यान्तरङ्गयोश्च अन्तरङ्गं बलीयः, यथोक्तम्—'परनित्यान्तरङ्गप्रतिपदविधयो विरोधिसन्निपाते तेषां मिथः प्रसङ्गे परबलीयस्त्वम्' इति । एवं तर्हीदमेव 'प्रत्ययोत्तरपदयोश्च' इत्यादेशविधानं ज्ञापकं, अन्तरङ्गानपि विधीन् बहिरङ्गो लुग्बाधत एवेति । नन्वेतत् परमस्त्वं, त्वत्तरः, त्वं प्रधानमस्य त्वत्प्रधानः, तुभ्यं हितं त्वद्धितं, तवेदं त्वदीयं, तव पुत्रस्त्वत्पुत्रः, परमोऽहं मत्तरः, अहं प्रधानमस्य मत्प्रधानः, मह्यं हितं मद्धितम्, ममेदं मदीयं, मम पुत्रो मत्पुत्र इति । यत्र 'त्वाहौसौ' 'तुभ्यमह्यौ ङयि' 'तव ममौ ङसि' इति विधीयमानानन्तरङ्गानपि त्वाहादीन् बाधित्वा त्वमादेशविधानेन अर्थ-

वक्ष्यमाणमिति कथं ज्ञापकं स्यात् । इदं तर्हि ज्ञापकं उत्सर्गसमानदेशा अपवादा इति त्वाहाद्यपवादत्वेनैव त्वमयोर्मपर्यन्तविषयत्वे सिद्धे यत्पुनर्मपर्यन्तस्येत्यनुवर्त्य तयोर्विधानं, बाधे तु लुकाऽन्तरङ्गाणामपि त्वाहादीनां तदपवादत्वेनैव त्वमयोर्मपर्यन्तविषयत्वस्य सिद्धेः किं तदर्थेन मपर्यन्तस्येत्यनुवर्तनेन ॥

ननु शब्कल्पबाद्यपवादानां बहुजादीनां भिन्नविषयाणामपि दर्शनात् सर्वादेशनिवृत्त्यर्थ एतत्स्यादिति कथं ज्ञापकं भवति । उच्यते— इह त्वाहादयो विषयनिर्देशार्थमनुवर्तन्ते, तेन त्वाहादीनां प्रसङ्गे प्रत्ययोत्तरपदयोस्त्वमयोर्विधानादेव मपर्यन्तविषयत्वे सिद्धे यत्पुनर्मपर्यन्तस्येत्यनुवर्तनेन अनयोर्विधानं तत् त्वया कृतं त्वत्कृतं त्वामिच्छति त्वद्यतीत्याद्येवमर्थमिति ज्ञापकमेवोक्तस्यार्थस्य । एवं च युवामिच्छति युष्मद्यति अतियुवामिच्छति अतियुष्मद्यति आवामिच्छति अस्मद्यति अत्यावामिच्छति अत्यस्मद्यति इत्यत्र युष्मदस्मदोः द्विवचनत्वेऽपि विभक्तेर्लुका लुप्तत्वेन तत्परत्वाभावात् ‘ युवावौ द्विवचने ’ इति युवावौ न भवतः, लुकः पूर्वं त्वमयोरन्तरङ्गत्वेऽपि न प्रसङ्गो बहिरङ्गेणापि लुका बाधस्य इदानीमेव ज्ञापितत्वात् । ‘ प्रत्ययोत्तरपदयोः ’ इति त्वमौ त्वेनकार्थत्वान्न प्रसजतः । वाक्ये अतियुवां अत्यावां इति रूपं भवति युष्मदस्मद्भ्यां द्वितीयैकवचनद्विवचनयोः ‘ ङे प्रथमयोः ’ इत्यमिति प्रकृत्योर्मपर्यन्तस्य युवावयोर्दकारस्य ‘ द्वितीयायां च ’ इत्यात्वे सवर्णदीर्घे अमि पूर्वत्वे च, अतियुवान् अत्यावान् इति रूपं तु शसि तदादेरमादेशापवादे ‘ शसो न ’ इति नकारे प्रकृत्योः पूर्ववत् युवावयोरात्वे सकारस्य संयोगान्तलोपे च भवति । अतियुष्मामिच्छति अतियुष्मद्यति अतियुष्मा-

निच्छति अतियुष्मद्यति । अत्यस्मामिच्छति अत्यस्मद्यति अत्यस्मानिच्छति अत्यस्मद्यति इत्यत्रापि 'प्रत्ययोत्तरपदयोः' इति त्वमौ प्रकृत्योरनेकार्थत्वादेव न भवतः । अत्रापि वाक्ये अतियुष्मामित्यादि रूपमतियुवामित्यादिवन्नेयम् ॥

उच्छयति, मव्यति, मर्थ्यति । अवर्च्यत्यादिवत् प्रक्रियोन्नेया । अत्रोच्छिर्न क्विबन्तः । तत्र हि 'छ्वोश्शूडनुनासिके' इति शकारेण भवितव्यम् ॥

वाच्यति, अट्यति, मरुत्यति, शक्यति, लुप्यति, दिश्यति, पुष्यति, पयस्यति—अत्र पुत्रादेः कर्मणः जीवत्यादिवत् क्यजन्तेऽन्तर्भावात् अकर्मकत्वात् भावकर्त्रोर्लडादयो भवन्ति । उदाहृतं किञ्चित् ॥

भावे **पुत्रीयते** इत्यादि द्रष्टव्यम् ॥

पुत्रीयादेस्सनि 'यथेष्टं नामधातूनां' इति पर्यायेण सर्वस्यैकाचो द्विर्वचनविधानात् **पुपुत्रीयिषति, पुतित्रीयिषति, पुत्रीयियिषति** इत्यादि भवति ॥

इह कस्मान्न भवति महान्तं पुत्रमिच्छति **महापुत्रीयतीति** । किमिहात्वाभावश्चोद्यते, अथ केवलात् प्रत्ययाभावः, समुदायाद्वा । आत्वं तावन्नेह भवति, प्रत्ययार्थेन सापेक्षत्वात्, समासाभावादनुत्तरपदत्वात् । केवलात् प्रत्ययाभावः महता सापेक्षत्वेन असामथर्च्यात् । समुदायात्त्वकर्मकत्वात् विशिष्टस्य पुरुष*स्येप्यमाणत्वेऽपि परस्परं प्रत्ययार्थेन सम्बन्धादसामथर्च्यम् । सुब्ग्रहणं च पदविधित्वेन समर्थपरि-

*महत्त्वविशिष्टस्य पुत्र.

भाषोपस्थानार्थमेव क्रियते । ननु धातुव्यावृत्त्यर्थं स्यात् । सन् तत्र बाधको भविष्यति । ङ्याप्प्रातिपदिकादुत्पत्तावपि नान्ते नलोपस्तु सुबन्तादुत्पत्तौ यत् 'नः क्ये' इति पदत्वस्य नियामकं तदेवात्र विधायकमिति भविष्यति । नन्वसति सुब्ग्रहणे विशेषाभावात् प्रातिपदिकादिव सुबन्तादपि प्रत्ययोत्पत्तौ वाच्यतीत्यादौ कुत्वं स्यात् । एवं तर्हि 'नः क्ये' इति वचनं सुबन्तादुत्पत्तौ नियमार्थं प्रातिपदिकादुत्पत्तौ विध्यर्थं च भविष्यति ॥

नन्वत्र कर्मग्रहणेनैव सुबन्तत्वं लप्स्यते । पञ्चकपक्षेऽप्यस्य द्योतिकया विभक्त्या भाव्यम् । अतः अन्तरेणापि सुब्ग्रहणं वस्तुतः पदविधित्वेन समर्थपरिभाषोपस्थास्यते इति किं तद्ग्रहणेन । मैवम् ; यत्र हि पदस्यैवासाधारणं किञ्चिद्रूपमाश्रीयते स एव पदविधिः न त्वीदृशमपीति । कर्मग्रहणं तु न पदस्यैवासाधारणं 'धातोः कर्मणः' इत्यपि दर्शनात् । न तर्हीदानीमिदं भवति महापुत्रीयतीति । भवति यदैतद्वाक्यं महान्पुत्रः महापुत्रः तमिच्छतीति ॥

'काम्यच्च' । क्यचो विषये अयं भवति, 'मान्ताव्ययेभ्यः' इति निषेधात् तान्येवास्याप्राप्तक्यञ्चि विषयः स्यादिति न वाच्यम् । पाश्चात्यस्य कात्यायनवचनस्य सूत्रप्रणयनकाले अभावात् । पुत्रमात्मन इच्छति **पुत्रकाम्यति** इत्यादि । **त्वत्काम्यति, मत्काम्यति, युष्मत्काम्यति अस्मत्काम्यति** इत्यत्र 'प्रत्ययोत्तरपदयोः' इति त्वमौ, तदभावश्च । क्यचि चित्करणं पुत्रकामिष्यतीत्यादौ सतिशिष्टस्वरं बाधित्वा धातुस्वरो यथा स्यादिति । ककारस्तु नेत् प्रयोजनाभावात् ॥

अग्निकाम्यतीत्यादावधातुविहितत्वात् आर्धधातुकत्वाभावात् नास्ति गुणप्रसङ्गः । कंसं परिमार्ष्टि कंसपरिमृट् । कंसपरिमृट् काम्यतीत्यत्र मृजेर्वृद्धिः प्रत्ययमात्रे विधीयमानाऽपि धातोः स्वरूपग्रहणे तत्प्रत्यये कार्यविज्ञानात् न प्रसजति । तत्प्रत्ययो धातुसंशब्दनेन विहितः प्रत्ययः ॥

यजेः 'विजुपेश्छन्दसि' इति विचि उपयट्, वचेः क्विपि वाक् । **उपयट्काम्यति । वाक्काम्यति** । अत्र यजादिभिः किंतो विशेषणात् 'धातोः स्वरूपग्रहणे' इति वा संप्रसारणाप्रसङ्गः । अन्तर्वर्तिन्या विभक्त्या यथायोगं पदकार्याणि द्रष्टव्याणि ॥

पयस्काम्यति । यशस्काम्यति । अन्तर्वर्तिन्या विभक्त्या पदत्वेन सोः रुत्वे विसर्जनीये तस्य कुप्वोरपदाद्योः परयोर्विधीयमानं 'सोऽपदादौ' इति सत्वं भवति । **स्वःकाम्यति** इत्यादौ 'सोऽपदादौ' 'अनव्ययस्य' इति वचनात् सत्वाभावः । अधिकरणशक्तिप्रधानस्याप्यस्य वृत्तिविषये शक्तिमत्प्रधानत्वात् एषणाकर्मत्वेन योगः । यथा—दिवाभूता रात्रिः दोषाभूतमहरित्यादौ अधिकरणशक्तिप्रधानत्वेऽपि शक्तिमत्प्राधान्यात् अभूततद्भावयोगः । **श्रीः काम्यति** इत्यादौ रोः 'काम्ये' इति काम्ये सत्वनियमात्सत्वाभावः । **सर्पिष्काम्यति । धनुष्काम्यति** इत्यादौ सत्वं बाधित्वा 'इणष्षः' इति विसर्जनीयस्य षत्वं भवति । इदं च सत्वस्यापवाद इति यत्र तत्प्रसङ्गस्तत्रैव भवति इत्युच्चैःकाम्यति । **गीः काम्यति** इत्यादौ न भवति । **पुंस्काम्यति** इत्यत्र पुंसः संयोगान्तलोपे 'पुमः खय्यम्परे' इति रुत्वं निवर्त्य 'संपुंकानां सो वक्तव्यः' इति सत्ववचनान्नास्ति विसर्जनीय इति न षत्वप्रसङ्गः ॥

'उपमानादाचारे'—कर्मणः सुपो वा इति वर्तते । तत्र प्रत्ययार्थस्याचारक्रियया सन्निधानात्तदपेक्षया कर्मण उपमानात् सुबन्तादाचारे क्यजित्यर्थो भवति। यद्यपि काम्यजनन्तरः तथाऽपि पूर्वसूत्रे चकारेण इहाद्य एव* क्यजनुकृष्टः स एवात्र विधीयते पुत्रमिवाचरति छात्रम् । उदाहरणान्यवशिष्टानि प्रक्रिया च इच्छाक्यजन्तवद्द्रष्टव्याणि । अत्रोपमानेन उपमेयमाक्षिप्यते । तत्र प्रत्यासत्त्या साधारणधर्मभूताचारक्रियापेक्षया कर्म भवत् उपमानकर्मवत् प्रत्ययान्ते धातावनन्तर्भावात् अनभिहितमिति तत्र द्वितीया भवति। तथा पुत्रीयते इत्यादौ कर्मणि यगादयोऽपि भवन्ति ॥

नन्वन्या पुत्रविषयाऽऽचारक्रियाऽन्या छात्रविषयेति आचारक्रियायाः वस्तुतो भेदात् एकधर्मसमावेशस्यात्राभावात् कथमौपम्यम् । उच्यते—आचरितुरेकत्वात् आचारसमावेशाद्वा आचार एकोऽवसार्यते, अन्यथा सर्वत्रैवोपमानोपमेयगतस्य धर्मस्य वस्तुतो भेदादौपम्यव्यवहारोच्छेदः स्यात् ॥

'अधिकरणाच्चेति वक्तव्यम्' इत्युक्तत्वात् **प्रासादीयति** कुड्य इत्यादौ सप्तम्यन्तादपि भवति। त्वयीवाचरति **त्वद्यति,** मयीवाचरति **मद्यति** । युष्मदस्मदोरेकार्थत्वात् 'प्रत्ययोत्तरपदयोः' इति त्वमौ । युवयोरिवाचरति आवयोरिवाचरति **युष्मद्यति, अस्मद्यति**—अत्र नास्त्येकार्थत्वमिति त्वमौ न भवतः । द्विवचनत्वेऽपि विभक्तेर्लुका लुप्तत्वान्न युवावौ । लुकः पूर्वं तु न भवतः 'अन्तरङ्गानपि विधीन् बहिरङ्गो लुग्बाधते' इत्युक्तत्वात् । युष्मास्विवाचरति अस्मास्विवाचरतीत्यत्रापि एकार्थत्वाभावान्न भवतस्त्वमौ

---

*इहार्थ इव इति लिखितकोशपाठः

त्वामतिक्रान्ते **अतित्वयि,** अतिक्रान्तयोः **अतित्वयोः** अतिक्रान्तेषु **अतित्वासु।** एवमतिमयि, **अतिमयोः, अतिमासु**—सर्वत्रात्र प्रकृत्योरेकार्थत्वात् त्वमयोः अजादावनादेशे विभक्तौ 'योऽचि' इति दकारस्य यकारः। हलादौ तु युष्मदस्मदोरनादेशविभक्तिपरत्वादात्वम्। एभ्योपि क्यचि त्वमयोः **त्वद्यति, मद्यति,** इति भवतः। युवामतिक्रान्ते **अतियुवयि,** अतिक्रान्तयोः **अतियुवयोः,** अतिक्रान्तेषु **अतियुवासु,** एवमत्यावयि, **अत्यावयोः अत्यावासु,** अत्र प्रकृत्योर्द्विवचनत्वेन युवावयोर्दकारस्य पूर्ववद्यत्वात्वे एभ्यस्तु क्यचि प्रकृत्योरेकार्थत्वाभावात् न त्वमौ भवतः। **युष्मद्यति। अस्मद्यति** इति भवतः। द्विवचनत्वेऽपि विभक्तेर्लुकालुप्तत्वेन तत्परत्वाभावात् युवावौ न भवतः। तथा लुकः पूर्वमपि न भवत इति इदानीमेवोक्तम्। युष्मानतिक्रान्ते **अतियुष्मयि,** अतिक्रान्तयोः **अतियुष्मयोः,** अतिक्रान्तेषु **अतियुष्मासु।** एवं **अत्यस्मयि अत्यस्मयोः अत्यस्मासु**—पूर्ववद्दकारस्य यत्वात्वे। अत्रापि क्यचि प्रकृत्योरेकार्थत्वाभावेन त्वमयोरभावात् अतियुष्मद्यति अत्यस्मद्यति इति भवतः॥

'कर्तुः क्यङ् सलोपश्च'। उपमानात् सुपः आचारे वा इति वर्तते। अत्रापि पूर्ववत् सन्निहिताचारक्रियाऽपेक्षया कर्तृत्वोपमानत्वे। तेनायमर्थः—उपमानादाचारक्रियायाः कर्तुः सुबन्तादाचारेऽर्थे वा क्यङिति। ककारो 'नः क्ये' इति विशेषणार्थः। ङकारस्तदविघातार्थः तङर्थश्च। सलोपश्च इति चशब्दोन्वाचये। सेति लुप्तषष्ठीकं पृथक्पदम्। तेन च लोपापेक्षया स्थानषष्ठ्यन्तत्वेन सम्बन्धिनो जायमानस्य कर्तुर्नित्यं तस्य विशेषणात्तदन्तविधौ सकारान्तेभ्यः

क्यङ् तस्य सकारस्य लोप इत्यर्थो भवति । अत्रापि वेत्यस्य सम्बन्धात्तस्य च व्यवस्थितविभाषात्वात् ओजोप्सरसोर्नित्यं सलोपो भवति; अन्यत्र विकल्पेन । उक्तं च—

ओजसोप्सरसोर्नित्यं पयसस्तु विभाषया ॥

इति ॥ पयस इति ओजोऽप्सरोव्यतिरिक्तानां सकारान्तानामुपलक्षणमिति व्याख्यातारः ॥

श्येन इवाचरति **श्येनायते, काकायते, ओजायते, अप्सरायते, पयस्यते, पयायते, यशस्यते, यशायते** । ओजश्शब्दो वृत्तिविषये तद्वति वर्तते । **अर्चिष्यते** । **सर्पिष्यते** इत्यादौ प्रत्ययसकारत्वात् षत्वम् । अत्र 'नः क्ये' इति नियमेन सकारस्य पदान्तत्वाभावः पदान्तत्वे हि 'अपदान्तस्य मूर्धन्यः' इति वचनात् षत्वं न स्यात् । अन्तस्य सकारस्य लोपवचनात् **हंसायते सारसायते** इत्यादौ अनन्त्यस्य लोपो न भवति । उपमानकर्तुरिव उपमेयकर्तुः प्रत्ययान्ते धातावन्तर्भावात् तत्र लादयो भवन्ति ॥

अकर्मकत्वात् भावे च **श्येनायत** इति । त्वयीवाचरति **त्वद्यते** । **मद्यते** । 'प्रत्ययोत्तरपदयोश्च' इति युष्मदस्मदोः एकार्थयोस्त्वमौ । युवामिवाचरति **युष्मद्यते अस्मद्यते,** अत्रानेकार्थत्वान्न त्वमौ । अन्तर्वर्तिन्या विभक्तेर्लुका लुप्तत्वात् 'युवावौ द्विवचने' 'यूयवयौ जसि' इति युवावादयो न भवन्ति । लुकः पूर्वं तु बहिरङ्गेणापि तेन बाधस्योक्तत्वात् न भवन्ति । त्वामतिक्रान्तः **अतित्वम्,** अतिक्रान्तौ **अतित्वां** अतिक्रान्ताः **अतित्वम्,** मामतिक्रान्तः **अत्यहम्** । अतिक्रान्तौ

अतिमाम् अतिक्रान्ताः **अतिमं**—सर्वत्र विभक्तेः 'ङे प्रथमयोरम्' इत्यम्भावो द्विवचनादन्यत्र 'शेषे लोपः' इति दकारलोपः। तत्र 'प्रथमायाश्च द्विवचने' इत्यात्वम्। तत्र सौ 'त्वाहौसौ' इति त्वाहौ। अन्यत्र 'त्वमावेकवचने' इति त्वमौ। आभ्यां पराभ्यामपि त्वाहयोर्न बाधः, त्वाहादीनां तु पूर्वविप्रतिषेधेन त एवेष्यन्त इत्युक्तत्वात्। जसि तु न्याय्यविप्रतिषेधेन युवावौ न भवतः। एवं * एभ्यः क्यङि **अतित्वद्यते अतिमद्यते** इति भवतः। युवामतिक्रान्तौ **अतित्वम्** अतिक्रान्तौ **अतियुवाम्** अतिक्रान्ता **अतियूयम्**, एवं आवामतिक्रान्तः **अत्यहम्**, अतिक्रान्तै **अत्यावाम्**, अतिक्रान्ता **अतिवयम्**। सौ जसि च 'त्वाहौसौ' 'यूयवयौ जसि' इत्याभ्यां पराभ्यां 'युवावौ द्विवचने' इत्यस्य बाधः। द्विवचने तु युवावयोः 'प्रथमायाश्च द्विवचने' इति दकारस्यात्वम्। इतरयोस्तु शेषे लोपः। एभ्यस्तु क्यङि युष्मदस्मदोरनेकार्थत्वात् त्वमयोरभावात् **अतियुष्मद्यते, अत्यस्मद्यते** इति भवतः। अन्तर्वर्तिनीं विभक्तिमाश्रित्य तत्तदादेशाभावः तत्रतत्रोक्तः। युष्मानतिक्रान्तः **अतित्वम्** अतिक्रान्तौ **अतियुष्माम्**, अतिक्रान्ता **अतियूयम्**, एवमस्मानतिक्रान्तः अत्यहम्, अतिक्रान्तौ **अत्यस्माम्** अतिक्रान्ता **अतिवयम्**—पूर्ववत् प्रथमाया अम्भावे द्विवचने आत्वम्। अन्यत्र शेषे लोपो यथायोगम्—'त्वाहौसौ,' 'यूयवयौ जसि' इति त्वाहादयश्च। एभ्योपि क्यङि **अतियुष्मद्यते अत्यस्मद्यते** इति भवतः। उदाहरणान्यवशिष्टानि प्रक्रिया चेच्छाक्यजन्तवदुन्नेयानि ॥

अवर्णस्येत्यादिकं 'क्यचि च' इति विधीयमानमिह न भवति ॥

---

* 'अतित्वं, अतिमं' इत्यत्र 'अतियूयं, अतिवयं' इत्युदाहृत्य न्याय्यविप्रतिषेधेन यूयवयाभ्यां त्वमोर्बाध एव इति पठितं मुद्रितकोशे.

कुमारीवाचरति कुमारायते। हरिणीवाचरति हरितायते। गौरीवाचरति गौरायते। गुर्वीवाचरति गुरूयते—'क्यङ्मानिनोश्च' इति स्त्रीशब्दस्य पुंशब्दः। अत्र 'स्त्रियाः पुंवद्भाषितपुंस्कादनूङ्' इति वर्तते। तत्र स्त्रीशब्देन स्त्र्यर्थः शब्द उच्यते, पुंशब्देन च पुमर्थः। भाषितः पुमान् यस्मिन्नर्थे प्रवृत्तिनिमित्ते स भाषितपुंस्कः तद्योगात् शब्दोपि, स चेह स्त्र्यर्थः। ऊङोऽभावः अनूङ्। षष्ठ्यर्थे प्रथमा। भाषितपुंस्कात् पर ऊङोऽभावो यस्मिन् स्त्रीशब्दे स भाषितपुंस्कादनूङ्। निपातनात्पञ्चम्या अलुक्॥

एतदुक्तं भवति—पुंसि यत् प्रवृत्तिनिमित्तं तद्युक्तस्त्र्यर्थवाचिनः शब्दस्य पुम्शब्द आदेशो भवति ऊङन्तस्य नेति। तेन 'श्वशुरस्योकाराकारलोपश्च' इति ऊङि श्वश्रूयते इत्यत्र पुंवत्त्वं न भवति। तथा भाषितपुंस्कत्वाभावात् द्रोणीयेत इत्यादौ न भवति। अत्र हरदत्तः—पुंसि द्रोणशब्दस्य परिमाणं प्रवृत्तिनिमित्तमाह। स्त्रियां तु द्रोणीत्वं नाम जातिम्। कैयटकारस्तु—द्रोणशब्दः परिमाणवृत्तिर्भाषितपुंस्कः, स एव सादृश्यनिबन्धनप्रत्यभिज्ञानवशात् तत्त्वनिबन्धनप्रत्यभिज्ञानवशाद्वा स्त्रियां वर्तते इति। नन्वत्र स्त्र्यर्थशब्दः अर्यमाणत्वेन निमित्तेन पुंसि वर्तत इति पुंसि प्रवृत्तिनिमित्तेनार्यमाणत्वेन युक्तस्य स्त्र्यर्थयोगोस्तीति स्यादेव द्रोण्यादीनां भाषितपुंस्कत्वम्। नैतत्, एवं हि व्यावर्त्याभावात् भाषितपुंस्कग्रहणमनर्थकं स्यात्। अतो यः शब्दो भाषितपुंस्केन प्रवृत्तिनिमित्तेन युक्तः तद्युक्तं स्त्र्यर्थं तेनैव रूपेणाह स एव भाषितपुंस्क आश्रीयते न रूपान्तरेणापि। न च द्रोण्यादिशब्दः स्वार्थमर्यमाणतयाऽऽहेति। एवमपि द्यौरिवाचरति दीव्यतीत्यत्र दिवूशब्दस्य स्वर्गशब्दस्य चैकमेव प्रवृत्तिनिमि-

त्तं, अस्ति च तद्युक्ततया स्वार्थाभिधानं इत्यर्थसाम्यात् पुल्लिङ्गः स्वर्गशब्दः प्राप्नोति। नैषदोषः; यस्य शब्दस्य पुंवद्भावः स एव यदि स्त्रीकृतविकाररहितः; पुमांसमाहेति प्रत्यासत्त्या लब्धत्वात्। न च दिव्शब्दः पुमांसमाह ॥

इदमत्र सूत्रार्थतत्त्वम्—यश्शब्दो येन प्रवृत्तिनिमित्तेन पुंसि वर्तते तेनैव चेत् स्त्रियां वर्तते तस्य पुंवद्भावः ऊङन्तस्य नेति । एवं च हंसस्य स्त्री वरटा, सारसस्य लक्ष्मणा, अङ्गारकस्य कालिका, कच्छपस्य डुली, ऋश्यस्य रोहिणी, पुरुषस्य योषित्, इत्यादौ नियतस्त्रीवचनानां वरटादीनां पुंवत्त्वेन हंसादयो न भवन्तीति वरटायते इत्यादि भवतीति । शक्यते च पुंशब्दैरपि स्त्रीशब्दार्थं प्रतिपादयितुम् । यद्येवं गर्भिणीवाचरति गर्भीयते इत्यत्र कथं पुंवत्त्वम् । यतो 'गर्भो व्रीहिः' इत्यादौ पुंस्यवयवभूतगर्भसम्बन्धः प्रवृत्तिनिमित्तं स्त्रियां त्वनवयवभूतगर्भसम्बन्ध इति प्रवृत्तिनिमित्तं भिद्यते । नैष दोषः; यदुभयत्रापि गर्भसम्बन्धमात्रमेव प्रवृत्तिनिमित्तं, एवं प्रसूतप्रजातादिशब्दानामप्यपत्यापत्यवत् सम्बन्धमात्रं प्रवृत्तिनिमित्तं ; न तु पुंसि गर्भाधानं स्त्रियां तु गर्भविमोचनमिति समानप्रवृत्तिनिमित्तत्वात् प्रसूतायते इत्यादौ पुंवत्त्वं भवति । इदं च प्रसूतभार्य इत्याद्यर्थमवश्यमेवेष्टव्यम्॥

समानः पतिरस्याः सपत्नी—'नित्यं सपत्न्यादिषु' इति नकारे ङीप् । अत एव निर्देशात्समानस्य सभावः । सपत्नीवाचरतीत्यत्र **सपत्नीयते** इति भाव्यमिति न्यासे । यदाह 'नित्यं सपत्न्यादिषु' इत्यत्र—समुदायस्योच्चारणं नियोगत एषां समुदाय ईकारान्त एव यथा स्यादित्येवमर्थम् । तेन सपत्नीभार्य इति स्त्रियाः पुंवद्भावो न भवतीति । 'तसिलादिषु' इत्यत्र भाष्यकैयटयोस्तु 'भस्याढे तद्धिते'

इति पुंवत्त्वं प्रस्तुत्य कुण्डिनीशब्दात् गर्गादियञि पुंवत्त्वेन कुण्डिञ्-च्छब्दे 'नस्तद्धिते' इति टिलोपे कौण्ड्य इति प्राप्नोति । तथा सपत्नीशब्दात् शिवाद्यणि सपतिशब्दादेशे सापत इति चोदयित्वा ढग्रहणमपनीय तत्रानपत्य इति न्यस्य अपत्यप्रत्यये पुंवद्भावाभावाद्य-ञि ईकारस्य 'यस्येति च' इति लोपे 'नस्तद्धिते' इति टिलोपे तस्य स्थानिवत्त्वान्नान्तस्य तद्धितपरत्वाभावात्कौण्डिन्य इति सिद्ध्य-ति । तथा शिवाद्यणोप्यपत्यप्रत्ययत्वात् सपतिशब्दादेशाभाव इति परिहृत्य एवं सति गार्ग्यायण्या अपत्ये कुत्सिते, 'गोत्रस्त्रियाः कुत्सने ण च' इति णे तस्य अपत्यप्रत्ययत्त्वेन पुंवद्भावाभावात् गार्ग्यायण इति स्यात् । न त्विष्टं गार्ग्य इति दोषमुद्भाव्य तत्संपरिहाराय 'भस्याढे' इत्येवावस्थाप्य कौण्डिन्ये 'आगस्त्यकौण्डिन्ययोः' इति निपातनात् परि-हृत्य सापत्ने तु 'नित्यं सपत्नि' इति समुदायनिपातनं परिहारमनभिधाय शत्रुपर्यायात्सपत्नशब्दात् शार्ङ्गरवादिषु दृष्टत्वात् ङीनि शिवाद्यणिति परिहृतम् । अत एव शिवादौ समानपतिलक्षणस्य सपत्नीश-ब्दस्य ग्रहणं नेत्यवसीयते । ग्रहणे हि तस्मादणि पुंवत्त्वेन सापत इति रूपं दुर्वारमेव स्यात् । अत एव सापत इति प्राप्नोतीति भाष्ये[1] 'नित्यं सपत्न्यादिषु' इति निर्देशेन भवन् समानस्य सभावोऽङी-न्नकारयोरसंयोगेपि भवतीत्यवसीयते । एवं च न्यासोक्तपुंवत्त्वाभा-वो भाष्यकृतो नाभिमत इत्येवप्रतीयते । समुदायनिपातनन्तु रूढ्य-र्थमपि स्यादिति न सूत्रभाष्यविरोधः । एवं सति समानपतिलक्षणा-त्सपत्नशिब्दात् लिङ्गविशिष्टपरिभाषया पत्युत्तरपदलक्षणे ण्ये सापत्य इति भाव्यम् । तथा भावकर्मणोरपि पत्यन्तलक्षणे यकि सापत्य-मिति ॥

[1] 'कैयटे' इति युक्तम्.

युवतिरिवाचरति **युवायते** । यस्तु ङ्याप्सूत्रभाष्ये युवतितरे-त्युदाहरणे 'तसिलादिष्वाकृत्वसुचः' इति पुंवत्त्वाभावः[1] स तत एव निर्देशात् न त्वभाषित पुंस्कत्वात् नापि यौवनस्य जातित्वेन जा-तिवाचकत्वात् 'जातेश्च' इति प्रतिषेधात् यतः स्थानिवत्सूत्रे युवजा-निरिति प्रत्युदाजहार ॥

पट्वी च मृद्वी च पट्वीमृद्व्यौ ते इवाचरति **पट्वीमृद्वयते**—पूर्वपदस्य क्यङ्परत्वाभावान्न पुंवत्त्वम् । पचेर्ण्वुलि पाचिका, 'मद्रवृज्योः कन्' इति शैषिके कनि मद्रिका । **पाचिकायते, मद्रिकायते**—'न को-पधायाः' इति पुंवत्वनिषेधः । अत्र तद्धितग्रहणात्तद्धितेन वा 'यु-वोरनाकौ' इत्यकादेशेन वा यः कोपधः तस्यैव ग्रहणमिति पाका-यते इत्यत्र पुंवत्त्वं भवति ॥

नन्वत्राजादिपाठाट्टापा वयोलक्षणस्य ङीपोऽभावात्पुंवत्वापुंवत्वयोः न विशेषः । सत्यम् । अत्राविशेषेपि अस्ति पाकभार्य इत्यत्र-विशेषः । **चतुर्थीयते** 'संज्ञापूरण्योश्च' इति पुंवत्वनिषेधः ॥

स्रौघ्नीयते—'वृद्धिनिमित्तस्य च तद्धितस्यारक्तविकारे' इति पुं-वत्त्वनिषेधः । वृद्धेर्निमित्तं अकारो णकारो वा यस्मिन्निति बहुव्रीह्या-श्रयणात् यावतीवाचरति **यावत्यते** इत्यत्र पुंवत्वं भवति । अत्र 'आ सर्वनाम्नः' इत्याकारस्य वृद्धेर्वतुरेव निमित्तमिति नासौ वृद्धि-निमित्तः । तद्धितस्येति वचनात् काण्डलावीवाचरति **काण्डलावा-यते** इत्यत्र पुंवत्त्वं भवति । तथाऽरक्तविकार इति वचनात् कषायेण रक्ता शाटी काषायी 'तेन रक्तं रागात्' इत्यणि ङीप् खदिरस्य

[1] मुद्रितकोशे तु—घरूपकल्पसूत्रे भाष्ये युवतितरेत्युदाहरणे घरूपेति पुंवत्त्वा-भावः इति पाठः.

विकारः खादिरी ईषा 'पलाशादिभ्यो वा' इति विकारे अण-योरन्यतरस्मिन् ङीप् **काषायायते खादिरायते** इति पुंवत्वं भवति। व्याकरणमधीते वैयाकरणी 'तदधीते तद्वेद' इत्यणि ङीप्। सेवाचरति **वैयाकरणायते**। 'नैय्वाभ्याम्' इति निषेधात् अणो नास्ति वृद्धिनिमित्तकत्वमिति पुंवद्भावः। निमित्तशब्दः कुर्वद्रूपवचनः ॥[1]

दीर्घाः केशा अस्याः दीर्घकेशी। एवं मृद्वङ्गी। 'स्वाङ्गाच्चोप-सर्जनादसंयोगोपधात्' 'अङ्गगात्रकण्ठेभ्य इति वक्तव्यम्' इति पाक्षिको ङीप्। **दीर्घकेशीयते। मृद्वङ्गीयते।** 'स्वाङ्गाच्चेतोमानिनि' इति स्वाङ्गवचनात्परो य ईकारः तदन्तस्य मानिनोन्यस्मिन्परे पुंवत्वं निषिध्यते ॥

करिणीयते। औपगवीयते। इडबिड्यते। दरद्यते। कठी-यते—'जातेश्च' इति पुंवत्त्वनिषेधः। 'गोत्रं च चरणैस्सह' इति वच नात् गोत्रचरणयोः जातिवाचित्वम्। इहापत्यमात्रं गोत्रं अपत्याधि-कारादन्यत्र लौकिकं गोत्रं गृह्यत इति। चरणशब्दः शाखा-ध्यायिनि रूढः। अत्र इडबिड् नाम जनपदो राजा चेति जनपद-समानशब्दत्वात् 'जनपदशब्दात् क्षत्रियादञ्' इत्यञः 'ते तद्राजाः' इत्यापादपरिसमाप्तेः प्रत्ययानां तद्राजसंज्ञकत्वात् 'अतश्च' इत्य-कारप्रत्ययत्वेन स्त्रियां लुकि इडबिड् स्त्री ऐडबिडः पुमान्भवति। दरदोपि जनपदसमानशब्दत्वात् 'द्व्यञ्मगध' इत्यणः पूर्वं लुकि दरद् स्त्री दारदः पुमान्। एते गोत्रवचनाः। कठशब्दात् 'कलापि-वैशम्पायनान्तेवासिभ्यश्च' इति प्रोक्ते छन्दसि णिनेः 'कठचर-

---

*फलोपहितपरो न स्वरूपयोग्यपर इत्यर्थः स्पष्टं चेदं मनोमारदिषु.

काल्लुक्' इति लुकि 'छन्दोब्राह्मणानि च तद्विषयाणि' इति छन्दोब्राह्मणप्रत्ययान्तानां अध्येतृवेदितृप्रत्ययविषयत्वात् 'तदधीते तद्वेद' इत्यणि तस्य 'प्रोक्ताल्लुक्' इति प्रोक्तप्रत्ययान्तात्परत्वेन लुकि शाखाध्येतरि वृत्तिः ॥

'भृशादिभ्यो भुव्यच्वेर्लोपश्च हलः'। अत्राच्वेरित्येकवचनं भृशाद्यवयवापेक्षम्, अयं च पर्युदास इति तत्सदृशप्रतिपत्त्या अभूततद्भावविषयेभ्यो भुवि भवत्यर्थे क्यङिति अर्थो भवति। प्रसज्यप्रतिषेधे तु भवतियोगे च्विविधानात् भवतिनैव स्वार्थस्य भवनस्योक्तत्वात् न क्यङः प्रसङ्ग इत्यच्वेरिति वचनमनर्थकं स्यात्। न चासत्यस्मिन् च्व्यन्तादुत्पद्यमानेन क्यङा भवतेरनुप्रयोगस्य बाधनमाशङ्क्यम्। यदिदमच्व्यन्ते सावकाशं भवतेरभावे च्वेरप्यभावः[1] तद्योगे तस्य विधानादिति। न च क्यषा योगे डाच इव वचनप्रामाण्यात् भवतेरभावेपि क्यङो योगे च्वेः कल्पनं युक्तं। यत इदं वचनं अच्व्यन्ते सावकाशम्। भृशादिभ्य इति पञ्चमी लोपविधौ स्थानषष्ठी विपरिणम्यते। तत्र विशेषणेन हला तदन्तविधौ भृशादिषु हलन्तानामन्त्यस्य लोप इति अर्थो भवति। एवं च चशब्दोऽन्वाचये भवति। अभृशो भृशो भवति **भृशायते**। **शीघ्रायते**। **चपलायते**। **मन्दायते**। **पण्डितायते**। **रेहायते**। रेहच्छब्दो रहसि निर्घृणत्वे भिक्षाभिलाषस्य च निवृत्तौ वर्तत इति गणवृत्तौ ॥

तृपायते—तृपश्चन्द्रः समुद्रश्च। **वेहायते**—वेहद्गर्भोपघातिनी। **अण्डरायते**—अण्डरो मूर्खो मुष्करश्चेति गणवृत्तौ। अण्डार

[1] यदिदमुच्यते सावकाशं बाधित्वा च्वेरभुव्यभावः इति लिखितकोशपाठः.

इत्यन्ये इति च। **ओजायते**। **वर्चायते**, ओजोवर्चसौ वृत्तिविषये तद्वति वर्तेते। **रोहायते**। रोहस् सरोप इति गणवृत्तौ। **दुर्मनायते**। **सुमनायते**। **उत्सुकायते**। **उन्मनायते**। **शण्डायते**। **बृहायते**। **अभिमनायते**। अत्र सुदुरभिभ्यो मन शब्दः पठ्यते। तत्र सोपसर्गात्संग्रामयतेरेव धातुसंज्ञानिमित्तः प्रत्यय इति ज्ञापनान्मनस एव प्रत्ययइति **स्वमनायत** इत्यादि भवति। 'सुत्रामन्त्रिते' इत्यत्र 'मनस्युपसर्गे' इति मनसि परे उपसर्गस्य पराङ्गवद्भाववचनात् सुमनायते इत्यादौ 'तिङतिङः' इति निघातो न भवति। देवदत्तः सुमनायते इत्यादौ सोपसर्गस्य निघातो भवति। अत्रामी भृशादयोस्माभिः श्लोकगणपाठानुरोधेन पठिताः। गणवृत्तौ तु बृहच्छब्दो न दृश्यते, मन्द्रशब्दस्तु पठ्यते, तथा च कण्डरशब्दश्च। त्वचोभ्यन्तरे स्थूलतन्त्वाभा अंससंयुक्ता स्नायुः महास्नायुः कण्डरा। तद्वान्कण्डरः मत्वर्थे 'अर्शआदिभ्योच्' इति व्याख्यातं च॥

'लोहितादिडाड्भ्यः क्यष्'। अत्र भुवीति वर्तते अच्वेरिति च। तत्रैतड्डाचो न विशेषणमसम्भवात्। 'अव्यक्तानुकरणात् द्व्यजवरार्धादनितौ हि डाच्' इति डाच्विधीयते। यत्र ध्वनौ वर्णविशेषा न व्यज्यन्ते सोव्यक्तः तस्यानुकरणमव्यक्तानुकरणम्। तस्मात् 'डाचि बहुलं द्वे भवतः' इति डाचि विषयभूते द्विरुक्तात् द्व्यजवरार्धात् अनितिपरात् कृभ्वस्तियोगे डाच् भवतीति सूत्रार्थः। यस्य द्विरुक्तस्य समुदायस्य प्रविभज्यमानमर्धं अवरं सुष्ठु न्यूनं द्व्यज् भवति तत् द्व्यजवरार्धम्। अवरशब्दोपकर्षे। अत एव वचनात् कृभ्वस्तिभिरिव क्यषापियोगे डाज्भवतीत्यवसीयते।

न च भवतियोगे डाचि कृते क्यषः प्रसङ्गो भुवो भवतिनैवोक्तत्वात् । अलोहितो लोहितो भवति **लोहितायति, लोहितायते**—'वा क्यषः' इति पक्षे तङ् । लिङ्गविशिष्टपरिभाषया लोहिनीशब्दात्क्यषि **लोहिनीयति लोहिनीयते** इति भवति । **पटपटायति, पटपटायते,** । अत्र 'डाचि बहुलम्' इति द्विरुक्ते 'नित्यमाम्रेडिते डाचि' इति अव्यक्तानुकरणस्याच्छब्दस्यान्त्यस्य आम्रेडितादेश्च पररूपे 'टेः' इति टिलोपः । इदमेव पररूपवचनं ज्ञापकं 'डाचि बहुलं द्वे भवतः' इत्यस्य विषयसप्तमीत्वे । अत्र लोहितात्परेषां नीलहरितमद्रफेनमुण्डानां भृशादौ पाठः कर्तव्यः । तथा च वार्तिकं 'लोहितादिडाज्भ्यः क्यष्वचनं भृशादिष्वितराणि' इति । अत्र वृत्तौ—न हि पठितेषु लोहितादिषु नान्तोस्तीति 'नःक्ये' इति पदत्वे सामान्यग्रहणार्थेन क्यषः ककारेणास्याकृतिगणत्वज्ञापनाद्यानि संगृह्यन्ते तेषां भृशादौ अनुप्रवेश इति स्थितम् । यदाह—यानिपठ्यन्ते तेभ्यः क्यङेव भवति । अपरिपठितेभ्यस्तु क्यषेवेति । तेन **निद्रायति निद्रायते । करुणायति करुणायते । चर्मायति चर्मायते** इत्यादि भवति। निद्राकरुणाशब्दौ वृत्तिविषये तद्वति वर्तेते । यद्वा—निद्रातिः 'आतश्चोपसर्गे' इति कर्तरि कप्रत्ययान्तो निद्राशब्दः । अत्र गणवृत्तौ—

लोहितश्यामदुःखानि हर्षगर्वसुखानि च ।
मूर्छा निद्रा कृपा धूमा करुणा नित्यचर्मणी ॥[1]

इति अकृतिगणसिद्धानि पठ्यन्ते ॥[2]

---

[1] जिह्मचर्मणी. [2] इति आकृतिगणकारिकाः स्मृ.

'कष्टाय क्रमणे' ॥ क्रमणमनार्जवम् । अतएव निर्देशात् चतुर्थ्यन्तात्कष्टशब्दात् अनार्जवे क्यङ्भवति । कष्टं कृच्छ्रं दुःखम् । इह तु तत्कारणं कर्म । कष्टाय कर्मणे क्रामति **कष्टायते** । कष्टं कर्म कर्तुं कुटिलमाचरतीत्यर्थः । अत्र वार्तिकं 'सत्रकष्टकक्षकृच्छ्र गहनेभ्यः कण्वचिकीर्षायाम्' इति । कण्वस्य पापस्य चिकीर्षा कण्वचिकीर्षा । सा चेह वृत्तिविषये 'सत्रादयः पापवचनाः चिकीर्षायां प्रत्ययः' इति समुदायार्थो भवति । एवं च पापवचनेभ्यो द्वितीयान्तेभ्यः सत्रादिभ्यः चिकीर्षायां प्रत्यय इति वार्तिकार्थः सम्पद्यते । **सत्रायते** इत्यादि ॥

'कर्मणो रोमन्थतपोभ्यां वर्तिचरोः' । कर्मण इति अवयवापेक्षमेकवचनम् । तेन रोमन्थतपोभ्यां कर्मभ्यां यथासङ्ख्यं वर्तिचरोर्धात्वर्थयोः क्यङ्प्रत्ययो भवतीत्यर्थो भवति । कर्मत्वं च रोमन्थतपसोः श्रुतवर्तिचरिक्रियापेक्षम् । वर्तिरित्यत एव निर्देशाण्ण्यन्तादपि क्तिन् । चरिति चरतेः सम्पदादित्वाद्भावे क्वौ । रोमन्थं वर्तयति **रोमन्थायते** । तपश्चरति **तपस्यति** । 'तपसः परस्मैपदं च' इति परस्मैपदम् । अत्र 'हनु चलन इति वक्तव्यम्' इत्युक्तत्वात् कीटो रोमन्थं वर्तयतीत्यत्र क्यङ् न भवति । अत्र न्यासपदमञ्जर्योः अपानप्रदेशान्निस्सृतं द्रव्यं कीटो वर्तुलं करोतीत्यर्थोऽभिमतः । कैयटे तु अपानप्रदेशान्निस्सृतं द्रव्यमश्नातीति ॥

'बाष्पोष्मभ्यामुद्वमने । फेनाच्चेति वक्तव्यम्' ॥ कर्मग्रहणमनुवर्तते । तच्च श्रुतोद्वमनक्रियापेक्षं बाष्पादिभिः सम्बध्यते । बाष्पमुद्वमति **बाष्पायते** ॥

'शब्दवैरकलहाभ्रकण्वमेघेभ्यः करणे'। कण्वशब्दः पापवचनः । करणं क्रिया करोत्यर्थः न पारिभाषिकम् । तस्मिन् हि कर्मण इत्यनेन सम्बद्धे शब्दादिभिः सम्बन्धो न स्यात् । शब्दादिभ्यः कर्मभ्यः करणे क्यङ्भवति । शब्दं करोति **शब्दायते** । एवं **वैरायते** । **कलहायते** । **अभ्रायते** । **कण्वायते** । **मेघायते** । अत्र न्यासे-यद्यप्ययं तत्करोतीति णिचि प्राप्ते आरभ्यते । तथाऽपि तन्न बाध्यत इति शब्दयतीत्याद्यपि भवतीत्युक्तम् । अत्र वार्तिकम्—'सुदिन-दुर्दिनाभ्यां च' 'नीहाराच्च' 'अटाट्टाशीकाकोटापोटासोटाप्रुष्टाप्लुष्टाग्रहणम्' इति । पोटा स्त्रीपुंसलक्षणा स्त्री । अतोऽन्ये अट्टादयः क्रियावचनाः । सुदिनं करोतीति **सुदिनायते** इत्याद्युदाहार्यम् ॥

'सुखादिभ्यः कर्तृवेदनायाम्' । कर्तृ इति पृथक्पदं लुप्तषष्ठीकम्। वेदना ज्ञानम् । कर्तृत्वं च श्रुतवेदनक्रियापेक्षम् । तेन वेदनक्रियायाः कर्तुराधाराधेयभावेन सम्बन्धिभ्यः सुखादिभ्यो वेदनायामर्थे क्यङ्भवतीत्यर्थो भवति । सुखं वेदयते **सुखायते**, सुखमनुभवतीत्यर्थः । वेदयित्रा सुखादीनां विशेषणात् 'सुखं वेदयते प्रसाधको देवदत्तस्य' इत्यत्र क्यङ्न भवति । अत्र प्रसाध्यगतं सुखं प्रसाधकोऽक्षिनिमीलनादिना जानातीत्यर्थ इति सुखं वेदयितृगतं न भवति । अत्र श्लोकगणकारः—

सुखदुःखगहनतृप्राण्यस्त्रालीकप्रतीपकरुणाश्च ।
कृपणस्सोढ इतीमे सुखादयो दश गणे पठिताः ॥*

---

*अयं श्लोको गणरत्नमहोदधौ न दृश्यते.

इति । अत्र गणरत्नमहोदधौ आस्त्रशब्दोऽपि पठ्यते । यदाह अस्त्रमेवास्त्रमिति । तृप्रं दुःखं सोढं सहनं अभिभवो वा ॥

'नमोवरिवश्चित्रङः क्यच्' । अत्रानुवृत्तं करणग्रहणं अभिधानशक्तिस्वाभाव्यात् क्रियाविशेषपरम् । यदाह वृत्तिकारः—नमसः पूजायाम्, वरिवसः परिचर्यायाम् । चित्रङ आश्चर्ये इति । **नमस्यति** देवान् । **वरिवस्यति** गुरून् । **चित्रीयते** आश्चर्यवान्भवतीत्यर्थः । अन्ये तु परस्याश्चर्यं करोतीत्यर्थ इति । यदाह भट्टिः—

ततश्चित्रीयमाणोऽसौ । इति ॥

अत्रावयवे कृतं लिङ्गमिति न्यायेन चित्रङो ङकारस्य समुदायार्थत्वादात्मनेपदम् । नमस्यति देवान् इत्यत्र 'उपपदविभक्तेः कारकविभक्तिर्बलीयसी' इति 'नमस्स्वस्ति' इति चतुर्थीं बाधित्वा कर्मणि द्वितीया भवति ॥

'पुच्छभाण्डचीवराण्णिङ्' । ङकारस्तङर्थो णिग्रहणेषु सामान्यग्रहणाविघातार्थश्च । णकारो णिग्रहणेषु सामान्यग्रहणायैव, वृद्धिभाजः प्रकृतेरभावात् । इहाप्यनुवृत्तं करणग्रहणं पूर्ववदभिधानस्वाभाव्यात् क्रियाविशेषपरम् । तदुक्तं वृत्तौ—पुच्छादुदसने पर्यसने वा[1] भाण्डात्समाचयने । चीवरादर्जने परिधाने वेति[2] । उदसनमुत्क्षेपणम् । पर्यसनं परितः क्षेपणम् । समाचयनं राशीकरणम् । अर्जनमार्जनम् । परिधानमाच्छादनम् । **उत्पुच्छयते** । **सम्भाण्डयते** । **सञ्चीवरयते** । अत्रोदादीनां प्रयोग उदसनादिव्यक्तये । पुच्छादेः कर्मणो धातावन्तर्भावात् अकर्मका

---

[1] च. [2] चेति.

एते । 'यक्चिणोः प्रतिषेधे णिश्रन्थि' इत्यत्र णिग्रहणेनाण्यस्य ग्रह्-णात्कर्मकर्तरि पक्षे यक्चिणोरभावात् **उत्पुच्छयते** गौः स्वयमेव । **उदपुपुच्छत** गौस्स्वयमेवेति शप्चङौ भवतः । यदा उत्पुच्छयति-रन्तर्भावितण्यर्थः तदा उत्पुच्छयते गामिति गौः कर्म भवतीति कर्म-कर्तृत्वलाभः । उत्पुच्छयतेः क्वौ णेर्लोपे सोर्हल्ङ्यादिलोपे छका-रस्य संयोगान्तलोपे **उत्पुत्** इति भवति । व्रश्चादिना षत्वं संयो-गान्तलोपेऽसिद्धत्वात् न भवति । ननु च 'छ्वोश्शूठ्' इति शे तस्य व्रश्चादिषत्वे तस्य च जश्त्वे उत्पुडिति भाव्यम् । तन्न; यतः शत्वविधौ सतुक्कच्छो गृह्यते । इह तु पुत् [पुदं]* छाद-यतीति पुच्छशब्दव्युत्पत्तेः तकारस्तुकः संबन्धी न भवति । ननु यत्र सतुक् छकारो न सम्भवति तत्र केवलो गृह्यते इत्यपि स्थितेः वाञ्छतेः क्वौ वान् वांशौ इतिवदत्रापि शत्वेन भवि-तव्यम् । भवतु कामं. तस्यापि संयोगान्तलोपे उत्पुदिति भविष्यति । द्विवचनादौ 'स्तोश्श्चुना श्चुः' इति तकारस्य श्चुत्वे 'शश्छोऽटि' इति शकारस्य छत्वे उत्पुच्छावित्यादि सेत्स्यति ॥

'मुण्डमिश्रश्लक्ष्णलवणव्रतवस्त्रहलकलकृततूस्तेभ्यो णिच्' । एभ्यः करणे णिज्भवति । मुण्डं करोति **मुण्डयति** माणवकम् । **मिश्र यत्यन्नम्** । **श्लक्ष्णयति** वस्त्रम् । **लवणयति** व्यञ्जनम् । व्रताद्भोजने तन्निवृत्तौ वा—पयो **व्रतयति,** पयो भुङ्क्ते इत्यर्थः । वृषलान्नं **व्रतयति,** परिहरतीत्यर्थः । अत्र भोजनतन्निवृत्ती व्रतशब्दार्थाविति पूर्ववत्क-रणे प्रत्ययः । श्रूयते च भोजने व्रतशब्दः 'यदस्य पयो व्रतं भवत्यात्मानमेव तद्वर्धयति त्रिव्रतो वै मनुरासीद्द्विव्रता

*इह तु गुदं इति मुद्रितकोशे ।

असुरा एकव्रता देवाः'[1] इति । पस्पशायां च— 'शक्यं चानेन श्वमांसादीन्यपि व्रतयितुम्' इति । अयमेव व्रतशब्दो दर्शादिवत् विपरीतलक्षणया तन्निवृत्तौ वर्तते ॥

वस्त्रात्समाच्छादने—**संवस्त्रयति** प्रावारम् । अत्रापि पूर्ववत्समाच्छादनं प्रकृत्यर्थ इति केचित् । प्रत्ययार्थे हि प्रकृत्यर्थेन वस्त्रेणैकार्थीभूतस्य प्रावारान्वयः सामर्थ्याभावान्न स्यात् ॥

अथ मुण्डयति नापित इत्यादौ व्यपेक्षाभावे सावकाशं मुण्डादिभ्यो णिज्वचनं तत्करोतीत्येव सिद्धे णिच्यारभ्यमाणत्वात् यथा माणवकं मुण्डयतीत्यादौ सापेक्षत्वेपि भवति तथेहापि स्यात् । नैतदस्ति । तत्र हि मुण्डादयो धर्मिवचना धर्ममपेक्षन्ते न तद्वदिह वस्त्रमन्यमपेक्षते ॥

अथैवं स्यात् मुण्डादौ प्रकृतेरन्यापेक्षावदत्र प्रत्ययार्थस्यान्यापेक्षास्तीऽति । एवं ह्यर्थो न सङ्गच्छते । यतः संवस्त्रयति प्रावारमित्यस्य प्रावारं वस्त्रं छादयतीत्यर्थः स्यात् । न चैवमिष्यते, प्रावारमाच्छादयतीत्येवेष्यते ॥

अथोच्येत उभयमपीष्यतामिति । एवं हि वस्त्रसामान्ये प्रावारस्यान्तर्भावात् तत्प्रयोगो व्यर्थस्स्यात् । अथ 'ब्राह्मणा आयाता वसिष्ठोप्यायातः' इतिवत् विशेषस्य प्रावारस्य[2] प्राधान्यख्यापनाय प्रयोगः स्यात् । तन्न यत एकस्मिन्वाक्ये एकस्य प्राधान्यमपरस्याप्राधान्यं च प्रतिपादयितुं न शक्यते ॥

---

[1] तै. सं. ६-२-५. [2] विशेष्यप्रावारस्य.

अत्र सुधाकरः—समाच्छादनं प्रत्ययार्थमेवाह सामान्यकर्मणोऽन्तर्भावेऽपि विशेषकर्मणोऽनभिहितत्वात् तद्विशेषप्रयोगो यथा भवति माणवकमितीति । एवं सति वस्त्रसामान्यस्य प्रावारो विशेषको[1] भवति ॥

हलादीनां त्रयाणां ग्रहणे प्रत्ययः । हलं गृह्णाति **हलयति** एवं **कलयति** । एवं **कृतयति** । अत्र वार्तिकं 'हलिकल्योरत्वनिपातनं सन्वद्भावप्रतिषेधार्थम्' इति । ततः **अजहलत्, अचकलत्** इत्यत्राग्लोपित्वात् 'सन्वल्लघुनि' इतीत्वं न भवति । अक्रियमाणे पुनरत्वनिपातने इकारस्य णाविष्ठवदिति टिलोपात्परत्वात् वृद्धावैकारे तस्यायादेशात्पूर्वं परत्वाल्लोपे अग्लोप्यङ्गं न स्यात् । नन्वैकारलोपस्य पूर्वविधावित्वे 'अचः परस्मिन्पूर्वविधौ' इति स्थानिवत्त्वेन लघोः चङ्परत्वविघातात्[2] किमनेन अग्लोपित्वार्थेन अत्वनिपातनेन। नैतदस्ति । अभ्यासस्यादिष्टादचः पूर्वत्वेन तस्येत्वे स्थानिवत्त्वाप्रसङ्गात् । एवमपि कृताकृतप्रसङ्गित्वेन नित्यत्वाद्वृद्धेः पूर्वमेवेकारो लोप्स्यत इति अग्लोपित्वसिद्धेः नार्थोऽत्वनिपातनेनेति चेत् न । यद्वृद्धौ शब्दान्तरप्राप्त्या भवत्यनित्यो लोपः ॥

तूस्ताद्विहनने । तूस्तं केश इति श्रीभद्रः । जटीभूताः केशाः इति बोधिन्यासे । पापमिति वैजयन्त्याम् । तूस्तानि विहन्ति **वितूस्तयति** । विहननद्योतनाय वेः प्रयोगः ॥

'सत्यापपाशरूपवीणातूलश्लोकसेनालोमत्वचवर्मवर्णचूर्णचुरादिभ्यो णिच्' । अत्राप्यनुवृत्तं करणग्रहणं क्रियाविशेषोपलक्षणं अत्र

---

[1] विशेषो. [2] स्थानिवत्त्वेनाङ्गस्य चङ्परणिपरत्वं विघानिष्यत इति.

सत्यापेति निर्देशात् णिचस्सन्नियोगेन सत्यस्यापुक् टिलोपाभावश्च भवति। अत्र च वार्तिकम्—'अर्थवेदसत्यानामापुग्वक्तव्यः' इति। अत्र भाष्यम्—सत्यस्य कृञि आपुक्चेति। वृत्तौ तु—सत्यमाचष्टे सत्यापयतीत्युक्तम्। अत्र हरदत्तः—भाष्ये कृञीत्यर्थनिर्देशः प्रयोगदर्शनवशादिह त्वाख्यानार्थ इति। एवम**र्थापयति, वेदापयति,** पाशं विमुञ्चयति **विपाशयति**। पाशाद्विमोचयति **विपाशयती**त्यपि। रूपं पश्यति **रूपयति**। वीणया उपगायति **उपवीणयति**। तूलैरनुकुष्णाति **अनुतूलयति**। श्लोकैरुपस्तौति **उपश्लोकयति**। सेनया अभियाति **अभिषेणयति**—'उपसर्गात्सुनोति' इत्यादिना षत्वम्। **अभ्यषेणयत्**—'प्राक्सितादड्व्यवायेऽपि' इति षत्वम्। **अभिषिषेणयिषति**—'स्थादिष्वभ्यासेन' इति साभ्यासस्य षत्वम्। लोमान्यनुमार्ष्टि **अनुलोमयति**–'णाविष्ठवत्' इति टिलोपः। त्वचं गृह्णाति **त्वचयति**—अच्प्रत्ययान्तोऽयमकारान्तः तेनाल्लोपस्य स्थानिवत्त्वात् 'अत उपधायाः' इति वृद्धिर्न भवति। हलन्तस्य तु[1] तत्करोतीति णौ त्वाचयतीति भवति। टिलोपस्तु—'प्रकृत्यैकाच्' इति प्रकृतिवद्भावान्न भवति। वर्मणा सन्नह्यति **संवर्मयति**। वर्णं गृह्णाति **वर्णयति**। चूर्णैरवध्वंसयति **अवचूर्णयति**। अत्रावध्वंसनमेव करणमितीन्दुश्रीभद्रौ[2]। चुरादयो माधवीयायां धातुवृत्तौ व्याख्याताः। अत्रार्थविशेषास्तदनुरूपाः समर्थविभक्तयश्च लोकप्रसिद्ध्यनुसारेण वृत्तिकारेण दर्शिता इत्यस्माभिरपि तथैव प्रदर्शिताः॥

---

[1] हलन्तेषु. [2] अत्रावध्वंसनामिति श्रीभद्रभोजौ.

अथान्येभ्योपि णिच्प्रदर्श्यते–

'प्रातिपदिकाद्धात्वर्थे बहुलमिष्ठवच्च' ॥ प्रातिपदिकाद्धात्वर्थे णिज्भवति, इष्ठनीव चास्मिन्बहुलं कार्यं भवति । अस्यैव धातुसूत्रस्य प्रपञ्चः—'तत्करोति तदाचष्टे' 'तेनातिक्रामति' 'कर्तृकरणाद्धात्वर्थे' इति सूत्राणि । अत्र कर्ता करणस्य विशेषणं करणत्वेन लोके प्रसिद्धानां चक्षुरादीनामेव ग्रहणं मा भूदिति । अन्यथा चक्षुषा पश्यति चक्षयति । श्रोत्रेण शृणोति श्रोत्रयति इत्यादावेव स्यात् । न तु करिभिरवबध्नाति अवकरयति परशुना छिनत्ति परशयति इत्यादावपि । एवं च तेनातिक्रामति इत्येतत् कर्तृकरणादित्यस्यैव प्रपञ्चो भवति । अत्र तत्करोतीत्यादौ तदित्यादिप्रकृतेः कर्मत्वादिमात्रप्रतिपादनार्थं न तु द्वितीयाद्यन्ततार्थमपीति कर्मत्वादिविशिष्टात्प्रातिपदिकादेव णेर्विधानात् पटुमाचष्टे इति विवक्षायामपि पटोः प्रातिपदिकात् 'णाविष्ठवत्' इति टिलोपे तस्य 'अत उपधायाः' इति वृद्धौ 'अचः परस्मिन्' इति स्थानिवत्त्वात्तदभावे पटयतीति भवति । सुबन्तादुत्पत्तौ तु 'सुपो धातुप्रातिपदिकयोः' इति सुपो लुकि टेश्च लोपे अवशिष्टस्य प्रत्ययलक्षणेन सुबन्तत्वात् पदत्वे पडयतीति जश्त्वं स्यात् । न च टिलोपस्य स्थानिवत्त्वेन टकारस्य पदान्तत्वाभावात् जश्त्वाप्रसङ्गः यतः 'न पदान्त' इत्यादिना जश्त्वे स्थानिवत्त्वं निषिध्यते । न च णौ कृतया भसंज्ञया पटोः टावधेः पदसंज्ञा बाधो यदस्यां टिलोपः स्थानिवद्भवति । अयं च प्रातिपदिकाद्विधीयमानो णिच् यथाकथंचित् 'प्रातिपदिकग्रहणे लिङ्गविशिष्टस्यापि ग्रहणं भवति' इति सिद्धान्तितत्वात् ङ्याबन्तादपि भवति । अत एव 'णाविष्ठवत्' इत्यत्र भाष्ये 'इष्ठवदित्यति-

देशः पुंवद्भावरभावटिलोपयणादिपरविन्मतोर्लुक्नर्थम्' इति पुंवद्भावः प्रयोजनं दर्शितम् । इदं च पुंवद्भावादिप्रयोजनकथनं न परिगणनम्, किन्तूदाहरणमात्रमेव । तदुक्तं वृत्तौ—'प्रादयोपीष्यन्ते' इति । तत्र पुंवद्भावो यथा—एनीमाचष्टे **एतयति** । हरिणीमाचष्टे **हरितयति** । लोहिनीमाचष्टे **लोहितयति** । कुमारीमाचष्टे **कुमारयति** इत्यादौ 'भस्याढे तद्धिते' इतीष्ठनि विहितः पुंवद्भावो 'णाविष्ठवत्' इत्यतिदेशादत्रापि भवतीति एन्यादीनां एतादयः पुंशब्दाः भवन्ति । 'वसिष्ठवदत्र वर्तितव्यम्' इत्यादौ विशेषातिदेशे ब्राह्मणत्वसामान्यनिबन्धनस्याप्यतिदेशात् इष्ठवदतिदेशेनापि न केवलमिष्ठनोऽसाधारणरूपं निबन्धनम् । 'तुरिष्ठेमेयस्सु' इत्यादिकमेव कार्यमतिदिश्यते किन्तु भसंज्ञानिमित्ततद्धितत्वादिनिबन्धनमपीति पुंवद्भावोतिदेशस्य प्रयोजनमुक्तम् । अनेन चेष्ठवद्भावेन नेष्ठनि दृष्टमेवातिदिश्यते किं तर्हि सम्भावितमात्रमपीति कुमारयतीत्याद्युदाहृतम् । अवश्यं चैतदेवं विज्ञेयम् । अन्यथा राजयतीत्यादाविष्ठनोऽनुत्पादात् टिलोपो न स्यात् । 'टेः' इत्यत्र कैयटे एतयतीत्यादौ टिलोपेन ङीपि निवृत्ते तत्सन्नियोगशिष्टत्वात् नकारनिवृत्तौ सिद्धायामपि इष्ठवद्भावात् पुंवत्त्वेन रूपसिद्धेर्भाष्ये उक्तत्वात्सन्नियोगशिष्टपरिभाषाया अनित्यत्वज्ञापनात् ऐनेयः श्यैनेयः इत्यत्र 'यस्य' इति लोपेन इकारनिवृत्तावपि नकारो न निवर्तत इत्युक्तम् । पदमञ्जर्यां त्वेवमुक्तोक्तम्—'अपर आह—इडबिडमाचष्टे **ऐडबिडयति** । दरदमाचष्टे **दारदयति** इत्यादौ पुंशब्दातिदेशार्थं पुंवद्वचनं' इति ॥

ननु च इडबिडादीनामिष्ठनि पुंवद्भावो न दृष्ट इष्ठन एव

तत्रासम्भवात् । नेष्ठनि दृष्टस्यैवातिदेशः; किं तर्हि इष्ठनि संभावितस्य । अन्यथा अतिराजयतीत्यादौ टिलोपो न स्यादिति । अत्रादिशब्देन पृथुमाचष्टे पार्थयति उशिजमाचष्टे औशिजयति इत्यादि गृह्यते । अत्रेडबिडपृथुशब्दात् क्षत्रियवचनात् 'जनपदशब्दात् क्षत्रियादञ्' इत्यञि तस्य 'ते तद्राजाः' इत्यापादपरिसमाप्तेः प्रत्ययानां तद्राजत्वात् 'अतश्च' इत्यकारप्रत्ययत्वेन स्त्रियां लुकि इडबिड् स्त्री, ऐडबिडः पुमान् । दरदुशिजोरपि 'द्व्यञ् मगध' इत्यणः पूर्ववल्लुकि दरद् स्त्री, दारदः पुमान्, एवमुशिक् स्त्री, औशिजः पुमान्भवति ॥

नन्वत्रैडबिडादीनां गोत्रवाचित्वात् अपत्याधिकारादन्यत्र लौकिकस्य गोत्रस्य ग्रहणात् 'गोत्रं च चरणैस्सह' इति जातिवाचित्वात् 'जातेश्च' इति पुंवद्भावनिषेधः कस्मान्न भवति? । उच्यते—औपसङ्ख्यानिकस्य अयं न भवति अनित्यत्वात् । अत एव हस्तिनीनां समूहो हास्तिकं इत्यत्र लिङ्गविशिष्टपरिभाषया 'अचित्तहस्ति' इति ठकि जातित्वेऽपि पुंवत्त्वं भवति । अनित्यत्वे च ज्ञापकं 'प्रवाहणस्य ढे' इति प्रवाहणशब्दे पूर्वपदस्य वृद्धिं विकल्प्य उत्तरपदस्य स्वतः सवृद्धिकस्यापि नित्यं तद्वचनम् । तद्धि प्रवाहणेयीभार्य इत्यत्र पूर्वपदस्य वृद्ध्यभावेऽपि ढस्योत्तरपदे वृद्धिनिमित्तत्वेन 'वृद्धिनिमित्तस्य' इति पुंवद्भावप्रतिषेधार्थम् । नित्ये च जातिलक्षणे निषेधे प्रवाहणेयीशब्दस्य गोत्रवाचित्वेन जातित्वादनेनैव पुंवत्त्वनिषेधे सिद्धे किं तदर्थेन उत्तरपदवृद्धिविधानेन । एवं तर्हि पुंवद्भावस्य इडबिडाद्यर्थत्वात् सन्नियोगशिष्टपरिभाषाया अनित्यत्वे प्रमाणाभा-

वात् कथं **ऐनेयः श्यैनेयः** इति सिध्यतः । तत्रैवं वक्तव्यम्—भाष्यकारेणानन्यथासिद्धं ऐडबिडयति इत्यनुदाहृत्य एतयाति श्येतयाति इत्यादेः उदाहरणादनित्यत्वमेव अवसास्यत इति पुंवद्भावः । रभावः—'र ऋतोहलादेः' इति हलादेरङ्गस्य लघोः ऋकारस्य इष्ठेमेयस्सु विधीयमानो रभावो णावपि भवति ॥

अत्र परिगण्यते—

पृथुं मृदुं भृशं चैव कृशं च दृढमेव च ।
परिपूर्वं वृढं चैव षडेतान् रविधौ स्मरेत् ॥

इति । पृथुमाचष्टे **प्रथयति** । अत्र केचिदाहुः—चङि पृथु इ अत् इति स्थिते टिलोपश्च प्राप्नोति वृद्धिश्च । तत्र पूर्वं टिलोपे वृद्धिर्न प्राप्नोतीत्यनित्या । वृद्धौ तु टिलोपः शब्दान्तरप्राप्त्याऽनित्यः । उभयोरनित्ययोः परत्वाद्वृद्धावत एवातिदेशात्पूर्वं[1] टिलोपेऽङ्गस्यानग्लोपित्वात् सन्वल्लघुनीतीत्त्वे **अपिप्रथत्** इति भवति । अत एव 'हलिकल्योरदन्तत्वनिपातनं सन्वद्भावप्रतिषेधार्थम्' इत्युक्तम् । यदि हि वृद्धेः पूर्वं टिलोपः स्यात्तर्हि हलिकल्योरिकारलोपेनैवाग्लोपित्वसिद्धेः किमत्वनिपातनेनेति । 'णौ चङि' इत्यत्र कैयटे तु—नाग्लोपीत्यत्र अलोप इति वक्तव्ये अग्लोपीति प्रत्याहारग्रहणसामर्थ्यात् पट्वादेर्णौ वृद्धेः पूर्वं टिलोपेन भवितव्यमित्यग्लोपित्वेन सन्वदित्त्वाभावात् **अपपटत्** इत्यादि भवतीत्युक्तम् । तन्मते अत्रापप्रथदिति भवितव्यम् । तथा ह्यवर्णान्तेषु अवर्णोपधेषु च वृद्धावप्यवर्ण एव लुप्यते ।

---

[1] वृद्धावादेशात्पूर्वं.

अग्लोपिग्रहणवदलोपिग्रहणमपि यत्र केवलस्यावर्णस्य लोपः तत्र तस्य स्थानिवत्त्वेन उपधात्वविधानादेव ह्रस्वाप्रसङ्गादवर्णानवर्णसमुदायलोपार्थं विज्ञास्यते। इवर्णोवर्णान्तयोस्तु पूर्वं वृद्धावग्लोपित्वासम्भवः ॥

ननु स्वामिनमाख्यत् **असस्वामत्** । गोमिनमाख्यत् **अजुगोमत्** । प्रादुराख्यत् **अपप्रादत्** । यादृशमाख्यत् **अययादत्** । तादृशमाख्यत् **अततादत्** इत्यादौ यत्र वृद्धेरप्रसङ्गादनवर्णस्येको लोपस्तत्रेत्त्वनिवृत्त्यर्थं अनग्लोप इति वक्तव्यम् । नैतदस्ति । यदीदृशाण्णिजेव नोत्पद्यते । अत्र च प्रमाणं 'णौ चङि' इत्यत्र भाष्ये नाग्लोपीतिप्रत्याहारग्रहणेन वृद्धेः पूर्वं टिलोपस्य ज्ञापकस्यावस्थानम् । स्वामिन्नादेर्णौ तत्कथं सङ्गच्छेत ॥

ननु स्रग्विणमाख्यत् **असस्रजत्** इत्यत्र विनो लुक्युपधाया वृद्धौ तस्य ह्रस्वनिवृत्त्यर्थं अग्लोपिग्रहणं स्यात् । इष्यते च विन्नन्तात् णिः । इष्ठवद्भावस्य विनो लुकः प्रयोजनस्योक्तत्वात् । नैतदस्ति प्रयोजनम् । यतः 'टेः' इत्यत्र भाष्यकारेण स्रजयतीत्युदाहृतत्वात् 'अङ्गवृत्ते पुनर्वृत्तावविधिर्निष्ठितस्य' इति वा वृद्धेरप्रसङ्गात् ह्रस्वभाविन्युपधैव नास्ति । कस्मिंश्चिदङ्गकार्ये वृत्ते पुनरन्यस्याङ्गकार्यस्य वृत्तौ प्राप्तायामविधिः तस्य कार्यस्य तच्चेदङ्गं परिनिष्ठितं प्रयोगार्हं भवतीति परिभाषाऽर्थः । अस्ति चात्र विन्मतोर्लुकोऽङ्गकार्यस्य वृद्धेः पूर्वं प्रवृत्तिः । तस्मात् ज्ञापकमेव प्रत्याहारग्रहणं वृद्धेः पूर्वं टिलोपप्रवृत्तेः । अत एव वादितवन्तं प्रयोजितवान् अवीवदत् वीणां परिवादकेन इत्यत्र योऽसौ णौ णेर्लोपस्तस्य स्थानिवत्त्वेनाङ्गस्य अग्लोपित्वात् उपधाह्रस्वत्वनिषेधे

प्राप्ते 'उपधाह्रस्वत्वे णेर्णिच्युपसंख्यानं कर्तव्यं' इति वार्तिकमारब्धम् । न च णेः पूर्वं वृद्धौ पश्चाल्लोपे अङ्गस्य अनग्लोपित्वेऽपि तस्य स्थानिवत्त्वेनोकारस्य उपधात्वविघातात् ह्रस्वो न प्राप्नोतीति वार्तिकारम्भः स्यादिति वाच्यम् । यतः 'क्विलुगुपधात्वचङ्परणिह्रासकुत्वेषूपसङ्ख्यानम्' इति स्थानिवत्त्वं न्यषेधीत् । किञ्च—'ण्यल्लोप' इत्यादिना वृद्धेः पूर्वं णिलोपस्योक्तत्वात् अनग्लोपित्वशङ्कैव न भवति । अत एव भाष्यकारेण 'उपधाह्रस्वत्वे णेर्णिचि' इति वार्तिकमग्लोपित्वात् ह्रस्वत्वं न प्राप्नोतीत्यारब्धमिति व्याख्यातम् । वृत्तिकारोपि वृद्धेः पूर्वं टिलोपमनुमेने । यदाह—वादितवन्तं प्रयोजितवान् अवीवदद्वीणां परिवादकेन । योऽसौ गौ णिलोपस्तस्य स्थानिवद्भावादग्लोपित्वाद्वा अङ्गस्य ह्रस्वो न प्राप्नोतीति । गतमदः । अपरे तु हलिकल्योरत्वनिपातनस्य भाष्यवार्तिकयोरित्त्वाभावप्रयोजनत्वेन कथनादगिति प्रत्याहारग्रहणाद्वृद्धेः पूर्वं टिलोप इति भाष्ये व्यवस्थितत्वाच्च वृद्धेरुत्तरकालं पूर्वं वा कामचारेण टिलोप इति **अपपटत् अपीपटत्** इत्युभयमपि प्रतिपन्नाः । अत्र मते प्रथेः **अपप्रथत् अपिप्रथत्** इत्युभयमपि भवति । एवं **म्रदयतीत्यत्रापि** । **भ्रशयति** । **क्रशयति** । **द्रढयति** । एषां चङि सर्वथा अग्लोपित्वात् **अबभ्रशत्** । **अचक्रशत्** । **अदद्रढत्** इति भवति । परिव्रढयतीत्यत्र सोपसर्गात्सङ्ग्रामयतेरेव धातुसंज्ञानिमित्तप्रत्ययो नान्यस्मादिति पृथक्कृतोपसर्गाद्वृढादेरेव प्रत्यय इति 'तिङतिङः' इति निघातो भवति । **पर्यव्रढयत्** इत्यत्र परेः परोऽङ्भवति । **परिबृढय्येत्यत्र** परेः क्त्वान्तेन 'कुगतिप्रादयः' इति समासे 'समासे नञ्पूर्वे क्त्वो ल्यप्' इति ल्यब्भवति, णेः ल्यपि 'ल्यपि लघुपूर्वात्' इत्ययादेशः । **परिबिव्रडयिषति पर्यबिव्रढत्** इत्यत्र संश्र-

ङोर्ब्रे देरेव द्विर्वचनं भवति । 'सन्यतः' इति सनीत्त्वम् । सन्वदित्त्वं चङ्चग्लोपित्वान्न भवति । इति रभावः । टिलोपः—पटुमाचष्ट **पटयति**—'टेः' इति इष्ठनि विहितष्टिलोपो णावपि भवति। तस्य स्थानिवत्त्वादुपधावृद्धिर्न भवति । पटुमाख्यत् **अपपटत्**—अग्लोपित्वात् सन्वदित्त्वं न भवति ॥

नन्वत्र इष्ठवद्भाविनाङ्गस्य भत्वात् 'यस्य' इति लोपेनापि **पटयती**त्यादिसिद्धेः किं लोपवचनेन । सत्यम् । अत्रैवं सिद्ध्यति । पटुमृदु*राजादिभ्यो णौ **पटयति म्रदयति राजयति** इत्याद्यर्थं अवश्यं टिलोपेन भाव्यम् । 'सन्वल्लघुनि' इत्यत्र हरदत्तः—यत्र केवलस्यातो लोपः तत्र तस्य स्थानिवत्त्वेनाङ्गस्य चङ्परणिपरत्वाभावादेवेत्त्वाभावसिद्धेः अनग्लोपिवचनं अज्झल्लोपार्थमपीति **अदद्दषत् अरराजत्** इत्यादावपीत्त्वाद्यभाव इत्याह । तन्न ; अनादिष्टादचः पूर्वस्य कस्मिंश्चित्कार्ये विधातव्ये स्थानिवद्भावो न त्वादिष्टादचः पूर्वस्यापि† इत्यभ्यासेत्त्वे स्थानिवत्त्वाप्रसङ्गात् । अङ्गस्य चङ्परणिपरत्वं त्वनूद्यते न विधीयत इति तस्य स्थानिवत्त्वाप्रसक्तेः अङ्गं चङ्परं णिपरं न स्यादित्याशङ्का नोदेति । सत्यपि वा स्थानिवत्त्वे तत्सहितमेवाङ्गं§ भविष्यति । चङ्परणिपरं चेति न स्थानिवद्भावेनाङ्गस्य चङ्परणिपरत्वभङ्गः ॥

ननु कथं तदुक्तमभ्यासोऽनादिष्टादचः पूर्वो न भवतीति । यतः पट्वादेर्णौ चङि यष्टिलोपात्पूर्वं अनादिष्टादचः पूर्वत्वेन दृष्टः पट इत्यादिः स एव द्विः प्रयुज्यत इति स्यादेवाभ्यासस्य अना-

---

* मुद्रितकोशे मृदुपदस्थाने दृषत्पदं मृदयतिस्थाने दृषयतीति च दृश्यते
† पूर्वस्मादपि. § तत्सन्निहितमेवाङ्गं.

दिष्टादचः पूर्वत्वम् । सत्यमेवं ; किन्तु यत्कार्यत्वेनाश्रियते साभ्यासावस्थं न तदनादिष्टादचः पूर्वं भवति । एवं हलिकल्यो रदन्तत्वानिपातनं संगच्छते । अन्यथा यस्य कस्यापि अचष्टिलोपे तस्य स्थानिवद्भावेनाङ्गं चङ्परणिपरं न स्यादिति किमत्त्वनिपातनेन । सत्यपि वा स्थानिवत्त्वे तत्सहितमेव[1] चङ्परणिपरमङ्गं भविष्यति । अभ्यासश्च तस्यैवेति सर्वथा अनग्लोप इत्येवेत्त्वाभावो वाच्यः । **अदद्दषत्** । **अरराजत्** इत्यादावग्लोपे अभ्यासस्येत्त्वाभावस्तु अनग्लोपे इत्याश्रीयमाणस्याको लोपाभावस्य विद्यमानत्वात् । पटुमाख्यत् इत्यत्र वृद्धेः पूर्वं टिलोपे अङ्गस्याग्लोपित्वात् **अपपटत्** इत्येके । कृतायां तु वृद्धौ टिलोपात् **अपीपटत्** इत्यन्ये । (कृतायामकृतायां वा वृद्धौ) कामचारेण टिलोपादुभयमपीत्यपरे । पक्षत्रयमिदं पुंवद्भावे प्रदर्शितम् । पटोरयं मतभेदः अन्येषामुवर्णान्तानां कव्यादीनामिवर्णान्तानां च द्रष्टव्यः । कुमार्यादीनां तु पुंवद्भावेन कुमाराद्यादेशविधानात् वृद्धावप्यगेव लुप्यत इति **अचकुमारत्** इत्याद्येव भवति । इदं चाग्लोपित्वेनेत्त्वाभाववचनं सन्वत्सूत्रस्य चङ्परे णौ यदङ्गं तस्य योऽभ्यासो लघुपरः इत्यर्थवादिनां हरदत्तादीनामनुसारेण । न तु चङ्परे णौ यल्लघु तस्मिन्परतोऽभ्यासस्येति वादिनां कैयटकारादीनाम् । तेषां यदत्राभ्यासात्परं लघु न तच्चङ्परणिपरम् । यच्चङ्परणिपरं न तल्लघु । अभ्यासश्च वर्णान्तरेण व्यवधानात् न तत्पर इति नास्त्यत्रेत्त्वप्रसङ्गः । तथा हि—तत्र भाष्ये अजजागरत् इत्यत्र अभ्यासस्य लघुपरत्वाभावात् इत्त्वं न भवतीत्युक्तम् । यदाह—व्यवहितं चात्र लघु चङ्परमिति ।

---

[1] चङ्संनिहितमेव.

यद्येवं **अचीकृतत्** **अजीहरत्** इत्यादावपि व्यवधानं प्राप्नोति। नैतदस्ति। येन नाव्यवधानं तेन व्यवहितेऽपि वचनप्रामाण्यात् इत्येकेन वर्णेन व्यवधानमाश्रियते न पुनरनेकेनापि। एवमपि **अचिक्षणत्** इत्यत्र न प्राप्नोति। एवं तर्हि आचार्यप्रवृत्तिर्ज्ञापयति भवति संयोगेन व्यवधानेऽपीति। यदयं 'अत्स्मृदृत्वर' इति **असस्मरत्** इत्यादीनां इत्त्वाभावार्थं अत्वं शास्ति। अवश्यं चैतदेवं विज्ञेयं चङ्परे णौ यल्लघु तल्लोपस्य स्थानिवत्त्वेन चङ्परणिपरत्वस्याभावादित्त्वं न भवतीति वाच्यम्। तदेवं स्थानिवत्त्वं न भवत्यभ्यासस्यादिष्टादचः पूर्वत्वात्सत्यपि वा स्थानिवत्त्वे तत्सहितमेव चङ्परणिपरमङ्गं भवति। अभ्यासत्वं च तस्यैवेतीत्त्वं दुर्वारमितीदानीमेवोक्तम्॥

अथ कथमत्रेत्त्वादि भवति वादितवन्तं प्रयोजितवान् अवीवदद्वीणां परिवादकेन इति। यावता योऽसौ णौ णिलोपस्तस्य स्थानिवत्त्वेनाभ्यासात्परस्य लघोश्चङ्परणिपरत्वं विहन्यते॥

अत्र वृत्तिकारः परिहरति—'ण्याकृतिनिर्देशात्सिद्धमिति'। अत एव णिजातेर्निमित्तत्वेनाश्रयणात् गोबलीवर्दन्यायेन णिचोऽन्यस्याको लोप इहाग्लोप इत्यग्लोपित्वादित्त्वं न प्राप्नोतीत्येतदपि परिहृतम्॥

यत्तु सन्वल्लघुनीत्यत्र भाष्ये णेः परत्वाद्वृद्धौ कृतायां लोप इति अग्लोपित्वाभावादित्त्वं भवतीति वचनं तत्प्रौढिवादमात्रम्। यत्स्वयमेव णौ चङीत्यत्र नाग्लोपीत्यगिति प्रत्याहारग्रहणसामर्थ्यात् 'ण्यल्लोप' इत्यादिवचनाच्च वृद्धेः पूर्वं टिलोपमाह। एवमन्यत्रापि णेर्णौ द्रष्टव्यम्। वहेः क्ते यजादित्वात् संप्रसारणे परपूर्वत्वे होढे 'झषस्त-

थोः' इति थकारस्य धकारे तस्य ष्टुत्वेन ढकारे ढोढे लोपे दीर्घे ऊढः तमाचष्टे ऊढयति चङि अजादित्वात् द्वितीयस्यैकाचः 'चङि' इति द्विर्वचने कर्तव्ये पूर्वत्रासिद्धत्वेन ढत्वादीनामसिद्धत्वे णौ कृतं स्थानिवत् इति टिलोपस्य च स्थानिवत्त्वे हतशब्दस्य द्विरुक्तौ उत्तरखण्डस्य पूर्ववद्ढत्वादौ अभ्यासस्य हलादिशेषे 'कुहोश्चुः' इति कुत्वेन हकारस्य झकारे तस्य च 'अभ्यासे चर्च' इति जश्त्वेन जकारः। आटि वृद्धौ च औजढत् इति भवति। अग्लोपित्वात्सन्वदित्त्वाभावः। औजिढत् इति—क्तिनि पूर्ववत् संप्रसारणात् ऊढिशब्दाण्णिचि चङि हतशब्दस्य द्विरुक्तौ॥

ननु कथमिह ढत्वादीनामसिद्धत्वम्। यतः 'पूर्वत्रासिद्धीयमद्विर्वचने' इत्युच्यते, सत्यम्। 'उभौ साभ्यासस्य' इति उपसर्गस्थान्निमित्तात्परस्य अनितेः नकारस्य णत्वविधानात् अनित्यत्वज्ञापनादिहैव तन्न प्रवर्तते। नित्ये चास्मिन् प्राणितीतिवत् प्राणिणिषतीत्यत्रापि अनितेर्नकारस्य उपसर्गस्थान्निमित्तात् परत्वेन 'अनितेः' इति णत्वे कृते तत्सहितस्यैव द्विर्वचने सिद्धे किमनेन साभ्यासस्येति णत्वविधानेन॥

कर्तृशब्दाण्णिचि णाविष्ठवदतिदेशात् 'तुश्छन्दसि' इति विधीयमाने तृशब्दलोपे करयतीत्येके। एवं हर्त्रादीनामपि हरयति इत्यादि द्रष्टव्यम्। दोग्ध्रादेस्तु णौ घत्वादीनां पूर्वत्रासिद्धत्वेन तृशब्दलोपे दोहीयसीत्यादिवत् दोहयतीत्यादि भवति॥

अन्ये त्वयं तृशब्दलोपः छन्दस्युपदिष्टः कथं भाषायां स्यादिति कर्तयतीत्यादि प्रतिपन्नाः। पित्रयतीत्यादावयं तृशब्दलोपो नाशङ्क्यः। 'उणादयोऽव्युत्पन्नानि' इति पित्रादिषु व्युत्पत्तिकार्यानाश्रय-

णात् अवयवप्रविभागो न भवति । अत्र च ज्ञापकम्—अप्तृन्नित्यत्र नप्त्रादीनां ग्रहणम्; व्युत्पत्तौ तेषां तृजन्तत्वादेव ग्रहणसिद्धेः किं तेषां ग्रहणेन ॥

त्वामाचष्टे **त्वादयति** मामाचष्टे **मादयति**—'प्रत्ययोत्तरपदयोश्च' इति एकार्थवृत्तयोः युष्मदस्मदोः मपर्यन्तस्य त्वमयोर्वृद्धिः। अत्रान्ये अङ्गवृत्त इति वृद्धिमकृत्वा **त्वदयति मदयति** इति मन्यन्ते । अपरे पुनस्त्वमयोः पूर्वं लोपे नित्यत्वात्प्रवृत्ते वृद्धौ पुकि **त्वापयति मापयतीति** भवति । त्वदयतीति वादिनां अन्तरङ्गं परपूर्वत्वमित्यभिप्रायः ॥

युवामाचष्टे **युष्मयति** । आवामाचष्टे **अस्मयति**—'युवावौ' इत्यत्र द्विवचनेन द्व्यर्थवृत्तिताया अभिधानेऽपि णिजुत्पत्तिः प्रातिपदिकादिति विभक्तेरनुत्पादे विभक्तिपरत्वाभावान्न युवावयोः प्रसङ्गः। इह सुबन्तादुत्पत्तावपि विभक्तेर्लुकालुप्तत्वेन विभक्तिपरत्वाभावाद्युवावयोरप्रसङ्ग एव । नच मन्तव्यं अन्तरङ्गत्वात्सुब्लुकः पूर्वं युवावयोः 'द्वितीयायां च' इति शेषे लोपापवादे आत्वे पुकि **युवापयति आवापयतीति** स्यातामिति। यतोन्तरङ्गानपि विधीन् बहिरङ्गो लुग्बाधते । उपपादितं चैतत् क्यज्विधौ[1] । 'प्रत्ययोत्तरपदयोश्च' इति त्वमौ युष्मदस्मदोरनेकार्थत्वात् न प्रसजतः। अतः युष्मानाचष्टे अस्मानाचष्टे **युष्मयति अस्मयति** इत्यत्रापि न भवतः। त्वामतिक्रान्तं **अतित्वां** अतिक्रान्तौ **अतित्वां** अतिक्रान्तान् **अतित्वान्** एवं **अतिमान्** । अत्र च युष्मदस्मदोरेकार्थत्वात् विभक्तिपरत्वाच्च 'त्वमावेकवचने' इति त्वमयोः शे-

---

[1] क्यङ्विधौ.

षेलोपापवादे 'द्वितीयायां च' इति पूर्ववदात्वे शसोऽन्यत्र विभक्तेः 'ङेप्रथमयोरम्' इत्यमादेशः । शसि तु 'शसो न' इति युष्मदस्मभ्यां परस्य शस आदेर्नकारे सस्य संयोगान्तलोपः। 'युवावौ द्विवचने' इत्यत्र द्वयोर्वचनं द्विवचनं तच्च युष्मदस्मदोर्विशेषणमिति स्थितत्वादौटि युवावयोरप्रसङ्गः। अत्र णौ युष्मदस्मदोरेकार्थत्वेन 'प्रत्ययोत्तरपदयोश्च' इति त्वमयोरन्तरङ्गत्वात्परपूर्वत्वे ततष्टिलोपे च **अतित्वयति अतिमयति** इति भवतः। अत्रापि त्वमयोः पूर्वं नित्यत्वाट्टिलोप इति वादिनां **अतित्वापयति अतिमापयतीति** स्याताम्। युवामतिक्रान्तं अतिक्रान्तौ **अतियुवां** अतिक्रान्तान् **अतियुवान्** । एवं **अत्यावं अत्यावान्**—युष्मदस्मदोः द्व्यर्थत्वात् विभक्तिपरत्वाच्च 'युवावौ द्विवचने' इति युवावयोः पूर्वत्वात् 'द्वितीयायां च' इत्यात्वं 'ङेप्रथमयोरम्' इत्यम्भावः 'शसो न' इति च भवति । युष्मानतिक्रान्तं अतिक्रान्तौ **अतियुष्मान्** अतिक्रान्तान् **अतियुष्मान्** एवं **अत्यस्मान्**—पूर्ववदात्वविभक्तिकार्ये । सर्वत्रार्थे णौ युष्मदस्मदोरनेकार्थत्वात् त्वमयोरभावात् **अतियुष्मयति अत्यस्मयतीति** भवतः ॥

श्वानमाचष्टे **शावयति**—अत्र श्वान् इ इति स्थिते णाविष्ठवदतिदेशात् द्वौ टिलोपौ प्राप्नुतः, 'टेः' इत्येकः 'नस्तद्धिते' इत्यपरः। तत्र 'प्रकृत्यैकाच्' इति प्रकृतिभावात् 'टेः' इत्यस्मिन्निवृत्तेऽपि 'नस्तद्धिते' इत्ययं भवति। तत्र कृते इष्ठनोऽजादित्वेन तत्र परे पूर्वस्य भत्वं दृष्टमिति णावप्यतिदेशेन तस्य सद्भावाद्वकारस्य संप्रसारणे कृते णौ वृद्धावावादेशः ॥

नन्विष्ठवदतिदेशवाक्ये णावित्युपमेये सप्तमीश्रवणात् इष्ठवत्

इत्युपमानेऽपि वतिः सप्तम्यन्तात् इति तत्र परे पूर्वस्य यत्कार्यं दृष्टं तदेव अतिदेष्टव्यम् । णावपि परे न पुनः णेरिष्ठन इव तद्धितत्वमपि इति । तत्र 'प्रातिपदिकस्य' इति वचनस्य प्रत्यकार्याणां अतिदेशनिवृत्त्यर्थत्वाद्वा णेस्तद्धितत्वाभावात् 'नस्तद्धिते' इति टिलोपोत्र न स्यात् । अतद्धितत्वादेव त्वयाप्योर्गुणो न कृतः । उच्यते—असत्यपि तद्धितत्वे ब्रह्मवत्तरो ब्रह्मिष्ठ इत्यादौ विन्मतोर्लुकि इष्ठनि परे प्रकृतौ नान्तलक्षणष्टिलोपो दृष्ट इत्यत्रेष्ठनोसंभवेऽपि सम्भावनया स्यादेव । यथा पट्विमा पटिष्ठेत्यादौ 'भस्याढे तद्धिते' इति पुंवद्भावो भवन् कुमारीमाचष्टे कुमारयतीत्यादौ इष्ठनस्सम्भावनया भवति । एवं तर्हि दविष्ठ इत्यादौ इष्ठनि ओर्गुणः पूर्वस्य दृष्ट इत्यत्राप्यतिदेशेन प्राप्नोति । नैष दोषः । यदस्मिन् संप्रसारणटिलोपौ 'असिद्धवदत्र' इत्यसिद्धौ भविष्यतः ॥

अन्ये तु ब्रह्मिष्ठ इत्यादौ नान्तलक्षणाट्टिलोपात् परत्वात् 'टेः' इत्यनेनैव भवितव्यमिति तस्याप्रवृत्तेः इष्ठनि परे पूर्वत्रादर्शनादिहातिदेशो न युक्त इति तदभावात् केवलं प्रसारणपूर्वत्वयोः शुनयतीति भवतीति मन्यन्ते ॥

नन्वनयोः आभीयोष्टिलोपयोः 'असिद्धवदत्र' इत्यन्योन्यस्यासिद्धत्वात्कथं विप्रतिषेधः । नैष दोषः । 'घुमास्था' इत्यत्र हल्ग्रहणेन विप्रतिषेध इदमसिद्धत्वं[1] नेति ज्ञापनात् । तच्च हल्ग्रहणं गोद इत्यादौ अजादौ क्ङित्यार्धधातुके ईत्वं मा भूदिति यदि च विप्रतिषेधे इदमसिद्धत्वं[1] स्यात् कृतेऽपीत्वे तस्यासिद्धत्वात् अतोलोपे सिद्धं गोद इत्यादीति किं हल्ग्रहणेन ॥

---

[1] इदमसिद्धम्.

नन्वेतदीत्वेऽपि ‘अचि श्नुधातु’ इतीयङ् स्यादिति तन्निवृत्त्यर्थमीत्वमेव मा भूदिति अर्थवदेव। नैतदस्ति प्रयोजनम्। यदियङोऽप्याभीयत्वेन तस्मिन्नपीत्वस्यासिद्धत्वात्। मैवम्। युटो यणीवेयङीत्वस्यासिद्धत्वाभावो वाच्यः। अन्यथा धियौ पियौ इति न सिद्ध्यतः। यद्धातिपिबत्योः क्वौ कृतं ‘घुमास्था’ इतीत्वं इयङ्चसिद्धं स्यात्। नैतदस्ति। ‘ध्यायतेस्संप्रसारणं च’ इति ध्यायतेः प्यायतेश्च क्वौ संप्रसारणदीर्घत्वयोः धीपीशब्दयोः व्युत्पादनात्। अवश्यं चैतदेवं वाक्यकारस्य मते विज्ञेयम्। अन्यथा तेन वकारे प्रतिषेध इति क्वावपीत्वाभावस्य उक्तत्वात् धीपीशब्दावेव न स्याताम्। तथा च तत्र भाष्ये ‘यदि तर्हि वकारे प्रतिषेध उच्यते कथं धीः’ इति बोधयित्वा ‘धीरिति चोक्तम्[1] किमुक्तं नैतदीत्वं किं तर्हि ध्याप्योः संप्रसारणमिति’ इत्युक्तम्। यदपि मतं ईत्वे वकारस्य प्रतिषेध इत्यस्य भाष्ये अनवस्थानात्[2] क्वावप्येतौ शब्दौ भवत इति तदपि क्वावीत्वं विभक्ताविययङिति व्याश्रयत्वात् नास्त्यसिद्धत्वप्रसङ्गः। एवमपि व्यवस्थार्थं हल्ग्रहणं कर्तव्यमेव। अन्यथा आभीयानां अन्योन्यस्मिन् अन्योन्यस्यासिद्धत्वात् ईत्वमाल्लोपेसिद्धमाल्लोपश्चेत्व इति व्यवस्था न प्रक्लृप्येत। एवं तर्हि ‘आतो लोप इटि च’ इत्यजादौ क्ङित्यार्धधातुके आकारस्य लोपो भवति। ततो घुमास्थागापाजहातिसां च पूर्वोक्त इडादौ परे आकारस्य लोपो भवति। इदं चेत्वबाधनार्थम्। तत ईत्। ईदप्याकारस्य भवति घुमास्थादीनाम्। इदं चाजादिष्वाल्लोपस्य उक्तत्वात् हलादौ क्ङित्यार्धधातुके भवति। तत

[1] “भाष्ये तु कथं धीवरीति फीवरीति। धीवरीति चोक्तम्” इत्याद्येव दृश्यते. [2] भाष्ये न व्यवस्थापनात्.

'एर्लिङि' 'वाऽन्यस्य संयोगादेः' 'न ल्यपि' 'मयतेरिदन्यतरस्याम्'। ततो यति आत इत्येव। यति चात इद्भवतीति। एवं लघीयसा न्यासेन सिद्धायां व्यवस्थायामपि यद्गरीयांसं यत्नमास्थाय हल्ग्रहणं करोति तस्यैतत्प्रयोजनं विप्रतिषेधे नेदमसिद्धत्वामिति। एवमप्ययुक्तो विप्रतिषेधः। इष्ठवदतिदेशेनैव द्वावपि टिलोपौ प्राप्येते इत्येकयोगलक्षणत्वात् पौर्वापर्याभावात्। तथा च 'प्रत्ययलोपे' इत्यत्र वार्तिकम्—तुग्दीर्घयोश्च विप्रतिषेधानुपपत्तिः एकयोगलक्षणत्वात् परिवीरिति। युक्तो विप्रतिषेधः किमनेनातिदिश्यते। यत्प्रकृतावव्यवस्थितं तत्र च परत्वात् 'नस्तद्धिते' इत्येतं बाधित्वा 'टेः' इत्येव व्यवस्थितमिति। 'प्रकृत्यैकाच्' इत्यत्र भाष्यादौ ब्रह्मिष्ठ इत्यत्र 'नस्तद्धिते' इति टिलोपोऽभिहितः॥

विद्वांसमाचष्टे इति णौ टिलोपे **विद्वयतीति** दौर्गाः। अत्रात्रेयः—प्रसारणाभावश्चिन्त्य इति। तत्रेष्ठवद्भावेन भत्वात् 'वसोस्संप्रसारणम्' इति संप्रसारणे वृद्धावावादेशे **विदावयतीति** भवितव्यमित्येके। अपरे तु ब्रुवते—कृतेऽपि टिलोपे प्रसारणं प्राप्नोतीति नित्यत्वात् कृते तस्मिन्नन्तरङ्गत्वात्परपूर्वत्वे च पश्चाट्टिलोप इति **विदयतीति**। ननु टिलोपोपि कृते संप्रसारणे प्राप्नोतीति नित्यः। नैतदस्ति। कृते संप्रसारणे अन्तरङ्गत्वात् परपूर्वत्वे शब्दान्तरप्राप्त्याऽयमनित्यो भवति। स्यादेतदेवं यदि प्रसारणमात्रेण शब्दान्तरप्राप्तिः स्यान्नेह तथा किन्तु परपूर्वत्वेन। यस्य च लक्षणान्तरेण निमित्तं विहन्यते नैतदनित्यं भवति। नैष दोषः। 'यस्य च लक्षणान्तरेण' इति परिभाषा न सार्वत्रिकी। उक्तं चैवं 'आङजादीनाम्' इत्यत्र हरदत्तादिभिः। अमुमेव पक्षमाश्रित्य अस्मा-

भिः माधवीयायां धातुवृत्तौ वेत्तौ **बिदयतीति** प्रदर्शितम् ॥

उदञ्चमाचष्टे **उदीचयति**—अत्र सोपसर्गात्संग्रामयतेरेवेति ज्ञापकात् धातुसंज्ञानिमित्ते प्रत्यये उपसर्गाणां पृथक्करणात् क्विन्नन्तात् लुप्तनकारादञ्चतेरेव णौ ‘प्रकृत्यैकाच्’ इति प्रकृतिभावात् टिलोपाभावे णाविष्ठवदतिदेशेन भत्वे ‘अचः’ इति लुप्तनकारस्याञ्चतेः प्राप्ताकारलोपापवादः ‘उद ईत्’ इतीत्वं भवति । चङि णिलोपस्य ‘द्विर्वचनेऽचि’ इति स्थानिवत्त्वात् ‘अजादेर्द्वितीयस्य’ इति चिशब्दस्य द्विर्वचने अङ्गस्याटि वृद्धौ **उदैचिचत्** इति भवति । ल्यपि लघुपूर्वत्वाभावे नायादेशाभावाण्णिलोपे **उदिच्येति**[1] भवति ॥

प्रत्यञ्चमाचष्टे **प्रतीचयति**—अत्रापि पूर्ववदञ्चतेरेव पूर्ववत् णौ भत्वात् ‘अचः’ इत्याकारलोपे ‘चौ’ इति लुप्तनकारेऽञ्चतौ पूर्वपदस्य दीर्घः । चङि चिशब्दात् पूर्वमाटि यणादेशे **प्रत्याचिचत्**, ‘इकोऽसवर्णे शाकल्यस्य ह्रस्वश्च’ इति यदा इकोऽसवर्णेऽचि प्रकृतिभावो दीर्घस्य च ह्रस्वः तदा **प्रतिआचिचत्** इति भवति । ल्यपि तु पूर्ववत् **प्रतीच्येति** भवति ॥

सम्यञ्चमाचष्टे **समीचयति**—‘समस्समि’ इत्यञ्चतौ सम्यादेशे ‘अचः’ इत्याकारलोपे ‘चौ’ इति दीर्घः । अत्रापि चङ्ल्यपोः पूर्ववत् **सम्याचिचत्** । **समीच्येति** भवति ॥

तिरोञ्चतीति तिर्यङ् ‘तिरसस्तिर्यलोपे’ इति तिर्यादेशः । तमा-

---

1 उदीच्येति.

चष्टे **तिरायति**—इष्ठवद्भावेन चाञ्चतेष्टिलोपे वृद्ध्यायौ । तिरस इत्यत्रातोलोप इति अलोपे तिर्यादेशाभावः 'अचः' इत्यञ्चतेः विधीयमानाकारलोपविषयः । स ह्यनन्तरः अनन्तरस्य विधिर्वा भवति प्रतिषेधो वा । अत्र पुनरिष्ठवद्भावप्रवृत्त्या 'टेः' इति तिरेरिकारस्य वृद्ध्याययोः कृतयोरकृतयोर्वा लोपो न भवति । 'अङ्गवृत्ते पुनर्वृत्तावविधिर्निष्ठितस्य' इति । यद्वा—'असिद्धवदत्र' इति प्राथमिकस्य अञ्चतिटिलोपस्य चारमिकेऽन्यस्मिन्नसिद्धत्वात् यथा-कारितरां इत्यत्र तशब्दे पूर्वप्रवृत्ताश्रिणो लुक् पुनस्तरपि स्वप्रवृत्ता-वसिद्धो भवति । अत एव तिरेः स्थानिवत्त्वेन अव्ययत्वात् 'अव्ययानां भमात्रे' इति इष्ठवद्भावेन प्राप्तोपि टिलोपो न भवति । एवमपीकारस्य 'यस्य' इति लोपेन भवितव्यमिति चेन्न । टिलोपस्यासिद्धत्वात् परया वृद्ध्या बाधाद्वा । यत्तु 'कस्येत्' इत्यत्र भाष्ये कायमित्यत्र इकारवचनसामथर्यात् 'यस्येति च' इति लोपाभाववचनं तत्प्रौढवादमात्रम् । अस्याग्लोपित्वेन उपधाह्रस्वाभावावात् **अतितिरायत्** इति भवति ॥

सहाञ्चतीति सध्र्यङ् 'सहस्य सध्रिः' इति सध्र्यादेशः तमाचष्टे **सध्रायति**—पूर्ववत् सध्रेरिकारलोपाभावः । चाङि **अससध्रायत्**, अग्लोपित्वादुपधाह्रस्वत्वाभावः । अभ्यासस्येत्वं तु चङ्परलघुपरत्वाभावादपि न भवति । यदीष्ठवद्भावेन प्राप्तस्याञ्चतेष्टिलोपस्य तिर्यादेरिकारे पुनः प्रवृत्तावसिद्धत्वम् । तर्हि कुमारयतीत्यादौ इष्ठवद्भावेन प्रवृत्तं पुंवत्त्वं तेनैव कुमारादेरकारलोपेऽसिद्धं स्यात् । नैष दोषः । इष्ठवद्भावेनातिदिश्यमानानां कार्याणां उत्पत्तिदेश एव देशः इत्याश्रयाणात् पुंवत्त्वोत्पत्तिश्च 'भस्याढे

तद्धिते' इति विधीयमानां आभीया[1] न भवति। अत एव भाष्यकारेण लोहिनीमाचष्टे लोहितयतीत्यादिषु इष्ठवद्भावेन लोहिताद्यादेशे पुनष्टिलोपः कृतः। एवमपि सध्रायति इत्यादावङ्गवृत्तपरिभाषया पुनर्वृद्धिर्न प्राप्नोतीति नाशङ्क्यम्। यस्मादेषा भाष्यकारादिभिः यत्राश्रिता तत्रैव प्रवर्तते। अत एवात्र परिभाषावाक्ये निष्ठितस्येत्युक्तम्। निष्ठितत्वं च प्रयोगार्हत्वम्। तच्चाप्तपरिभाषितमन्तरेणावगन्तुं न शक्यते॥

विषु नाना अञ्चति गच्छतीति विष्वङ् तमञ्चतीति **विष्वद्र्यङ्**, देवान् अञ्चतीति देवद्र्यङ्—'विष्वग्देवयोश्च टेरद्र्यञ्चतावप्रत्यये' इत्यद्र्यादेशः। विष्वद्र्यञ्चमाचष्टे **विष्वद्राययति**। एवं **देवद्राययति**। पूर्ववदञ्चतेर्लोपे यस्येति लोपात्परत्वात् अद्रेरिकारस्य वृद्धावायादेशः। विष्वक्शब्दोऽयं धर्मवचनोपि दृश्यते। यथा 'घोरस्य सतो विषुणस्य चारुः'* इति 'विष्वगित्युत्तरपदलोपश्चाकृतसन्धेः' इति लोमादिलक्षणे मत्वर्थीये नकारे उत्तरपदस्याकृतसन्धेर्लोपः। अत्र भट्टभास्करः—विषुणस्य नानाविधा या गतिस्तद्वतः। 'विष्वग्देवयोश्च' इति चशब्दात्सर्वनाम्नोऽद्र्यादेशे **सर्वद्राययति** इत्यादि॥

अदसोऽद्र्यादेशे पक्षत्रयम्। 'अदसोसेर्दादुदोमः' इति उत्वं द्वाभ्यामपि दकाराभ्यां परयोः, मत्वं च द्वयोरपि दकारयोरित्येकः पक्षः। उत्वमत्वे परयोरेवेति द्वितीयः। नेति तृतीयः। तथा चोक्तम्—

---

[1] इति विधानादाभीयं तु. * तै. सं. ४-३-१३.

अदसोऽद्रेः पृथङ्मुत्वं केचिदिच्छन्ति लत्ववत् ।
केचिदन्त्यसदेशस्य नेत्येकेऽसेर्हि दृश्यते ॥

इति । तत्रोत्वमत्वयोः **अमुमु आययति** । **अदमु आययतीति** भवतः । उकारस्य तु यणादेशः 'पूर्वत्रासिद्धम्' इत्यसिद्धत्वान्न भवति । उत्वमत्वयोरभावे तु **अदद्राययतीति**। चङि सर्वत्र अजादित्वात् द्वितीयस्यैकाचो द्विर्वचने अग्लोपित्वादुपधाह्रस्वत्वाभावात् **अमुमु आययदिति** । **अदमु आययदिति** भवतः । उत्वमत्वयोरभावे सन्वदितीत्वं अग्लोपित्वाद्वाऽभ्यासस्य चङ्परलघुपरत्वाभावाद्वा न भवति । उत्वमत्वयोः 'पूर्वत्रासिद्धीयमद्विर्वचने' इति असिद्धत्वाभावः ॥

त्वामञ्चति त्वद्र्यङ् । मामञ्चति मद्र्यङ् । उत्तरपदत्वात् 'प्रत्ययोत्तरपदयोश्च' इति एकार्थवृत्तयोः युष्मदस्मदोः मपर्यन्तस्य त्वमादेशौ । पूर्ववदद्र्यादेशः । तस्मात् णौ **त्वद्राययति मद्राययति** इति भवतः । युवामञ्चति आवामञ्चति युष्मद्र्यङ् अस्मद्र्यङ् । अत्र युष्मदस्मदोः उत्तरपदपरत्वेऽप्येकार्थत्वान्न त्वमौ । 'युवावौ द्विवचने' इत्यत्र द्विर्वचनेन द्व्यर्थवृत्तिताया अभिधानेऽपि विभक्तेर्लुका लुप्तत्वेन तत्परत्वाभावात् न युवावादेशौ। न च लुकः पूर्वमन्तरङ्गत्वेन भवतः । 'अन्तरङ्गानपि विधीन् बहिरङ्गो लुग्बाधते' इत्युक्तत्वात् ॥

युष्मानञ्चति युष्मद्र्यङ् । अस्मानञ्चति अस्मद्र्यङ् । सर्वत्रात्र णौ **युष्मद्राययति अस्मद्राययतीति** भवतः । एवं त्वामतिक्रान्तं अतिक्रान्तौ अतित्वां अतिक्रान्तान् अतित्वान् । एवं

अतिमां अतिमान् । एषु कर्मसूपपदेषु अञ्चेः क्विपि अतित्वदङ् अतिमदङ् । अत्र टिलोपे जाते **अतित्वादयति अतिमादयति** इति भवतः । युवामतिक्रान्तं अतिक्रान्तौ वा अतियुवां अतिक्रान्तान् अतियुवान् एवं अत्यावां अत्यावान् । एषु कर्मसूपपदेषु क्वौ अतियुष्मदङ् अत्यस्मदङ् । युष्मदस्मदोः द्व्यर्थत्वेऽपि 'अन्तरङ्गानपि विधीन् बहिरङ्गो लुग्बाधते' इति पूर्वमेव विभक्तेर्लुका लुप्तत्वात् विभक्तिपरत्वाभावात् न युवावौ । नाप्युत्तरपदनिबन्धनौ त्वमौ । एकार्थत्वाभावात् । अत एव युष्मानतिक्रान्तः अस्मानतिक्रान्तो वा अतियुष्माम्, अतिक्रान्तान् अतियुष्मान् । एवमत्यस्मां अत्यस्मान् इत्यनयोरपि कर्मणोः अञ्चतावप्रत्यये उत्तरपदे त्वमयोरभावात् **अतियुष्मदञ् अत्यस्मदञ्** इति भवतः । सर्वत्रात्र णावञ्चतेष्टिलोपे एकार्थत्वाभावादेव प्रत्ययनिबन्धनावपि त्वमौ न भवतः इति **अतियुष्मादयति अत्यस्मादयतीति** भवतः । सर्वत्र **अतित्वादयतीत्यादौ** युष्मदस्मदोरुपसर्जनत्वात् 'संज्ञोपसर्जनप्रतिषेधः' इति सर्वनामत्वाभावात् अद्व्यादेशो न प्रदर्शितः ॥

कमाचष्टे **क्रापयति** । **अचीकपत्** । 'प्रकृत्यैकाच्' इति प्रकृतिभावात् टिलोपाभावे वृद्धौ पुगागमः । अमाचष्टे **आपयति** । चङि तु मा भवानोणिणत् इत्यत्र नित्यत्वात् द्वितीयस्यैकाचो द्विर्वचने ओकारस्य अनुपधात्वादेव णौ चङि ह्रस्वाभावसिद्धेः ऋदित्करणेन 'नाग्लोपि' इत्यादिना ह्रस्वनिषेधात् द्वितीयद्विर्वचनात् पूर्वं उपधाह्रस्वस्य ज्ञापनात् । कृते च तस्मिन् 'द्विर्वचनेऽचि' इति णिलोपस्य स्थानिवत्त्वेन अजादित्वात् पिश-

ब्दस्य द्विर्वचने मा भवानविपत् इति भवति। इमाचष्टे **आययति**। उमाचष्टे **आवयति**। अरमाचष्टे **आरयति**। अलमाचष्टे **आलयति**। ऋकारऌकारयोः सावर्ण्यात् तयोः 'उरण्रपरः' इति रप्रत्याहारपरा तयोः वृद्धिः। एषां णौ **च**ङ्युपधाह्रस्वे ततो द्वितीयस्यैकाचो द्विर्वचने **मा भवानयियत्**। **मा भवानविवत्**। **मा भवानरीरत्**। **मा भवानलीलत्** इति तत्र भवति। अत्र णौ कृतं स्थानिवत् इति न वृद्ध्यादेर्द्विर्वचने स्थानिवत्त्वम्। यदयं स्थानिवद्भावः स्थानिरूपस्य द्विर्वचने कर्तव्ये भवति। इह तु स्थानिवद्भावे णेरेव द्विर्वचनम्॥

पुनातीति पूः। लुनातीति लूः। भवतीति भूः। जवतीति जूः। एभ्यो णौ **पावयति**। **लावयति**। **भावयति**। **जावयति**। लुङि 'णौ चङि' इति ह्रस्वत्वे 'णौ कृतं स्थानिवत्' इति पूप्रभृतीनां द्विर्वचने पुनरुत्तरखण्डस्य वृद्ध्यावयोः ह्रस्वत्वे चाभ्यासस्य ह्रस्वत्वं तस्यावर्णपराः पुयण्जः परा इति सन्वद्भावे 'ओः पुयण्जि' इति सनि विधीयमाने इत्वे दीर्घे च **अपीपवत्**। **अलीलवत्**। **अजीजवत्** इति भवति।

नन्वत्र पूप्रभृतीनां द्विर्वचने पुनरुत्तरखण्डस्य वृद्ध्यावह्रस्वत्वानीति प्वादेरभ्यासस्य अनादिष्टादचः पूर्वत्वात्सन्वद्भावेन पुयण्जिलक्षणे सन्वदित्वे प्राप्ते 'णौ चङि' इति ह्रस्वस्य 'अचः परस्मिन्' इति स्थानिवत्त्वेनालघुपरत्वात् कथमित्त्वम्। नैष दोषः। 'ओः पुयण्जि' इति इत्त्वस्य सन्वद्भावेन चङ्यतिदेशानर्थक्यप्रसङ्गात् स्थानिवद्भावस्यात्राप्रवृत्तेः। इदमेव 'ओः पुयण्जि' इति वचनं ज्ञापकं णौ कृतस्य स्थानिवत्त्वे। अन्यथा न क-

चिदपि पुयणजि पर उवर्णान्तोभ्यासः सम्भवति । नन्वत्रास्ति सम्भवः पिपविषते यियविषतीति पवतेर्यौतेश्च 'स्मिपूङ्रञ्ज्वशां सनि' 'सनीवन्तर्ध' इतीटि गुणावौ तयोः 'द्विर्वचनेऽचि' इति स्थानिवद्भावेन पूयूशब्दौ द्विरुच्येते । इदमपि पु इत्युदिद्ग्रहणं यणिति प्रत्याहारग्रहणं जिग्रहणं च णौ कृतस्य स्थानिवत्त्वाभावे अनर्थकमेव स्यादिति ज्ञापकमेव । यद्येवं अचिकीर्तत् इति 'उपधायाश्च' इतिऋकारस्येत्त्वं णौ कृतं इति स्थानिवत्त्वाभावात ऋकारवत एवैकाचो द्विर्वचने अभ्यासस्य उरदत्वे अचकीर्तत् इति प्राप्नोति । नैतदस्ति । यत इदं ज्ञापकं यथाजातीयकाः पुयण्जः तथाजातीयकानामेवेति इह न प्रवर्तते । कथंजातीयकाः पुयण्जः अवर्णवदुत्तरखण्डाः । स्पष्टं चैतदेवं उरदित्यत्र रक्षितपदमञ्जर्यादिषु । 'द्विर्वचनेऽचि' इत्यत्र भाष्ये चैवमेव स्थितम् ॥

यत्तु स्तौतिण्योरेवेत्यत्र न्यासे सिषेचयिषति इत्यत्र सिचेर्हेतुमण्णौ कृते गुणे सनि गुणायादेशयोः उत्तरखण्डस्य अवर्णपरत्वाभावेऽपि अस्याः परिभाषायाः सामान्याश्रयेण सिच्शब्दस्य द्विर्वचनकथनं तदेवमप्यत्र रूपाभेद इत्येतावन्मात्रतया न तु सिद्धान्तस्थित्या । अन्यथा पूर्वोक्तन्यायेन भाष्यादिविरोधस्स्यात् । एवं च सीरदेवेन यदस्याः परिभाषायाः विशेषविषयतामुक्त्वा पूर्वोक्तन्यासप्रामाण्यात् पूर्वत्रासिद्धमित्यत्र वृत्तौ उत्तरखण्डस्यावर्णाभावेऽपि स्थानिवत्त्वाश्रयणात् औजिढत् इति द्विर्वचनोक्तेः 'लोपः पिबतेरीच्चाभ्यासस्य' इत्यत्र अपीप्यत् इत्युदाहरणे णौ कृतस्योपधालोपस्य स्थानिवत्त्वेन पाशब्दस्य द्विर्वचनाच्च यत्पूर्वत्रा-

सिद्धं इत्यत्र वृत्तौ उत्तरखण्डस्य अवर्णपरत्वाभावेऽपि सामान्यविषयत्वकथनं तदपि प्रत्युक्तम् ॥

कथं तर्हि औजढत् अपीप्यत् इति यद्द्विर्वचनोत्तरकालमपि टिलोपेन लोपःपिबतेरित्यनेन च उत्तरखण्डे अवर्णापहारस्य अवश्यं भावित्वात् प्रयोगगतमवर्णं न पश्याम इति णौकृतपरिभाषानुपस्थानात् अनच्कत्वात् द्विर्वचनमेव न स्यात् । उच्यते। यद्यपि प्रयोगे अवर्णवन्तमुत्तरखण्डं न पश्यामः । प्रक्रियायां तु पश्याम एवेति द्विर्वचनोत्तरकालं प्रवर्तमानेनावर्णापहारेण न कश्चिद्दोषः । एवं चैतदर्थं अवर्णोत्तरखण्डे परिभाषेयं नित्या अन्यत्र क्वचित्प्रवर्तत इति व्यवस्थाशून्यं सीरदेववचनं नाश्रयणीयं भवति । कथं तर्हि सिषेचयिषतीति यदिह द्विर्वचने उत्तरखण्डमवर्णं न भवतीति णौ कृतस्य गुणस्य स्थानिवत्त्वं न स्यात् । मास्तु सगुणस्य द्विर्वचने अभ्यासह्रस्वत्वे च रूपं सिध्यति ॥

भ्रुवमाख्यत् **अबुभ्रवत्** इत्यत्र योऽवर्णपरो यण् नासावभ्यासात्परः यश्च परः पवर्गः नासौ अवर्णपरः इति इत्त्वाभावः । **अशिश्रियत्** इत्यत्र अभ्यासस्येत्त्वं णौ कृतस्य स्थानिवत्त्वेन श्रीशब्दस्य द्विर्वचनात् ॥

हेशब्दमाख्यत् **अजीहयत्** । गामाख्यम् **अजूगवत्** । रायमाख्यत् **अरीरयत्** । नावमाख्यत **अनूनवत्** । अत्रापि णौ कृतपरिभाषया सन्ध्यक्षरस्य द्विर्वचने अभ्यासस्य ह्रस्वत्वे 'दीर्घो लघोः' इति दीर्घः । अत्रोपसर्गग्रहणं प्राद्युपलक्षणं । अन्यथा स्वश्वमाख्यत् स्वाशश्वयत् इत्यादिं न सिद्ध्यति[1] ॥

[1]स्वशिश्वयत् इत्यादि न सिद्ध्यति.

स्वराचष्टे **स्वयति**—'अव्ययानां भमात्रे' इति टिलोपः। 'प्रकृत्यैकाच्' इति प्रकृतिभावस्तु येननाप्राप्तिन्यायेन आनन्तर्याच्च टेरित्यस्यैव चङि टिलोपस्य स्थानिवत्त्वाभावात् स्विशब्दस्य द्विर्वचने **असिस्वत्** इत्येके। अन्ये तु—णौ कृतस्य टिलोपस्य स्थानिवत्त्वात्स्वरशब्दस्यैव द्विर्वचनं युक्तं इति **असस्वत्** इत्याहुः। अत्राभ्यासस्येत्वं पुनरुत्तरखण्डस्य टिलोपेन लघुपरत्वाभावान्न भवति। न च टिलोपात्पूर्वमेवास्ति लघुपरत्वमिति स्यात्। नित्यत्वात्तस्य। न च चङा[1] लघुपरत्वम्। तस्य निमित्तत्वेन ततोऽन्यस्य लघोस्तत्राश्रयणस्य स्थितत्वात्॥

बहुमाचष्टे **भावयति**। अत्र 'इष्ठस्य यिट् च' इतीष्ठनि विहितत्वात् बहोर्भूभावः। यिडागमस्तु णावित्युपमेये सप्तमीश्रवणात् इष्ठवदित्युपमानादपि सप्तम्यन्ताद्वतिरितीष्ठनि परे पूर्वस्य यत्कार्यं तदेवातिदिश्यते। न तु इष्ठनोपीति 'प्रातिपदिकस्य' इति वचनस्याप्रत्ययकार्याणां अतिदेशानिवृत्त्यर्थत्वाद्वा न भवति। 'टेः' इत्यत्र कैयटे भावयति इत्युदाहृत्य यिट्सन्नियोगशिष्टत्वाद्भूभावस्य यिडभावेऽस्याप्यभावात् बहयतीत्येकीयमतेनोपन्यस्तम्। पदमञ्जर्यां तु बहयतीति स्वपक्षमुक्त्वा भावयतीत्येकीयमतेनोक्तम्। अत्र शास्त्राणां कार्यार्थत्वात् कार्यस्यैव प्राधान्यात्तदेवातिदेष्टुं युक्तमितीष्ठवद्वचनमेव इष्ठनि परतः प्रकृतौ दृष्टं कार्यं णावपि विधत्त इति भूभावस्य सन्नियोगशिष्टत्वाभावात् **भावयतीत्येव** युक्तमिति वयमुत्पश्यामः। एवञ्च यदुक्तं पुरुषकारे बहयतीत्युदाहृत्येष्ठनि यत् फिषः कार्यं तण्णावप्यतिदि-

---

[1] णिचा.

श्यते । न चेष्ठनि यिट् नापि किषो भूभावश्च । यिङ्नियोगशिष्टत्वात् । तेन न्यासे भावयतीति चिन्त्या प्राप्तिरिति । तदेव चिन्त्यं भवति । चान्द्रकौमारशाकटायनेषु पुनः 'इष्ठनि युक' इति बहोरेव युक् विधीयते । तत्र मते अत्रापि भूयतीति भाव्यम् ॥

सूत्रवार्तिकभाष्येषु नायं पक्षः प्रदर्शितः ।
विरुद्धश्चेति तैरेव न वयं बहुमन्महे ॥

अस्त्येव हि विरोधोत्र पक्षे युक् प्रकृतेर्भवेत् ।
तेन णावपि तस्य स्यादतिदेशो युटः[1] पुनः ॥

प्रत्ययस्यैव शेषत्वान्नातिदेशो भवेद्यतः । टिलोपः ॥

यणादिपरलोपः—स्थूलदूरयुवह्रस्वक्षिप्रक्षुद्राणां यणादिपरं पूर्वस्य च गुणः । स्थूलादिभ्यः इष्ठेमेयस्सु परं यणादि लुप्यते । एतत्पूर्वस्य च गुणो भवतीत्येतण्णौ भवति । यणादीत्येतावत्युच्यमाने पुनः सर्वलोपादियदादिवत् प्रत्ययस्यैव श्रवणं स्यादिति परवचनम् । अत्र पूर्वस्य गुणवचनं स्थविष्ठ इत्यादावोर्गुणे यणादिपरलोपस्य 'असिद्धवदत्र' इत्यसिद्धत्वात् उवर्णान्तस्य भस्याभावात्तस्याप्रसङ्गः । क्षेपिष्ठ इत्यादौ उवर्णान्तस्य भस्यैवाभावाच्च । अत्र इक्परिभाषोपस्थानादन्त्यस्य गुणो न भवति । ह्रसिष्ठ इत्यादौ तु इकोऽभावान्नैव भवति । अत एवोक्तं वृत्तौ पूर्वग्रहणं विस्पष्टार्थमिति ॥

---

[1] युकः.

नन्वेतदिक्परिभाषाबाधेनानिकोप्यन्त्यगुणार्थं स्यात् । नैतत् । 'इको गुणवृद्धी' इत्यत्र भाष्यवार्तिकयोः 'इशिक्षिप्रक्षुद्रेष्विग्ग्रहणम्' इति इक एव गुणस्योक्तत्वात् **स्थवयति, दवयति, यवयति ह्रसयति क्षेपयति, क्षोदयतीति** । अत्र **स्थवयती**त्यादौ गुणस्य 'अचोञ्णिति' इति वृद्धिरङ्गवृत्त इति वा प्रातिपदिकाद्धात्वर्थे बहुलमिति बहुलग्रहणाद्वा न भवति । अत्र युवतिशब्दादपि इष्ठेयसुनोर्विहितयोः लिङ्गविशिष्टपरिभाषया यणादिपरलोपादेर्भावाण्णावपि यणादिपरलोपादौ **यवयती**त्येव रूपम् । यद्वा—अत्र इष्ठवद्भावात् पुंवत्त्वेन युवन्शब्दादेशे तस्य यणादिपरलोपे भविष्यति तदेव रूपम् । अत्र प्रक्रियारत्ने—बाहुलकात् दूरयतीत्यपि कौमाराश्विन्त्याः दवयतीति भाष्ये उदाहृतत्वेन तेषां यत्किंचित्प्रयोगमात्रमूलत्वस्यापि सम्भवाच्चेति । सुधाकरोपि—'शीकरव्यतिकरैर्मरीचिभिः दूरयत्यवनते विवस्वति' इति प्रयोगमुपादाय इष्ठवद्भावाद्दवयतीति भवितव्यमिति । यणादिपरलोपः ॥

'विन्मतोर्लुक्' स्रगस्यास्तीति स्रग्वी 'अस्मायामेधास्रजो विनिः' इति विनिर्मत्वर्थे । तथा गावोऽस्य सन्तीति मतुपि गोमान् । तत्र स्रजिष्ठो गविष्ठ इत्यादौ भवन्विन्मतोर्लुक् णावपि इष्ठवद्भावाद्भवति **स्रजयति गावयती**त्यादौ । तत्र कृते टेरिति प्रकृतेः यष्टिलोपः प्राप्तः सः 'प्रकृत्यैकाच्' इति प्रकृतिभावान्न स्यात् । तत्राजन्ते गवादिषु 'अचोञ्णिति' इति वृद्धिः । स्रगादिषु 'अत उपधायाः' इति 'अङ्गवृत्ते पुनर्वृत्तावविधिः' इति न भवतीति भाष्ये स्थितम् । चङ्यग्लोपित्वात् सन्वदित्त्वदीर्घत्वयोरभावात् **अससजत् अजुगवत्** इ-

त्यादि भवति । मायाविनमाचष्टे मेधाविनमाचष्टे वसुमन्तमाचष्टे इत्यादौ विन्मतोर्लुकि प्रकृतेरनेकाच्त्वाट्टिलोपे **माययति मेधयति वसयति*** इत्यादि भवति ॥ सकारान्तानामपि पयस्विनमाचष्टे यशस्विनमाचष्टे आयुष्मन्तमाचष्टे इत्यादौ णौ विन्मतोर्लुकि टिलोपे **पययति । यशयति । आययति** इत्यादि भवतीति 'प्रकृत्यैकाच्' इत्यत्र पदमञ्जर्यां स्थितम् । कैयटे तु तत्र—भाष्यकारेण इष्ठेयसुनोः विधीयमानोऽयं 'प्रकृत्यैकाच्' इति प्रकृतिभावः क्व भवतीति विचार्य विन्मतोर्लुगर्थमिति विन्मत्वन्तात् इष्ठेयसुनोः विन्मतोश्च लुकि स्रगिष्ठादौ स्रगादेष्टिलोपाभावार्थं इत्यभिधाय विन्मतोर्लुगयं नाप्राप्ते टिलोपे आरभ्यमाणस्तं बाधिष्यते । स एव हि टिलोपः कृतेऽपि विन्मतोर्लुकि स्रगादौ प्रवर्तते इत्युभयोः प्रकृतिप्रत्ययविषययोः टिलोपयोरेकत्वमङ्गीकृत्य विन्मतोर्लुगिव स्रगादिप्रकृतेष्टिलोपोऽपि बाध्यत इति कृत्वा प्रकृतिभावस्यानर्थक्यं प्रतिपाद्य तत्प्रतिपक्षत्वेन पयस्विच्छब्दादिष्ठनि विनश्च लुकि अनेन स्रगादाविव पयसष्टिलोपस्यापि बाधात् पयिष्ठ इति न प्राप्नोतीत्युक्त्वा 'यथा लक्षणमप्रयुक्ते' इत्यनभिधानान्न भवति टिलोपः । रजस्विनमाचष्टे **रजसयति** आयुष्मन्तमाचष्टे **आयुषयतीति** भवितव्यं—इत्युक्तम् ॥

नन्वत्र मते अन्येषामपि अनेन न्यायेन टिलोपो न स्यादिति कथं वृत्तावेकाज्ग्रहणस्य वसयतीति प्रत्युदाहृतम् । उच्यते । भाष्ये प्रकृत्यैकाच्, इदं प्रत्याख्यानमन्तरेणापि सूत्रं भिन्नविषयस्यापि टिलोपस्य शास्त्रद्वारैणैक्यमभ्युपेत्याभावः शक्यते वक्तुमित्येवंपरं न त्वर्थसत्तत्त्वमित्यवश्यं विन्मतोर्लुका भिन्नविषयस्य प्रकृतेः टिलोपस्य

*दृषद्वन्तमाचष्टे दृषदयति इत्यधिकं मुद्रितकोशे.

बाधासम्भवादेकाक्षु तद्बाधनार्थमारम्भणीयं एतत्सूत्रं इत्यनेकाक्षु टिलोपो भवत्येव । यत्तु पयिष्ठ इति न प्राप्नोति यथालक्षणमप्रयुक्त इति भाष्यमुपादाय न भवति टिलोप इति कैयटकारवचनं तत् भाष्ये पयस्विच्छब्दं प्रस्तुत्याभिधानात्कृतविन्मतुलुगन्तसान्तमात्रविषयं न त्वन्यविषयमपि । अत एव तत्रैव कैयटे ततश्च रजस्विनमाचष्टे **रजसयति** आयुष्मन्तमाचष्टे **आयुषयतीति** भवितव्यमिति कृतविन्मतुलुगन्तसान्तमेवोदाहृतम् । यत्तु माययतीत्यादौ इष्ठवद्भावेन विनो लुकि पुनस्तेनैव टिलोपे चिणोलुङ्न्यायेन विनो लुकः 'असिद्धवदत्र' इत्यासिद्धत्वात् टिलोपाप्रसङ्ग इति चोद्यं तट्टिलोपप्रकरणे तिराययतीत्यत्र परिहृतम् ॥

कुमुदान्यत्र सन्ति इति कुमुद्वान् देशः । एवं नड्वान् वेतस्वान् 'कुमुदनडवेतसेभ्यो ड्मतुप्' इत्यत्र चातुरर्थिको ड्मतुप् । अस्यानजादित्वेन भत्वाभावेऽपि डित्करणसामर्थ्याट्टिलोपे 'झयः' इति मकारस्य वकारः । अत्र टिलोपस्य 'पूर्वस्मादपि विधौ' इति स्थानिवत्त्वं 'पूर्वत्रासिद्धे न स्थानिवत्' इति न भवति । अत्र सुधाकरः—कुमुदादिभ्यो णौ विन्मतोर्लुगित्यत्र न केवलं मतुबेव गृह्यते किन्तु ड्मतुबिति तस्यापि लुकि **कुमुदयति नडयति वेतसयतीत्याह** । अन्ये तु 'एकानुबन्धग्रहणे न द्व्यनुबन्धकस्य' इति न्यायेन विन्मतोरित्यत्र द्व्यनुबन्धकस्य मतुप एव ग्रहणं युक्तं न त्र्यनुबन्धकस्य ड्मतुपोपि इति लुगभावाट्टिलोपे **कुमुद्वयति नड्वयति वेतस्वयतीत्येवं** भवितव्यमित्याहुः ॥

ननु ड्मतुपो लुकि कथं कुमुदयतीत्युदाहृतं यावता विन्मतोर्लुकि वसुमत्तरो वसिष्ठ इत्यादिवत् प्रकृतेष्टिलोपेन भाव्यम् । न चे-

ष्ठवद्भावेन प्राप्तत्वात् विन्मतोर्लुक आभीयत्वेन तेनैव पुनष्टिलोपे कर्तव्ये चिणोलुङ्न्यायेनासिद्धत्वम् । यस्मादिष्ठवद्भावेन प्राप्तानां कार्याणामुत्पत्तिदेश एव देशः तदपेक्षयैव सिद्ध्यसिद्धी इति टिलोपप्रकरणे तिराययतीत्यत्रोपपादितम् । न च ङ्मतुपि कृतस्य टिलोपस्य अस्मिष्टिलोपे असिद्धत्वं व्याश्रयत्वात् । एवं तर्हि ङ्मतुपि कृतस्य टिलोपस्य 'अचः परस्मिन्' इति स्थानिवत्त्वात् पुनर्ण्याश्रयोपि टिलोपो न भविष्यति । 'विन्मतोर्लुक्' ॥

'युवाल्पयोः कनन्यतरस्याम्' इतीष्ठियसुनोः विधीयमानः कनादेशो णावपि भवतीति युवानमल्पं वाऽऽचष्टे **कनयतीति** भवति । अन्यतरस्यां ग्रहणात् कनभावे **युवयति अल्पयतीति** भवतः । यूनोऽत्र यणादि परलोपादि । युवत्यादेरपि णौ लिङ्गविशिष्टपरिभाषया कनादेशे **कनयतीति** भवति । अङ्गवृत्तपरिभाषया बहुलग्रहणाद्वा उपधावृद्ध्यभावः कनः ॥

इष्ठवद्भावस्य पुंवद्भावरभावेत्यादिना यत्प्रयोजनकथनं तदुपलक्षणमिति यथासम्भवमन्यान्यपि प्रयोजनानि प्रदर्श्यन्ते । अन्तिकमाचष्टे **नेदयति** । बाढमाचष्टे **साधयति** । 'अन्तिकबाढयोर्नेदसाधौ' इतीष्ठनि विहितौ नेदसाधौ णावपि भवतः । प्रशस्यमाचष्टे **प्रशस्ययति** 'प्रशस्यस्य श्रः' 'ज्य च' इतीष्ठियसुनोः विधीयमानौ श्रज्यादेशौ अत्र न भवतः । सोपसर्गात्संग्रामयतेरेवेति ज्ञापकात् शस्यशब्दादेव णिच् न तु प्रशस्यशब्दादिति णिच्परत्वाभावात् यस्मादिष्ठनि परे सम्भाविते वा यत्कार्यं सम्भाव्यते तस्माण्णावपि तद्भवतीत्यवश्यमतिदेशार्थोऽभ्युपगन्तव्यः । अन्यथा अनवस्थाप्रसङ्गात् । सुधाकरस्तु—**श्रापयति ज्यापयतीति** श्रज्यावुदाजहार ।

एवं प्रक्रियारत्नकारोऽपि । पुक्तु मृग्यः । शाकटायनस्तु **श्रायति ज्यायति** इत्युदाजहार । स हि 'ञिणित्यस्याः' इति धातोरुपान्त्यस्यैवाकारस्याकारमाह न पुनरन्त्यस्यापीत्यत्राकारस्यैवाभावाद्दूरे पुकः प्रसङ्गः । अत्र मते स्रजयतीत्यादौ वृद्धेरभावः अङ्गवृत्तपरिभाषया बहुलग्रहणाद्वा न भवतीत्येवं नाभिधानीयो भवति । प्रस्थादींस्त्वाकारान्तानेव व्यधादिति प्रापयतीत्यादिसिद्धिः । सर्वमिदमनार्षत्वादप्रमाणमिति प्रक्रियारत्ने दूषितम् । अस्माभिस्तु श्रज्यादेशावेवात्र नाभ्युपगतौ ॥

वृद्धमाचष्टे **ज्यापयति**—'वृद्धस्य च' इतीष्ठेयसुनोर्विधीयमानो ज्यादेशो णावपि भवति । अकारोच्चारणसामर्थ्यात् 'प्रकृत्यैकाच्' इति लोपाभावे वृद्धौ पुक् । अयं च ज्यादेशः 'प्रियस्थिर' इत्यादिना वर्षादेशस्यापि विधानाद्विकल्पेन भवति ॥ प्रियस्थिरस्फिरोरुबहुलगुरुवृद्धतृप्रदीर्घबृन्दारकेभ्यः तदाचष्टे इति णौ 'प्रस्थस्फवर्बंहिगर्वर्षित्रप्द्राघिबृन्दाः' इतीष्ठेयसुनोः प्रियादीनां यथासङ्ख्यं विधीयमानाः प्रादयो णावपि भवन्तीति—प्रियस्य **प्रापयति** । स्थिरस्य **स्थापयति** । उरोर्**वरयति** । बहुलस्य **बंहयति** । गुरोर्**गरयति** । वृद्धस्य **वर्षयति** । तृप्रस्य **त्रपयति** । दीर्घस्य **द्राघयति** । बृन्दारकस्य **बृन्दयति** । प्रादीनामदन्तानां वृद्धौ पुक् । टिलोपस्तु 'प्रकृत्यैकाच्' इति प्रकृतिभावान्न भवति ॥

ननु प्रादीनां प्रकृतिभावे 'असिद्धवदत्र' इत्यसिद्धत्वात् एकाजेव नास्तीति प्रकृतिभावाभावात् स्यादेव टिलोपः । एवं तर्हि प्रादीनामसिद्धत्वादयमपि न भविष्यति ॥

ननु मा भूदेवमयं प्राद्याश्रयष्टिलोपः स्थानिवद्भावेन, प्रियाद्याश्रयस्तु प्राप्नोत्येव । नैतत् । प्रियादीनामिष्ठवद्भावेन प्राप्ताट्टिलोपात् परत्वादकृत एव तस्मिन् प्राद्यादेश इति स्थानिनि स एव[1] नास्ति टिलोप आदेशे योऽतिदिश्येत । **वरयतीत्यादौ** बहुलग्रहणात् अङ्गवृत्तपरिभाषया वा उपधावृद्धिर्न भवति । अत्र क्षीरस्वामी—बहुलग्रहणात् प्रादेशाभावात् **प्रिययतीत्य**पीति । मैत्रेयस्तु—स्थिरस्य स्थादेशे बहुलग्रहणात् वृद्धिपुकोरभावात् गुणायादेशयोः **स्थायतीति** । बहुलग्रहणात् **स्थिरयतीत्य**पीति कौमाराः । भाष्ये तु **प्रापयति स्थापयति** इत्येवोदाहृतत्वात् उद्भाव्यमेतत् सर्वमित्यनादरणीयम् ॥

व्याकरणस्य सूत्रं करोति **व्याकरणं सूत्रयति**—'तत्करोतीत्युपसङ्ख्यानं सूत्रयत्याद्यर्थम्' इति णिच् । 'प्रातिपदिकाद्धात्वर्थे' इत्येव सिद्धे वचनमिदं **माणवकं मुण्डयतीत्यादौ** माणवकादिसापेक्षान्मुण्डादेः णिजर्थं 'मुण्डमिश्र' इतिवत् व्याकरणादिसापेक्षात् सूत्रादेर्णिजर्थमारभ्यते । तत्र लक्ष्यलक्षणसमुदायस्य व्याकरणशब्दार्थत्वात् सूत्रस्य तदंशत्वेन व्यतिरेकाद्वाक्ये षष्ठी । यदाऽपि सूत्रमेव व्याकरणशब्दार्थः तदाऽपि व्याकृतिक्रियाकरणत्वविशिष्टं सूत्रं व्याकरणशब्दार्थः । सूत्रशब्दार्थस्तु केवलमिति राहोश्शिर इत्यादिवत् काल्पनिकस्य व्यतिरेकस्य सम्भवः । यदा त्वयं व्यतिरेको न विवक्ष्यते तदा व्याकरणं सूत्रं करोतीति विगृहीतव्यम् । अत्र वृत्तौ वर्तिपदार्थानामैकार्थ्येन विभागाभावात् अन्यान्वयायोगात् सूत्रस्य व्याकरणेन संबन्धानुपपादात् व्यतिरे-

---

[1]अ एव.

काभावात् व्याकरणात् षष्ठ्यभावः । अस्य च विशेषकर्मणः सामान्यकर्मणः सूत्रस्य प्रत्ययार्थेऽप्यनन्तर्भावात् करोतिना सम्बन्धाच्च भवति द्वितीया । उक्तं चैवं भाष्ये—वाक्ये षष्ठी । उत्पन्ने प्रत्यये द्वितीया । केनैतदेवं भवति । योसौ सूत्रव्याकरणयोरभिसम्बन्धस्य उत्पन्ने प्रत्यये निवर्तते । अस्ति च करोतेर्व्याकरणेन सामर्थ्यमिति द्वितीयेति । अत्र कैयटे—वाक्ये द्रव्यरूपं सूत्रं सूत्रशब्देनोच्यते । णिचि तूत्पन्ने सत्वभावान्निवर्तनात् करोत्यर्थाभिधायी सूत्रशब्दः संपद्यते । तदुक्तं परार्थाभिधानं वृत्तिरिति । एतच्च प्रक्रियागतविभागाश्रयेणोक्तम् । परमार्थतस्तु धात्वन्तरं सूत्रविशिष्टक्रियावचनमिति ॥

अथान्योपि णिच्प्रदर्श्यते—कंसस्य वधः कंसवधः । 'हनश्च वधः' इति वधादेशः । 'कर्तृकर्मणोः कृति' इति कंसात् कर्मणः षष्ठी । 'कृद्योगा च षष्ठी समस्यते' इति समासः । यद्वा—सर्पिषो जानीते । मातुः स्मरति इत्यादौ 'न माषाणामश्नीयात्' इत्यादाविव कारकस्य शेषत्वविवक्षायां षष्ठीसिद्धावपि 'ज्ञोऽविदर्थस्य करणे' 'अधीगर्थदयेशां कर्मणि' इत्यादौ कारकस्य शेषत्वविवक्षायामेव पुनः षष्ठीविधानं षष्ठी श्रूयत एव न लुप्यते इत्यर्थात् समासनिषेधार्थम् । अमुमेवार्थं 'प्रतिपदविधाना च षष्ठी न समस्यते' इत्याहेति तस्य 'कर्तृकर्मणोः कृति' इत्यत्र शेषाधिकाराभावादशेषत्वविवक्षायामेव कर्मणः षष्ठीविधौ अनुपस्थानात् 'कृद्योगा च' इति वचनं तदपवादो न भवति । किन्तु षष्ठी इति समासवचनस्य अनुवाद इति राजपुरुषादिवत् षष्ठीत्येव समासः । उक्तं च—

साधनैर्व्यपदिष्टे च श्रूयमाणक्रिये पुनः ।
प्रोक्ता प्रतिपदं षष्ठी समासस्य निवृत्तये ॥

इति । न चैवं मन्तव्यं प्रतिपदविधाना चेति वचनं ‘कर्तृकर्मणोः कृति’ इति षष्ठ्याः समासनिषेधार्थं स्यादिति । ‘यतः कृद्योगा च षष्ठी समस्यते’ इति तयैव समासोऽभिहितः ॥

कंसवधमाचष्टे **कंसं घातयति** ‘आख्यानात्कृतस्तदाचष्टे’ इति णिच् । आख्यायत इत्याख्यानं ‘कृत्यल्पुटो बहुलम्’ इति कर्मणि ल्युट्, तद्योगाच्छब्दोऽप्याख्यानम्, इहाख्यायमानमात्रं आख्यानशब्देनोच्यते न तु संज्ञाभूतं कंसवधबलिबन्धसुभद्राहरणादिकमेवेति राजागमनादेरपि अयं णिज्भवति । अत्र ‘कृद्ग्रहणे गतिकारकपूर्वस्यापि ग्रहणम्’ इति कंसवधादेराख्यानस्य कृदन्तत्वम् । अत्र कंसवध इति स्थिते ‘कृल्लुक्’ कृत्प्रत्ययस्य लुग्भवति । ‘प्रकृतिप्रत्यापत्तिः’ इति कृत्प्रकृतेर्धातोः प्रत्यापत्तिर्भवति । प्रत्यापत्तिश्चाविकारस्वरूपेणावस्थानमिति वधादेशनिवृत्तौ हनिरेवावतिष्ठते ॥

ननु प्रत्ययस्य सन्नियोगशिष्टोऽयं वधादेशः तस्य लुका निवृत्तौ स्वयमपि सन्नियोगशिष्टपरिभाषया निवर्तिष्यत एवेति किं प्रकृतिप्रत्यापत्तिवचनेनेति चेत् । सत्यम् । अत्रैवं सिद्ध्यति । तत्फलं त्वग्रे दर्शयिष्यते । तत्र कंसहनिति स्थिते ‘प्रकृतिवच्च कारकम्’ चकारो भिन्नक्रमः कारकमित्यस्यानन्तरं द्रष्टव्यः । कार्यशब्दोऽध्याहार्यः । षष्ठीसमर्थात् वतिः । प्रकृतिशब्देन हेतुमण्णिच् प्रकृतिरुच्यते । तदयमर्थो भवति । वधादेः कृदन्तस्य यत्कारकं कंसादिकं तस्य णिच्प्रकृतेः हन्त्यादेर्हेतुमण्णौ धातावनन्त-

भूतं अकृतनलोपादिकं द्वितीयान्तं यद्रूपं तादृशं भवति। 'हन-स्तोऽचिण्णलोः' 'होहन्तेर्ञ्णिन्नेषु' इत्यादिकं कार्यं हेतुमण्णिचः प्रकृतेरिवात्रापि णौ भवति। ततश्च कंसात् द्वितीयायां हनश्च तत्वघत्वयोः **कंसं घातयतीत्यादि** सिद्धं भवति॥ अनेन चातिदेशेन कारकस्य धातावनन्तर्भावस्यापि प्रतिपादनादर्थात्तद्व्यतिरिक्तात् वधा-देवायं णिजिति तदादेरेव धातुत्वात्तत एव तिङि तदाद्येव ति-ङन्तं पदं भवति। तथा कंसं घातयतीत्यादौ वधादेरेवाङ्गत्वात् अडागमः तस्मादेव पूर्वो भवति। एवं **कंसमजीघतत्** इत्यत्र हन एव चङ्परणिपरे द्विर्वचनं भवति॥

नन्वत्रान्तरेणापि कार्यातिदेशं वृद्धिरिवास्यैव णेर्णित्वमाश्रित्य 'होहन्तेः' इति घत्वं 'हनस्तः' इति तत्वं च भविष्यत इति किमनेनातिदेशेनेति चेन्न। 'धातोः स्वरूपग्रहणे तत्प्रत्यये कार्य-विज्ञानम्' इति यत्र धातोः स्वरूपोपादानेन किंचित्कार्यं विधीयते तत्र धातुनिबन्धनप्रत्यये तत्कार्यमिति विज्ञानात्। अस्य च णेः धातु-निमित्तत्वाभावात् **कंसपरिमृट्क्राम्यति** इत्यत्र मृजेर्वृद्धिरिवात्रापि तत्व-घत्वयोरप्रसङ्गात्। न चैवं मन्तव्यं—कंसपरिमृट्क्राम्यतीत्यत्र यदङ्गं कंसपरिमृडिति न तन्मृजिः यश्च मृजिर्नासावङ्गम्। मृजेर्वृद्धिश्च मृजे-रङ्गस्य विधीयते इत्यन्तरेणापि धातुस्वरूपपरिभाषां नास्त्येव वृद्धेः प्रसङ्ग इति। यतोऽङ्गाधिकारे तस्य च तदन्तस्यापि इति मृज्य-न्तस्यापि प्राप्नोत्येव। एवं बलिबन्धमाचष्टे बलिं बन्धयतीत्यादि॥

नन्वत्र कृल्लुकि सति कृतो लुका लुप्तत्वान् कृद्योगाभावात् न षष्ठी प्राप्नोति। प्रत्ययलक्षणं च लुका लुप्तत्वान्न भवति। अवस्थितं च हन्त्याद्यपेक्षया कर्मत्वमिति द्वितीयासिद्धेः किं प्रकृतिवत्का-

रकातिदेशेनेति चेत् । न; असत्यस्मिन्नतिदेशे कंसादेः पृथक्करणमेव न स्यादिति विभक्तेरेवाप्रसङ्गात् कुतस्स्याद्द्वितीया । किञ्च कंसवधशब्दादेव णिच् न तु निष्कृष्टकारकाद्वधादिति सकारकस्यैव तिङन्तत्वं स्यात् । तथा अडागमोपि कारकात्पूर्वमेव स्यात् । न तु कंसंघातयतीति हन्तेः । एवं 'चङि' इति द्विर्वचनमपि कंसादेरेव स्यात् न तु कंसमजीघतत् इत्यादौ हन्त्यादेः ॥

नैतानि सन्ति प्रयोजनानि । यदा प्रकृतिवत् कारकं इत्यनेन कृत्प्रकृतेः हन्त्यादेर्णौ दृष्टः कारकाणामनन्तर्भावोत्रापि णौ प्रतिपद्यते । तदा प्रकृतिवत् कार्यमित्यनेनापि कृत्प्रकृतेर्हन्त्यादेः शुद्धे णौ दृष्टस्य निष्कृष्टकारकप्रकृतित्वस्यात्राप्यतिदेष्टुं शक्यत्वान्निष्कृष्टकारकात् हन्त्यादेरेव स्यात् । प्रत्ययस्य या प्रकृतिः तदाद्येव तिङन्तं भविष्यति । अड्द्विर्वचने च तस्यैव भविष्यतः । सत्यं अत्रैव न दोषो भविष्यति । राज्ञ आगमनं राजागमनम् । 'कर्तृकर्मणोः कृति' इति कर्तरि षष्ठी । पूर्ववत् 'कृद्योगा च षष्ठी समस्यते' इति समासः । राजागमनमाचष्टे राजानमागमयतीत्यादौ राजादेर्द्वितीया न स्यात् । किन्तु कर्तृलक्षणा तृतीयैव स्यात् । यतः प्रकृतिवत् कारकमित्येतत् प्रकृतेः शुद्धे णौ दृष्टं कार्यमेवातिदिशेत् । न पुनरन्यदपि किंचित् । 'प्रकृतिवत्कार्यम्' इत्युच्यमाने तु गमने कर्तृभूतस्य राज्ञः कृत्प्रकृतेर्गमेः शुद्धे णौ 'गतिबुद्धि' इत्यादिना अस्ति कर्मत्वमित्यत्रापि णौ कर्मरूपातिदेशात् राजानमागमयतीति सिद्धं भवति । अत एव शुद्धे णौ दृष्टस्य कर्मरूपस्यात्रापि णावतिदेशाद्राज्ञो नलोपो भवति । न चैवं मन्तव्यं 'सुप्तिङन्तं पदम्' इति द्वितीयान्तस्यैव राज्ञः पदत्वादत्र नकारान्तस्य प्रातिपदिकान्तत्वेऽपि पदान्तत्वाभावान्नलोपो न भवतीति । यल्लुप्तयाऽन्तर्वर्तिन्या विभक्त्या प्रत्ययलक्षणेन तदन्तत्वे नान्तं भवत्येव

पदम् । न चास्ति 'न लुमता' इति प्रत्ययलक्षणाभावः । यदयं लुमता लुप्ते प्रत्यये यदङ्गं तस्य यत्कार्यं लुप्तप्रत्ययमाश्रित्य प्राप्नोति तत्रैवेतीह नावतरति । एवं च प्रकृतिवत्कारकवचनं कंसादेर्द्वितीयार्थं च भवति । यतः 'कर्तृकर्मणोः कृति' इति षष्ठी अङ्गस्य भवति । न ह्यङ्गं कर्म कर्तृ वा तत्परं सम्भवतीति 'न लुमता' इत्यस्य प्रवृत्तेः प्रत्ययलक्षणेन कृद्योगलक्षणा षष्ठी प्राप्नोति । तदेवं कंसादीनां कारकाणां णिजुत्पत्तौ पृथक्करणस्य सिद्धत्वात् 'आख्यानात्कृत' इत्याख्यानशब्दः अर्थात्स्वावयवकृदन्तपरो भवति ॥

मृगाणां रमणं मृगरमणम् । कर्तरि षष्ठ्याः पूर्ववत्समासः । मृगरमणमाचष्टे **मृगान् रमयति**—'दृश्यर्थायां च प्रवृत्तौ' इति णिच् अत्राख्यानात्कृत इत्यादि सर्वं सम्बध्यते । तदस्यायमर्थः—मृगरमणस्य येयमाख्यानरूपा प्रवृत्तिः सा यदि दृश्यर्था एतस्मिन्नवकाशे मृगा रमयन्ते इति प्रदर्शनार्था भवति तदा णिज्भवतीति । एवं च **मृगान् रमयतीत्यस्यायमर्थो** भवति, स्वयं मृगरमणमनुभवन् अन्यस्मै तद्दर्शयितुं आचष्ट इति । इदं च 'दृश्यर्थायां च' इति वचनं 'आख्यानात्कृतस्तदाचष्टे' इत्येवमाख्यानप्रवृत्तेः दृश्यर्थत्वेऽपि सिद्धे णिच्यारभ्यमाणमदृश्यर्थत्वे मा भूदित्येवमर्थम् । तेन यदारण्ये स्वयं दृष्टं मृगरमणं ग्रामस्थोऽन्यस्मा आचष्टे 'एवं मृगास्तत्रागत्य रमयन्ते' इति तदा मृगरमणमाचष्ट इति वाक्यमेव भवति । अत्र कैयटे—'दृश्यर्थायामित्येतच्च मृगरमणादिविषयमेव द्रष्टव्यम् । राजागमनादौ तु दृश्यर्थाभावेऽपि णिज्भवति' इति । अत्र रमणक्रियायां कर्तृभूतानां मृगाणां रमेरकर्मकत्वेन शुद्धे णौ 'गतिबुद्धि' इत्यादिना कर्मत्वादत्रापि णौ कर्मत्वम् ॥

रात्रेर्विवासो रात्रिविवासः विवासोतिक्रमणम् । कर्तरि षष्ठ्याः पूर्ववत्समासः । ततः 'आङ् मर्यादाभिविध्योः' इत्याङोऽव्ययीभावः । आरात्रिविवासमाचष्टे **रात्रिं विवासयति**। 'आह्लोपश्च कालात्यन्तसंयोगे मर्यादायाम्' इति णिचि मर्यादावचनस्याङो लोपः । इहाख्यानादिति न सम्बध्यत इति पदमञ्जर्याम् । कृल्लुगादि पूर्ववत् । इह कालस्यात्यन्तसंयोगः सन्निहितयाऽऽख्यान क्रिययाऽवयवेन सम्बद्धः । ततश्च **रात्रिं विवासयतीस्यायमर्थः**—यावद्रात्रेरतिक्रमणं तावत्कथाः कथयतीति । इहाख्यानं आख्येयमपेक्षत इति कथा इति । दर्शितवसिक्रियायां कर्तृभूताया रात्रेर्वसेरकर्मत्वेन शुद्धे णौ 'गतिबुद्धि' इत्यादिना कर्मत्वादत्रापि णौ कर्मत्वम् ॥

सूर्यस्योद्गमनं सूर्योद्गमनम् । अत्रापि पूर्ववत् कर्तरि षष्ठी समासश्च । विक्रमसिंहपुर्याः प्रस्थितः काञ्चीपुर्यां सूर्योद्गमनं सम्भावयते सूर्योद्गमनं प्राप्नोतीत्यर्थः । भू प्राप्तौ आत्मनेपदी चुरादौ। **सूर्यमुद्गमयति** । 'चित्रीकरणे प्रापि' इति कृदन्ताच्चित्रीकरणे गम्यमाने प्राप्नोत्यर्थाण्णिच् , कृल्लुगादि पूर्ववत् । अत्रोद्गमने कर्तुः सूर्यस्य पूर्ववद्गमेः शुद्धे णौ 'गतिबुद्धि' इत्यादिना कर्मत्वात् दृशेरपि णौ कर्मत्वम् । विक्रमसिंहपुर्याः काञ्चीपुरी दूरस्थेत्युदयात् पूर्वं तावतो देशस्य गमनमिहाश्चर्यकरणम् । इहाप्यसम्भवात् आख्यानादिति न सम्बध्यते । तत्र प्रकृतिवत्कारकातिदेशात् सूर्यस्य णौ पृथग्भावः, सोपसर्गात्संग्रामयतेरेवेति ज्ञापकादुदोपीति **सूर्यमुदगमयादित्यादि** भवति ॥

पुष्येण योगः पुष्ययोगः । अत्र यथा 'अन्तर्धौ येनादर्शन-

मिच्छति ' इत्यात्मनः कर्मणो नियमेन गम्यमानत्वाद्येनेति कर्तुः षष्ठी 'उभयप्राप्तौ ' इति नियमान्न भवति एवमत्रापि युजिक्रियाकर्मणश्चन्द्रमसो नियमेन गम्यत्वात्तद्योगे कर्तुः पुष्यात् षष्ठी भवति। पुष्यश्चात्र कर्ता, चन्द्रमाः कर्म, स हि तं युनक्ति । पुष्ययोगं जानाति **पुष्येण योजयति**—'नक्षत्रयोगे ज्ञि ' नक्षत्रयोगवाचिनः कृदन्तादस्मात् जानात्यर्थे णिचि कृल्लुगादि पूर्ववत्। अत्र प्रकृतिप्रत्यापत्तिवचनेन घञि कृते 'चजोः कु घिण्यतोः ' इति कुत्वं निवर्तत इति कैयटपदमञ्जर्यादिषूक्तम् । प्रकृतिवत्कारकमित्यनेन कृत्प्रकृतेः शुद्धे णौ यद्रूपं कारकं तद्रूपमत्रापि णावित्युक्तत्वाद्योगे कर्तुः पुष्यस्य गत्यादिष्वनन्तर्भावेन कर्मत्वाभावादत्रापि णौ न भवति कर्मत्वमित्यात्मनः कर्तृत्वाश्रयेण तृतीया भवति । न्यासे तु पुष्येण करणभूतेन चन्द्रमसो योग इति करणे तृतीयामुक्त्वा कृत्प्रकृतेर्युजेः शुद्धे णौ पुष्यस्य करणताविपर्यासाभावात्तत्र दृष्टमेवात्रापि णावतिदिश्यत इति तृतीयामुक्त्वा यदा पुष्येण सह योग इत्ययमर्थो विवक्ष्यते तदा कारकातिदेशस्यायं विषयो न भवति। पुष्यस्याकरणत्वात्सहार्थ एव[1] तृतीया वेदितव्येत्युक्तम् । अनयोः पक्षयोः पुष्येण करणभूतेन सह वा तेन चन्द्रमसाऽन्यस्यान्ययोगे इत्यर्थस्स्यात् । अत्र कैयटे—प्रकृतिवत्कारकमित्यनेन 'तेन तुल्यं क्रिया चेद्वतिः ' इति तृतीयार्थे वतिमङ्गीकृत्य णिचो या प्रकृतिः कंसवधादिराख्यानक्रियापेक्षया प्रतिपन्नकर्मभावः तया तुल्यं भवत्यप्रतिपन्नकर्मभावं कंसादिकमपीति कंसं घातयति राजानमागमयतीत्यादौ सर्वत्र कंसादेर्द्वितीया सामर्थ्यात् । तदनेनैव न्यायेन पुष्येण

---

[1]करणत्वादत एव.

योजयतीत्यत्रापि पुष्यस्य कर्मत्वात् द्वितीया स्यादित्याशङ्क्य वत्क-रणात् स्वाश्रयस्य कर्तृत्वस्यानिवर्तनात् तृतीयासिद्धिमुक्त्वैवमुक्तम्—अथवा प्रकृत्या तुल्यं वर्तते इति प्रकृतिवत्प्रकृतेरिव प्रकृतिव-ण्ण्यन्तस्य कारकमित्युभयथातिदेशाश्रयणात् क्वचित्किंचित्परिगृह्यत इति ॥

अथान्योपि प्रातिपदिकाश्रयः प्रदर्श्यते । 'आचारेऽवगल्भक्ली-बहोडेभ्यः क्विब्वा वक्तव्यः' । 'कर्तुः क्यङ् सलोपश्च' इत्यत्रायं पठ्यत इति उपमानात्सन्निहिताचारक्रियायाः कर्तुः प्रातिपदिका-दाचारेऽर्थेऽयं क्विप् वा भवति । अत्र वाग्रहणं तक्रकौण्डिन्यन्या-येन कौटिल्ययङा क्रियासमभिहारयङ इवावगल्भादिप्रातिपदिकवि-षयेणानेन क्विपा सुबन्तविषयस्यापि क्यङो बाधो मा विज्ञायीति। न-न्विदं गल्भाद्यनुकरणं 'कर्तुः क्यङ्' इत्यत्र सुबन्ताधिकारे क्रियते। क्यङपवादश्चायं क्विप् । उत्सर्गसमानदेशत्वं चापवादानां प्राचुर्येण दृष्टमिति सुबन्तादेवानेन क्विपा भवितव्यम् । न चैतदस्ति । यद्गल्भा-दीननुक्रम्य 'सर्वप्रातिपदिकेभ्यः' इत्येक इत्याह । न चेदं प्रा-तिपदिकग्रहणं सुबन्तोपलक्षणार्थं स्यात् । तर्हि सर्वेभ्य इत्येक इत्येव वक्तव्यत्वात् प्रातिपदिकग्रहणमनर्थकं स्यात् । यत्तु तदुक्तं गल्भादौ वाग्रहणं तदिदानीं न वक्तव्यं भवति । यतः* सर्वेभ्यः क्विप् विधीयते क्यङित्यन्तरेणापि वाग्रहणं वचनद्वयप्रामाण्याद्विकल्पो भविष्यति ॥

यद्येवं गल्भादयो नानुक्रमणीया इति न मन्तव्यम् । यदेषामनुदात्ते-त्वप्रतिज्ञानार्थमेवानुक्रमणम् । इदं चानुदात्तत्वप्रतिज्ञानं क्विप्सन्नियो-

*इतः.

गत इति अवगल्भ इवाचरति अवगल्भायते इत्यादौ वाक्ये क्यङि चाकारस्य श्रवणं भवति । अवगल्भ इवाचरति **अवगल्भते । अवगल्भाञ्चक्रे । अवगल्भिता । अवगल्भिष्यते । अवगल्भताम् । अवागल्भत । अवगल्भेत । अवगल्भिषीष्ट । अवागल्भिष्ट । अवागल्भिष्यत** । अनुदात्तेत्वात्तङ् । सोपसर्गात्संग्रामयतेरेवेति ज्ञापकान्निष्कृष्टोपसर्गाद्गल्भादेव प्रत्यय इति गल्भस्यैवाडागमो भवति । तथाऽवागल्भ्येत्यत्र अवशब्दस्य 'कुगतिप्रादयः' इति समासे तल्लक्षणो ल्यब्भवति ॥

क्लीबते । क्लीबाञ्चक्रे । होडते । होडाञ्चक्रे । इत्यादौ 'कास्प्रत्ययादाम्' इत्याम्प्रत्यये 'आमः' इति लेर्लुक् ॥

ननु तत्र प्रत्ययग्रहणमपनीय 'कास्यनेकाच इति वक्तव्यं चुलुम्पाद्यर्थं' इत्युच्यते । एते अवगल्भादय एकाच इति कथमाम् स्यात् । नैष दोषः । यद्यपि क्विप्सन्नियोगेनैकाचो भवन्ति तथाऽप्युपदेशेऽनेकाचो भवन्ति । कास्यनेकाच इत्यत्र च भूतपूर्वगतिराश्रयिष्यते । इदमेव क्विब्विधानं भूतपूर्वगत्याश्रयणे प्रमाणम् । अन्यथा गल्भ धार्ष्ट्ये, क्लीबृ अधार्ष्ट्ये, होडृ अनादरे इत्येतेभ्यो अनुदात्तेभ्यः अवगल्भते इत्यादिसिद्धेः किमनेन क्विब्विधानेन । अत एव धातूनामनेकार्थत्वात् आचारार्थश्च भविष्यति ॥

अश्व इवाचरति **अश्वति**—प्रातिपदिकात् प्रत्ययविधानात् शप्प्रकृत्यकारयोः अपदान्ताश्रयं 'अतो गुणे' इति पररूपत्वं भवति । अन्यथा अन्तर्वर्तिन्या विभक्त्या पदत्वात्पररूपत्वं न स्यात् । **अश्वाञ्चकार । अश्विता । अश्विष्यति । अश्वतु । आश्वत् । अ-**

श्वेत् । **अश्व्यात्** । **आश्वीत्** । **आश्विष्यत्** । अतो लोप आर्धधातुके ॥

क इवाचरति **कति** । **चक** । **चकतुः** इत्यादि अतोलोपस्सर्वत्र । अयं च ण्यल्लोपेत्यादिना वृद्धिं बाधते । अ इवाचरति **अति** । लिटि—**औ** । **अतुः** । **उः** । इत्यादि । सर्वत्रात्र द्विर्वचने अतोलोपादन्तरङ्गत्वात् अतो गुणे पररूपत्वे तस्याङ्गग्रहणेन प्राप्तादतो लोपात् परत्वादभ्यासग्रहणेन ग्रहणात् 'अत आदेः' इति दीर्घः । 'आतो लोप इटि च' इत्याल्लोपः किति । णलि तु 'आत औ णलः' इत्यौत्वे वृद्धिः ॥

यथाकथं चित् प्रातिपदिकग्रहणे लिङ्गविशिष्टं गृह्यत इति स्थितत्वात् मालेवाचरति **मालाति** । **मालाञ्चकार** । **मालिता** । **मालिष्यति** । **मालातु** । **अमालात्** । **मालायात्** । **मालायास्ताम्** । **अमालासीत्** । 'यमरमनमातां सगिटौ' इतीटि क्ङित्यजादावार्धधातुके 'आतो लोप इटि च' इत्याकारलोपः । ज्ञेवाचरति **ज्ञाति** । **जज्ञौ** इत्यादि पूर्ववत् । प्रत्ययान्तत्वेऽप्येकाच्त्वादामभावः । आ इवाचरति **आति** इत्यादि ॥

कविरिवाचरति **कवयति** । **कवयाञ्चकार** । **कवयिता** इत्यादि । आशीर्लिङि 'अकृत्सार्वधातुकयोर्दीर्घः' इति दीर्घे—**कवीयात्** । लुङ्यन्तरङ्गमपि गुणं सिचि वृद्धिरपवादत्वाद्बाधते इति वृद्धावायादेशे च—**अकवायीत्** ॥

विरिवाचरति **वयति** इत्यादि । पूर्ववल्लिटि प्रत्ययान्तत्वेऽपि एकाच्त्वादामभावे—**विवाय** । **विव्यतुः** । **विव्युः** । **विवयिथ** । **विव्यथुः** । **विव्य** । **विवाय** । **विवय** । **विव्यिव** । **विव्यिम** । णिति वृद्धिः । पिति गुणः । किति 'एरनेकाचः' इति यणादेशः ॥

इरिवाचरति **अयति** इत्यादि । लिटि एकाच्त्वादामभावः **इयाय** । **ईयतुः** । **ईयुः** । **इययिथ** । **ईयथुः** । **ईय** । **इयाय, इयय** । **ईयिव** । **ईयिम** । अत्र किति[1]सवर्णदीर्घे 'अचि श्नुधातु' इतीयङ् । यद्वा—सवर्णदीर्घत्वात् परत्वेनोत्तरखण्डस्य 'एरनेकाचः' इति यण्यपि नास्त्यत्र रूपभेदः गुणवृद्धिविषये अयायोः 'द्विर्वचनेऽचि' इति स्थानिवत्त्वादेकारस्यैकारस्य च द्विर्वचने अभ्यासह्रस्वत्वे 'अभ्यासस्यासवर्णे' इतीयङ् । यदाऽपि गुणवृद्ध्योरपि स्थानिवद्भावादिकारस्य द्विर्वचनं तदाऽपि सवर्णदीर्घात् परत्वात्पुनरुत्तरखण्डस्य गुणादावस्त्येवाभ्यासस्यावर्णपरत्वमिति इयङ्सिद्धिः । न च पुनः प्रवर्तमानाभ्यां गुणवृद्धिभ्यामन्तरङ्गत्वात् सवर्णदीर्घेन भाव्यमिति मन्तव्यम् । एवं हि 'अभ्यासस्यासवर्णे' इतीयङ्वचनमनर्थकं स्यात् । नन्वयमस्त्यवकाशः अर्तेर्लिटि द्विर्वचने अभ्यासस्य 'अर्तिपिपर्त्योश्च' इतीत्वे **इयर्ति** । **इयृतः** इत्यादि भवति । नैतदस्ति । न ह्येकमुदाहरणं योगारम्भं प्रयोजयति । इयति हि प्रयोजने 'अभ्यासस्यार्तौ' इत्येव ब्रूयात् । इषेः **इयेष** । ओणेः **उवोण** इत्यादि तु न प्रयोजनम् । यतोऽयं छान्दसः, भाषायां त्वामा भवितव्यम् । छन्दसि च 'तन्वादीनां छन्दस्युपसङ्ख्यानम्' इति 'त्रियम्बकम्'[2] 'सुवर्गः'[3] इत्यादिवत् इयङुवङौ सेत्स्यतः ॥

लक्ष्मीरिवाचरति **लक्ष्मयति** । **लक्ष्मयाञ्चकार** । **लक्ष्मयिता** इत्यादि । श्रीरिवाचरति **श्रयति** । **शिश्राय** । **शिश्रियतुः** । **शिश्रियुः** । 'एरनेकाचः' इति यणादेशः संयोगपूर्वत्वान्न भवति । 'अचि श्नुधातु' इतीयङेव भवति । ईरिवाचरति **अयतीत्यादि** । लिटि पुनः 'इजादेश्च गुरुमतोऽनृच्छः' इति आमि—**अयांचकार** इति भवति । तत्र व्यपदेशिवद्भावेन इजादित्वगुरुमत्त्वे समाश्रिते ।

---

[1] अकित्सु. [2] तै. सं. १-८-३. [3] तै. ब्रा. ३-२-१.

विधुरिवाचरति **विधवति** । **विधवांचकार** । **विधविता** । **विधविष्यति** । **विधवतु** । **अविधवत्** । **विधवेत्** । आशिषि 'अकृत्सार्वधातुकयोः' इति दीर्घे—**विधूयात्** । **अविधावीत्**—गुणं सिचि वृद्धिरपवादत्वाद्बाधते । कुरिवाचरति **कवति** । **चुकाव** इत्यादि, एकाच्त्वादामभावः । उरिवाचरति **अवति** इत्यादि । पूर्ववल्लिटि गुणवृद्धिविषये अवावोः स्थानिवत्त्वादोकारस्य च द्विर्वचने अभ्यासह्रस्वत्वे । 'अभ्यासस्यासवर्णे' इत्युवङि—**उवाव** । **उवविथ** । **उवाव** इति भवति । यदाऽपि गुणवृद्ध्योरपि स्थानिवद्भावादुकारस्य द्विर्वचनं तदाऽपि 'अभ्यासस्यासवर्णे' इत्युवङ्विधानसामर्थ्यात् सवर्णदीर्घात् पूर्वमुत्तरखण्डस्य गुणादिर्भवतीत्यसवर्णपरत्वादुवङ्सिद्धिः । सामर्थ्यं च इयायेत्यत्र उपपादितम् । किद्वचनेष्वन्तरङ्गत्वात्सवर्णदीर्घे पश्चादुवङ् **उवतुः** । **उवथुः** । **उव** । **उविव** । **उविम** इति भवति । अत्र 'वार्णादाङ्गं बलीयः' इति सवर्णदीर्घात् पूर्वमुत्तरखण्डस्योवङि पश्चात्कृते तस्मिन्नूवतुरित्यादि स्यादिति न मन्तव्यम् । यत इयं परिभाषा आङ्गवार्णयोः समानाश्रयत्वे प्रवर्तते यथा कारक इति । अत्र हि प्रत्ययमेवाश्रित्य गुणवृद्धी प्राप्नुतः । उवतुरित्यत्र उकारमाश्रित्य सवर्णदीर्घः प्राप्नोति । उवङ् तु प्रत्ययमाश्रित्येति नास्ति समानाश्रयत्वम् ॥

वधूरिवाचरति **वधवति** । **वधवांचकार** । **वधविता** इत्यादि ॥ भ्रूरिवाचरति **भ्रवति** । **बुभ्राव** । **बुभ्रुवतुरित्यादि** । 'अचि श्नुधातुभ्रुवाम्' इत्युवङादेशः । अयं च वृद्धिगुणयोर्विषये ताभ्यां परत्वात् बाध्यते । उरिवाचरति **अवति** इत्यादि । लिटि 'इजादेश्च' इति । आमि—**अवांचकार** इति भवति । पितेवा-

चरति **पितरति । पित्रांचकार । पितरिता । पितरिष्यति । पितरतु । अपितरत् । पितरेत् । पित्रियात्**—'रिङ् शयग्लिङ्क्षु' इति रिङादेशः । **अपितारीत्**—अन्तरङ्गमपि गुणं सिचि वृद्धिर्वचनाद्बाधते इत्युक्तम् । यद्वाऽत्र गुणेऽपि न दोषः । यत्कृते अस्मिन् 'अतो ल्रान्तस्य' इति पुनर्वृद्धिर्भविष्यति ॥

नेवाचरति **नरति । ननार** इत्यादि पूर्ववत् । आ इवाचरति **अरति**—'पाघ्रा' इत्यादौ अर्तिग्रहणेन

> अभिव्यक्तपदार्था ये स्वतन्त्रा लोकविश्रुताः ।
> शास्त्रार्थस्तेषु कर्तव्यः शब्देषु न तदुक्तिषु ॥

इति रीत्या दृश्यादिसाहचर्याच्च धातुपाठस्थ एवार्तिर्गृह्यते, न पुनरयमपीति ऋच्छादेशाभावः । अत एव तत्र पदमञ्जर्यादौ 'ऋ गतिप्रापणयोः इति भौवादिकः । ऋ गतौ इति क्रैयादिकः । ऋ सृ गतौ इति जौहोत्यादिकः' इति त्रीनेवोपादायान्त्ययोरग्रहणे कारणं शिदसम्भवः साहचर्यं चोक्तम् । तथा 'समोगमृच्छि' इत्यत्र वृत्तौ 'अर्तीत्युभयत्र पठ्यते । सृ गतिप्रापणयोः इति भूवादौ । ऋ सृ गतौ इति जुहोत्यादौ । विशेषाभावादुभयोरपि ग्रहणम्' इति । यदि च नामधातोरिह ग्रहणमिष्येत कथमेवमुच्येत । एवमन्यत्रापि तत्रतत्र प्रतिपदविधानं धातुग्रहणेषु अभिव्यक्तपदार्थानां धातुपाठपठितानामेवोपादानं क्रियेत । 'बाह्वादिभ्यश्च' इत्यत्र भाष्यकैयटयोरपि "अनभिव्यक्तपदार्थानां तत्तत्कार्यं न भवतीति अद्यत्वे बाहोः 'बाह्वादिभ्यश्च' इतीञोऽभावात्सामान्येऽणि बाहव इति भवति । तथा संज्ञाश्वशुरस्य 'राजश्वशुराद्यत्'

इति यतोऽभावाददन्तलक्षणे इञि श्वाशुरिरित्येव । 'मातृपितृभ्यां स्वसा' इत्याभ्यां परस्य स्वसुर्विधीयमानं षत्वं क्रियाशब्दात् परस्य नेति धान्यमातुः स्वसेत्यत्र न भवति" इति । एवं चास्माद्दशब्दाल्लिटि 'ऋच्छत्यृताम्' इति किति लिटि विधीयमानो गुणो न भवति । तत्र धात्वभ्यासयोः सवर्णदीर्घे धातुग्रहणेन ग्रहणात् ऋकारान्तलक्षणे गुणे कृते **अररतुरित्यादि** भवतीत्येके । अन्ये तु अभ्यासग्रहणेन ग्रहणात् उरदत्वे हलादिशेषे 'अत आदेः' इति दीर्घे 'आतो लोपः' इत्याकारलोपे सति **अतुः** इत्यादि प्रत्ययमात्रमेवावशिष्टं भवतीति । एवं 'णिश्रिद्रुस्रुभ्यः' इत्यनभिव्यक्तपदार्थत्वेन आचारक्विबन्तस्य द्रोर्ग्रहणाभावात् चङभावात् सिचि **अद्रावीदित्यादि** भवति ॥

भूरिवाचरति **भवति** इत्यत्र 'गातिस्थाघुपाभूभ्यस्सिचः परस्मैपदेषु' 'भुवो वुग्लुङ्लिटोः' 'भवतेरः' इति विधीयमानसिज्लुग्वुगभ्यासात्त्वानामभावात्—**अभावीत्** । **अभाविष्टाम्** । **अभाविषुः** । **बुभाव** इत्यादि एव भवति ॥

पिबतेर्विचि पाः तस्याचारक्विबन्तस्य 'पाघ्रा' इत्यादौ 'गातिस्था' इत्यादौ चाग्रहणात् पिबादेशसिज्लुकोरभावात्—**पाति** । **अपासीत्** इति भवति । एवमन्यदप्युन्नेयम्[1] ॥

पॄरिवाचरति **परति** । **पपार** । **पपरतुः** । **पपरुः** इत्यादि । अयं पॄशब्दोऽनुकरणं धात्वन्तरं न पुनः क्र्यादौ जुहोत्यादौ वा पठ्यमान इति पाठाश्रयः श्ना श्लुश्च न भवति । किति लिटि 'ऋच्छ-

[1] नेयं प्रतिपदोक्तेषु.

त्यॄताम्' इति ऋकारान्तलक्षणो गुणः 'शॄदॄप्राम्' इति ह्रस्वविकल्पस्तु अनभिव्यक्तपदार्थत्वान्न भवति ॥

गम्ऌ इवाचरति **गमलयति** । **गमलांचकार** । प्रत्ययान्तत्वादामि ऋकारऌकारयोः सावर्ण्यात् 'उरण्रपरः' इति लपरो गुणः । ॠ इवाचरति **अरति** । **अरांचकार** । 'इजादेश्च गुरुमतः' इत्याम्प्रत्ययः । ॡ इवाचरति **अलति** पूर्ववद्गुणः लिटि द्विर्वचने ऌवर्णसवर्णदीर्घाभावात् उत्तरखण्डस्य यण्यभ्यासस्योरदत्त्वं लपरं—**आल** । **अलतुः** इत्यादि ॥

परमहेवाचरति **परमहयति** । **परमहयांचकार**[1] केवलात्त्वामभावात् **जिहाय** । लुङि सिचीटचयादेशे हलन्तलक्षणा वृद्धिः 'नेटि' इति निषिध्यते । 'अतो हलादेः' इति वृद्धिविकल्पोपि 'ह्मयन्तक्षण' इति यान्तत्वान्निषिद्धयत इति **अपरमहयीत्** इति भवति। एकार इवाचरति **अयति** । लिटीजादिलक्षणे आमि—**अयांचकार** इति भवति । लुङि आटि—**आयीत्** । अन्यदा पूर्ववद्धलन्तलक्षणाया वृद्धेः 'नेटि' इति निषेधात् मा भवानायीत् ॥

गौरिवाचरति **गवति** । **जुगाव** । **अगवीत्** । **अगावीत्**—'अतो हलादेः' इति वा वृद्धिः ॥

ओकारवदाचरति **अवति** । **अवांचकार** । लुङि हलन्तलक्षणाया वृद्धेः 'नेटि' इति निषेधात् **मा भवानवीत्** इति भवति ॥

परमरा इवाचरति **परमरायति** । **परमरायांचकार** । रायति । **रराय** । ऐकार इवाचरति **आयति** । **आयांचकार**॥

---

[1] परमाहेवाचरति परमाहयति परमाहयांचकार. . . . . . . .अपरमाहयीत्.

परमनौरिवाचरति **परमनावति** । **परमनावांचकार** । **नावति** । **नुनाव** । केवलादौकारात् **आवति** । **आवांचकार** । गोधुगिवाचरति **गोदुहति**[1] । य इवाचरति **ययति** । लिटचेकाच्त्वादामभावात्—**ययाय** । लुङि सिचि यान्तत्वात् वृद्ध्यभावात्—**अययात्**[2] ॥

द्यौरिवाचरति **देवति** । स्वरिवाचति **स्वरति** । फलतीति फल् फलिवाचरति **फलति** । अनयोर्लुङि 'अतो हलादेः' इति विकल्पापवादे 'अतो ल्रान्तस्य' इति नित्यं वृद्धौ—**अस्वारीत् अफालीत्** इति भवति । 'चरफलोश्च' इत्यत्र न्यासविस्तरयोः "फलेर्णौ क्विपि फाल्, अयमप्येकदेशविकृतन्यायेन गृह्यत इति यङ्यङ्लुकोरभ्यासस्य नुकि पंफाल्यते अपंफालीत्" इत्युक्तम्, तदेतत् 'उत्परस्यातः' इति तपरकरणं 'अतो हलादेः' इत्यादिवत् न केवलनिर्देशार्थं अपि तु सवर्णग्रहणनिवृत्त्यर्थमपीत्याश्रयणेन । अन्यथा प्रतिपदोपादानेषु अभिव्यक्तपदार्थानामिव भाष्यादौ ग्रहणस्य स्थितत्वान्नैतत् युज्यते ॥

इदमिवाचरति **इदामति**—'अनुनासिकस्य क्विझलोः' इति दीर्घः । अत्र झलादिक्विप् धातोरेव सम्भवतीति तत्साहचर्यात्क्विबपि धातुविहित एव गृह्यत इति नात्र क्वावयं दीर्घ इति केचित् । तन्न अस्य क्विपः ककारस्यात्र सामान्यग्रहणमन्तरेण प्रयोजनाभावात् । यङिवाचरति **याङति** । अणिवाचरति **आणति** । **राजानति** । **ज्ञति** । **ककुभति** । **अघति** । **पढति**[3] । **योधति** । **भि-**

---

[1] गोदोहति. [2] आयीत्. [3] पदति.

षजति । **शम्बति** । **अङ्गति** । **पण्डति** । **त्वदति** । **म-दति**—'प्रत्ययोत्तरपदयोश्च' इति त्वमौ ॥

युवामिवाचरति, आवामिवाचरति, यूयमिवाचरति वयमिवाचर-ति, **युष्मदति** । **अस्मदति** । युष्मदस्मदोरनेकार्थत्वात् न त्वमौ विभक्तिपरत्वाभावान्न युवावौ नापि यूयवयौ । त्वामतिक्रान्तः **अतित्वम्** । एवं **अत्यहम्** । क्वौ **अतित्वदति** । **अतिमद-ति** । 'प्रत्ययोत्तरपदयोः' इति त्वमौ । युष्मानतिक्रान्तः **अ-तित्वं अत्यहम्** । अत्र द्विवचनत्वे तदाश्रित्य युवावौ न भवतः पराभ्यां त्वमाभ्यां बाधात् । अत्र क्वावपि **अतित्वदति अतिमदति**। **मखति** । **कफति** । **तुच्छति** । **मठति** । **मन्थति** । **त्वचति**। **पटति** । **अन्तति** । **कङ्कति** । **अयति** । **वेशति** । **षष-ति** । **पयसति** । अत्र अप्रसिद्धा ये हलन्ताः तेषां कारिणौ टिलोपे क्वौ 'णेरनिटि' इति णेश्च लोपे तद्धलन्तत्वं द्रष्टव्यम् ॥

अथ एतत्क्विबन्ताद्धातोः 'क्विप्च' इति कर्तरि क्वौ किंचिदुच्यते । 'यूस्त्र्याख्यौ नदी' इतीकारन्तमूकारान्तं च शब्दरूपं स्त्र्याख्यं नदीसंज्ञकमित्युक्तम् । तत्र कुमार्यादेः एतत्क्विबन्तात्कर्तरि क्वौ कुमारी ब्राह्मण इत्यादौ स्त्र्याख्यत्वाभावात् नदीसंज्ञा न प्राप्नोति । तत्रोच्यते—'प्रथमलिङ्गग्रहणं च' इति क्विब्लुप्समासैः अन्यलि-ङ्गत्वेऽपि प्रथमलिङ्गाश्रया नदीसंज्ञा भवतीत्यर्थः । अत्राप्रकृतत्वा-ल्लुप्समासौ न प्रदर्श्येते । एवं च कुमारी ब्राह्मण इत्यादौ आ-चरतिवर्तमानस्य कुमार्यादेर्नदीसंज्ञायां हे कुमारि ब्राह्मण इ-त्यादौ 'अम्बार्थनद्योर्ह्रस्वः' इति ह्रस्वो भवति । कुमार्यै ब्रा-ह्मणायेत्यादौ ङिद्वचने च 'आण्नद्याः' इत्याडागमः 'ङेराम्नद्या-

म्रीभ्यः' इत्यामादेशः। कुमारीणां ब्राह्मणानां इत्यादौ 'ह्रस्वनद्या-पः' इति नुड्भवति। एवं 'हे ब्रह्मबन्धु ब्राह्मण ब्रह्मबन्धवे ब्राह्मणाय' इत्यादौ ह्रस्वादि द्रष्टव्यम्। नदीत्वादेव बहवः कुमार्यो ब्राह्मणा यस्मिन्बहुकुमारीको देश इत्यादौ 'नद्यृतश्च' इति कब्भवति। यत्पुनरिष्वशनिप्रभृतीनां ह्रस्वान्तानां स्त्र्याख्यानां श्री-भ्रूप्रभृतीनां इयङुवङ्स्थानानां च 'ङिति ह्रस्वश्च' इति नदीसं-ज्ञाविकल्पनं तदेषामाचारक्विबन्तानां (पुल्लिङ्गानां) 'प्रथमलिङ्गग्रहणं च' इति न भवति। तथा च वार्तिकम्—'ह्रस्वेयङुवङ्स्थानप्रवृत्तौ च'। अत्र भाष्यम्—ह्रस्वौ च इयङुवङ्स्थानौ च प्रवृत्तौ च प्राक् च प्रवृत्ते स्त्रीवचनावेव नदीसंज्ञौ भवत इति वक्तव्यमिति। प्रवृत्तिः क्विबादीनां, तेनार्थेन संक्रान्तिः। इषवे ब्राह्मणाय। अशनये ब्राह्मणाय। धेनवे ब्राह्मणाय। श्रिये ब्राह्मणाय। भ्रुवे ब्राह्मणायेत्यादौ नदी-संज्ञानिमित्तकार्यं न भवतीति। यत्तु स्त्रीवचनं तत्र इष्वै ब्रा-ह्मण्यै इषवे ब्राह्मण्यै। अशन्यै ब्राह्मण्यै अशनये ब्राह्मण्यै। धेन्वै ब्राह्मण्यै। धेनवे ब्राह्मण्यै। श्रियै ब्राह्मण्यै। श्रिये ब्राह्मण्यै। भ्रुवै ब्राह्मण्यै भ्रुवे ब्राह्मण्यै इत्यादौ पक्षे विसं-ज्ञानिबन्धनमपि भवति। यस्त्वपर आह—ह्रस्वौ चेयङुवङ्स्थानौ च प्रवृत्तौ च प्राक्प्रवृत्तेश्च स्त्रीवचन एव नदीसंज्ञौ भवत इति वक्तव्यमित्यत्र क्वचिद्भाष्यकोशेषु स्त्रीवचन एव नदीसंज्ञौ भवतः, इत्यकारप्रश्लेषेण पाठस्सोपपाठ इति कैयटे उक्तम्। एवं कुमारीमिच्छति कुमारीयतीत्यादौ क्वावल्लोपयलोपयोः कुमारी ब्राह्मण इत्यादौ ङिद्वचनेषु कुमार्यै ब्राह्मणायेत्यादिं द्रष्टव्यम्॥

इदमपरं क्वौ कार्यं विचार्यते—युष्मदस्मदोः युष्मानाचष्टे अ-

स्मानाचष्टे इति णौ टिलोपे णेश्च लोपे अनेकार्थत्वेन 'प्रत्ययोत्तरपदयोश्च' इति त्वमयोरभावात् युष्म् अस्म् इति मान्ते युष्मदस्मदी भवतः । तत्र तु कृदन्तत्वाद्विभक्तिषु एकदेशविकृतस्यानन्यत्वात् युष्मदस्मदाश्रयाः विभक्त्यादेशाः प्रकृत्यादेशाश्च त्वादयो भवन्तीत्येके । तन्मते 'यूयवयौ जसि' 'त्वाहौसौ' 'तुभ्यमह्यौ ङयि' 'तव ममौ ङसि' इति योगचतुष्टयविषयाः प्रकृतेर्यूयादयो भवन्ति । तथा 'युष्मदस्मद्भ्यां ङसोऽश्' 'ङेप्रथमयोरम्' 'शसो न' 'भ्यसो भ्यम्' 'पञ्चम्या अत्' 'एकवचनस्य च' 'साम आकम्' इति योगसप्तकविहिता विभक्त्यादेशाश्च भवन्ति । एवं 'युष्मदस्मदोरनादेशे' 'द्वितीयायां च' 'प्रथमायाश्च द्विवचने भाषायाम्' इत्यात्वं 'योचि' इति यत्वं 'शेषे लोपः' इत्यन्तलोपश्च यथायोगं भवति । अत्र 'युष्मदस्मदोरनादेशे' इत्यात्वम् । 'योचि' इत्यजादौ यत्वविधानं चापवादोऽवशिष्यते ॥

अथ रूपाणि—त्वम् । अहम् । युष्माम् । अस्माम् । विभक्तिपरत्वेऽपि युवावौ प्रकृत्योर्द्व्यर्थत्वाभावात् न भवतः । यूयम् । वयम् । युषाम् । असाम् । युष्मान । अस्मान् । युष्या । अस्या । युषाभ्याम् । असाभ्याम् । युषाभिः । असाभिः । तुभ्यम् । मह्यम् । युषाभ्याम् । असाभ्याम् । युषभ्यम् । असभ्यम् । 'भ्यसोऽभ्यम्' इति अभ्यमादेशपक्षे इदं रूपम् । अन्यदा शेषेलोपे पदकार्ये जश्त्वादौ युड्भ्यम् । अड्भ्यम्, इति भाव्यम् । युषत् । असत् । तव । मम । युष्योः । अस्योः । युषाकम् । असाकम् । युष्यि । अस्यि । युष्योः । अस्योः । युषासु । असासु ॥